# वेदाध्ययन प्रवेशिका

अर्थात्

गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर (हरिद्वार) में एकादश से चतुर्दश श्रेणियों
में पढ़ाए जाने वाले सभी वेद सूक्तों के तथा मेरठ एवं आगरा
विश्वविद्यालयों में एम० ए० की श्रेणी में पढ़ाए जाने वाले
समस्त वेद सूक्तों के भी अर्थ तुलनात्मक और लखनऊ
दिल्ली के विश्वविद्यालयों में पढ़ाए जाने वाले भी
उपयोगी वेद सूक्तों के स्वामी ब्रह्ममुनि
कृत अर्थ हैं।

•


रचयिता और प्रकाशक—

स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

गुरुकुल कांगड़ी



पुस्तक प्राप्ति स्थान—

सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा,

दयानन्द भवन; रामलीला मैदान,

नई दिल्ली-१

•

प्रथम संस्करण १००० | फाल्गुन २०२४ वि० मार्च १९६८ ई० | मूल्य : पांच रुपए

# विषय सूची

ओ३म्

# प्रस्तावना एवं निबन्ध

'महाविद्यालय ज्वालापुर' में एकादश श्रेणि से चतुर्दश श्रेणि तक वेदाध्यापन का अवसर मुझे हुआ। वहां अथर्ववेद, यजुर्वेद और ऋग्वेद के कुछ सूक्त एवं अध्याय पढाए। उन्हें तथा पुस्तक के उत्तर पार्श्व में मेरठ एवं आगरा विश्वविद्यालयों में एम. ए. की श्रेणि में पढाये जाने वाले समस्त अतिरिक्त सूक्तों का एवं लखनऊ दिल्ली विश्वविद्यालयों के एम. ए. में पढाए जाने अधिकांश उपयोगी सूक्तों के भी अर्थ छात्रों और स्वाध्यायी जनों के हितार्थ ग्रन्थरूप में निबद्ध कर प्रस्तुत कर रहा हूं!

इस युग में वेद को अपने मौलिक रूप में देखा तो केवल ऋषि दयानन्द ने देखा और पुरातन ऋषियों की परम्परा में देखा। वेद 'विद ज्ञाने' धातु से बना है, अतः वेद ज्ञान का भण्डार अथवा विद्या विज्ञान का आदि स्रोत है, यह ऋषि दयानन्द का घोष है और वह पुरातन ऋषियों की परम्परा में है जैसा कि महर्षि कणाद ने कहा है "बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे" (वैशेषिक द० ६।१।१) तथा जितने भी ऋषि महर्षि हुए चाहे वे धर्म के प्रवर्तक हों या राजनीति राजव्यवस्था के व्यवस्थापक हों किंवा किसी विद्या के प्रचारक हों या कला के आविष्कारक हों वे सब एक स्वर से घोषित कर रहे हैं कि ये सब विषय हम वेद से ले रहे हैं। तद्यथा—धर्मप्रवर्तक मनु महाराज कहते हैं कि "वेदोऽखिलो धर्ममूलम्" (मनु० २।६) सम्पूर्ण वेद धर्म का मूल है तथा "धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं

परमं श्रुतिः" ( मनु० २ । १३ ) धर्म का ज्ञान करने की इच्छा रखने वालों के लिए परम प्रमाण वेद है, अपितु वही मनु महाराज राजनीति और राजव्यवस्था के आदि व्यवस्थापक एवं प्रवर्तक थे उन्होंने कहा है "सेनापत्यं च···राज्यं च वेदशास्त्रविदर्हति" ( मनु० १२ । १०० ) सेना के स्वामी होने की योग्यता और राज्यशासन चलाने की क्षमता वेदशास्त्र का जानने वाला रखता है। तथा चिकित्साविद्या के आचार्य एवं प्रवर्तक अपने चरक ग्रन्थ में कहते हैं "वेदो ह्याथर्वणश्चिकित्सां प्राह" (चरक० अ० ३०।२० ) अथर्ववेद चिकित्सा को कहता है। कला के आविष्कारक प्रमुख महर्षि भरद्वाज थे उन्होंने 'यन्त्र सर्वस्व' नामक ग्रन्थ कलाविषयक रचा था जिसमें ४० प्रकरण थे, वह ग्रन्थ लुप्त है। उसका एक प्रकरण 'वैमानिक प्रकरणम्' नाम से मिला है जिसको 'बृहद् विमान शास्त्र' नाम देकर मैंने सम्पादित और अनूदित किया है। इस ग्रन्थ पर यति बोधानन्द की श्लोकबद्ध वृत्ति है वहां कहा है कि 'निर्मथ्य तद्वेदाम्बुधिं भरद्वाजो महामुनिः । नवनीतं समुद्धृत्य यन्त्रसर्वस्वरूपकम्" ॥" (वैमानिक०ब्रह्मविमान १०) अर्थात् महामुनि भरद्वाज ने वेद समुद्र का निर्मन्थन करके 'यन्त्रसर्वस्व' ग्रन्थ जिसका एक प्रकरण वैमानिक नाम से है उसे मक्खन के रूप में निकाल कर दिया है। एवं दर्शनकारों ने तो पदे पदे अपने विषय को बताने के लिए वेद, श्रुति, आम्नाय आदि नामों से वेद को शिरोधार्य करके या आगम प्रमाण मानकर प्रदर्शित किया है। जिस बात की प्रत्यक्ष से प्रतीति नहीं तथा अनुमान की भी जहां गति नहीं उसे दर्शनकारों ने वेद से स्वीकार किया। इस पृथिवी को किसी ने बनते नहीं देखा न सूर्य को किन्तु ये उत्पन्न हुए हैं ऐसा वेद में बतलाया है "द्यावाभूमी जनयन् देव एकः" ( ऋ० १० । ८१ । ३ ) आकाश से लेकर पृथिवीपर्यन्त सारी सृष्टि का रचयिता एक देव

परमात्मा है। इस प्रकार ऋषियों की धारणा के अनुसार ऋषि दयानन्द का मन्तव्य यथार्थ है अत एव वेद में समस्त विद्याओं के निर्देश के साथ साथ मानव जीवन के जितने भाग हैं उनका कर्त्तव्यविधान भी किया है, जैसे व्यक्तिजीवन, गृहस्थजीवन, सामाजिक जीवन, राष्ट्रिय जीवन और आध्यात्मिक जीवन एवं कला विज्ञान के अपूर्व तथा मौलिक विधान या उपदेश मिलते हैं

उक्त विषयों का दिग्दर्शन किं वा निदर्शन मात्र ही मन्त्रों या मन्त्रांशों से यहाँ कह सकेंगे तद्यथा—

व्यक्ति जीवन—"स्वयं वाजिँस्तन्वं कल्पयस्व स्वयं यजस्व स्वयं जुषस्व। महिमा तेऽन्येन न सन्नशे "( यजु० २३। १५ ) हे वाजिन् ! वाज–बल वलवन् प्रशस्तबलसम्पन्न मानव ! तू अपने तनु–शरीर को स्वयं समर्थ बना, शरीर को समर्थ बनाना तो कर्मेन्द्रियों ज्ञानेन्द्रियों और मन बुद्धि चित्त अहङ्कार को समर्थ बनाना है, फिर उन्हे स्वयंकार्य क्षेत्र में लगा' पुनः स्वयं फल सेवन कर, यह तेरी त्रिविध महिमा अन्य से नष्ट नहीं की जा सकती। यह स्वालम्बन की भावना या अपने को योग्य बनाने की बात, व्यक्ति के उत्थान का कारण है तद्यथा-"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः·········नरे" ( यजु० ४० । २ ) नर–मनुष्य इस संसार में कर्मों को करता हुआ ही–निरन्तर कर्म करता हुआ, न कि कर्म हीन होकर, सौ–अधिक से अधिक वर्षों तक जीने की इच्छा करे अपितु मानव अपने जीने की इच्छा कर्म करने के हेतु समझे, मानव की इच्छा जीनेमात्र के लिए नहीं किन्तु कर्मों को करने के हेतु।

गृहस्थजीवन—"मम पुत्राः शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।" ( ऋ० १० । १५९ । ३ ) माता की भावना है कि मेरे

पुत्र शत्रुनाशक हों बाहरी आक्रमणकर्त्ता शत्रुओं के और भीतरी पापरूप शत्रुओं के भी नाशक हों। बाहरी आक्रमणकारी शत्रुओं के नाशक बने तो भीम अर्जुन जैसे बने, भीतरी पापरूप शत्रुओं के नाशक बने तो ऋषि मुनि जैसे बने, मेरी दुहिता-कन्या विराट्-दिव्यसृष्टि को उत्पन्न करने वाली दिव्य शक्ति बने या ज्योति-सूर्य ज्योति जैसे बने अर्थात् अविद्यान्धकार को हटाने वाली बने तथा "अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋतव्ये नाधमानां……प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे" (ऋ० १०। १८६। २) अर्थात् ऋतुपर गृहस्थधर्म की कामना होना अनृतु नहीं ऋतुपर भी पुत्र की कामना होने पर ही, अन्यथा ऋतुपर भी नहीं, संयम करना ही आवश्यक है वेद का गृहस्थ सन्तानोत्पत्ति के लिए है न कि भोग मात्र के लिए।

सामाजिक जीवन—"सङ्गच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्। देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते" (ऋ० १०। १९२। २) हे मनुष्यो। तुम मिलो समाज के रूप को धारण करो मिलकर संवाद करो विवाद नहीं, जिससे तुम्हारे मन एक हो जावें मन एक करके जैसे तुमसे पूर्व विद्वान् अपने भाग-अधिकार का सेवन करते थे तुम भी कर सको। मिल बैठना, संवाद करना, मन एक बनाना, मन एक बना कर भाग या अधिकार का सेवन करना ये चार समाज या सामाजिक बनाने के हेतु हैं।

राष्ट्रिय जीवन या राज विधान—"त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः"। (अथर्व० ३। ४। २) एक स्वयं राजा न बन बैठे किन्तु प्रजाएं-प्रजाजन राजा को वरें-प्रजा के प्रतिनिधि जन पञ्चजन "यत् पाञ्चजन्यया विशेन्द्रे घोषा असृक्षत" ( ऋ० ८। ६३। ७ ) ब्राह्मण ( वेद शास्त्र का

विद्वान् ), क्षत्रिय ( राजनयज्ञ शस्त्रास्त्र निष्णात ) वैश्य ( व्यापारी और कृषक ), शूद्र ( श्रमिक ) निषाद ( वनवासी ) ये प्रजाजन राजा को निर्वाचित करें। अपने राष्ट्र का निर्वाचन होने के अनन्तर चारों सीमाओं के राष्ट्रों-राजदूतों द्वारा द्वितीय निर्वाचन हो वे भी वरें साथ अपना विदेश मन्त्री भी, पांच वरे यह ऐसा स्वराष्ट्र और सीमावर्त्ती परराष्ट्र के सहयोग का निर्वाचन विश्व के सब राष्ट्रों में एक पञ्चायत राज्य का रूप होगा परस्पर सुख शान्ति का प्रसारक होगा।

आध्यात्मिक जीवन—"उत स्वया तन्वा संवदे तत्कदान्वन्तर्वरुणे भुवानि। किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्" ( ऋ० ७।८६।२। ) हां! मैं अपनी देह से संवाद करता हूं तो कब विश्वात्मा वरुण—वरने वाले वरने योग्य परमात्मा के अन्दर विराजमान होऊँ मेरी किस भेंट को वह स्वागत से स्वीकार कर सके मैं सुखस्वरूप परमात्मा को अच्छे मन-वाला होकर कब देख सकूँ। मानव देह या मानव—जीवन है परमात्मा की उपासना के लिए इसी मानव देह में परमात्मा की उपासना हो सकती है अन्य देह में नहीं।

कला विज्ञान—सबसे ऊँची कला विमान की है सो "तुग्रो ह भुज्युमश्विनोदमेघे रयिं न कश्चिन्ममृवाँ अवाहा। तमूहथुर्नौभिरात्मन्वतीभिरन्तरिक्षप्रुद्भिरपोदकाभिः।" ( ऋ० १।११६।३ ) उदमेघ—समुद्र के उत्पात में सामग्री भरा पोत भुज्यु—भोग सामग्री के अध्यक्ष व्यापारी को ऐसा छोड देता है जैसे कोई मरने वाला धन छोड जाता है उस व्यापारी को अश्विनौ-ज्योति और रसात्मक शक्तियों ने वहन किया उठा लिया आकाश में उडने वाली जल में न डूबने वाली बलवती नौकाओं से। विज्ञान ऊँचा है विद्युत् का सो वह "येन हरी मनसा निरतक्षत तेन

देवत्वमृभवः समानश" (ऋ० ३ । ६० । २) जिससे हे शिल्पियो! तुमने विद्युत् की दो तरङ्गों शुष्क और आर्द्र को उनसे युक्त तारों को घडा अविष्कार किया इससे तुम देवत्व को प्राप्त हो गये—ऊँचे वैज्ञानिक बन गये ॥

ऐसे निर्भ्रान्ति ज्ञानमय वेद का उपदेश सर्वज्ञ परमेश्वर ने किया है। यह वेद में स्वयं कहा है—

"प्र नूनं ब्रह्मणस्पतिर्मन्त्रं वदत्युक्थ्यम्।
यस्मिन्निन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा देवा ओकांसि चक्रिरे॥"

(यजु० ३४ । ५७)

वेद का स्वामी परमात्मा निश्चय प्रशंसनीय मन्त्र अर्थात् वेद का उपदेश देता है जिसमें इन्द्र अर्थात् वायु, वरुण अर्थात् अङ्गिरा, मित्र अर्थात् अग्नि, अर्यमा अर्थात् आदित्य विद्वानों—वेदप्रकाशक ऋषियों ने अपने स्थान बनाये हुए हैं। इस प्रकार वेद अर्थात् मन्त्रभाग का आविर्भाव ईश्वर से हुआ।

किसी किसी आधुनिक वेदभाष्यकार का मत है कि प्रथम वेद एक ही था, व्यास मुनि ने उसके चार भाग किये जो त्रयी विद्या अथवा चार वेदों में कहे गये हैं ऐसा मन्तव्य प्रमाणरहित होने से मान्य नहीं क्योंकि किसी भी प्रामाणिक, आर्ष ग्रन्थ में ऐसा नहीं कहा गया है अपितु विद्यात्रयी की दृष्टि से तीन वेद तथा वेद के रूप में चार वेद कहे गये हैं। जैसे—

"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्॥" (मनु० १।२३)

"अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात् सामवेदः (शत० ११। ५।८।३) उक्त वचनों में तीन संख्या विनियोग की दृष्टि से तथा विद्यात्रय की दृष्टि से दी गई है जैसा कि निम्न प्रमाणों में कहा है—

"विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ।
ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये ॥"

( ऋं० सर्वानुक्रमणी षड्गुरुशिष्य )

विनियोग की दृष्टि से वैदिक वाङ्मय तीन प्रकार का दिखलाया जाता है । वेद चार होने पर भी ऋग् यजुः साम रूप से लिया जाता है । तथा—

"त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तामथाङ्गतः ।
ऋक्सामवर्णाक्षरतो यजुषोऽथर्वणस्तथा ॥"

( महाभारत शा० प० १३५ )

ऋक् यजुः साम अथर्व नामक चार वेद हैं पर इनमें त्रयी विद्या के प्रतिपादन होने से तीन वेद कहे गये हैं । ब्राह्मण में भी इन्हें त्रयी विद्या कहा है—

"अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति त्रय्या विद्ययेति ब्रूयात्"

( ऐत० २५।८ )

वेद की दृष्टि से वेद चार ही हैं—"ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः" ( शत० १४।५।१।१० ) वेद में भी साक्षात् चारों वेदों का प्रतिपादन है—

"यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥"

( अथर्व० का० १० । अनु० ४ । सू० ७ । म० २० )

यहां ऋग् यजुः साम के साथ अथर्वाङ्गिरस नाम अथर्ववेद के लिये स्पष्ट है । अथर्ववेद का अथर्वाङ्गिरस नाम है यह देखें यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण में भी—

"एवं वा अरेऽस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः ।"

( शत० १४ । ५ । ४ । १०, बृहदा० ४ । ५ । ११ )

तथा—

"तमृचश्च सामानि च यजूंषि च ब्रह्म चानुव्यचलन् ।"

( अथर्व० १५।६।८ )

अथर्ववेद को ब्रह्मवेद कहते हैं अब इसमें प्रमाण देखें—

"चत्वारो वा इमे वेदा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ब्रह्मवेद इति।" ( गोपथ पू० २।१६ )

शाखा ग्रन्थों द्वारा वेद चार हैं—

"ऋग्भिः शसन्ति यजुर्भिर्यजन्ति सामभिः स्तुवन्ति अथर्वभिर्जपन्ति ।" ( यजुर्वेदीय काठक शाखा ४० । ७ )

उपनिषदों में वेद चार हैं—

"ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् ।"

( छान्दो० ७ । १ । २ )

"तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः ।"

( मुण्डको० १।१।५ )

निरुक्त की दृष्टि में वेद चार हैं—

"चत्वारि शृङ्गा वेदा वा एत उक्ताः" ( निरुक्त० १३।८ )

कुछ लोगों का मत है शाखाएं ब्राह्मण आदि भी वेद हैं। उनको भी छन्दः नाम से कहा गया है और वेद के लिए छन्दः शब्द प्रसिद्ध है। इस विषय में हमारा कथन है सामान्यरूप से छन्दः शब्द का प्रयोग वेद शाखा ब्राह्मण आदि के लिए प्रयुक्त हो सकता है परन्तु कल्प, ब्राह्मण, छन्दः, मन्त्र ये चार अलग अलग हैं—"पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु" (अष्टा० ४।३।१०५) इस सूत्र में

ब्राह्मण, कल्प अलग अलग कहे गये हैं। "छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि" ( अष्टा० ४।२।६६ ) यहां छन्दः, ब्राह्मण अलग-अलग कहे गये हैं।

छन्दः, का स्वरूप देखिये—महाभाष्य में "तेन प्रोक्तम्" (अष्टा० ४।३।१०१ ) पर छन्दोर्थं इस सूत्र को पढना चाहिए ऐसा प्रसङ्ग चलाकर "तत्र 'कृते ग्रन्थे' इत्येव सिद्धम्। ननु चोक्तं न हि छन्दांसि क्रियन्ते, नित्यानि छन्दांसीति। छन्दांस्यपि क्रियन्ते। यद्यप्यर्थो नित्यः। या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चैतद् भवति काठकं कालापकं मौदकं पैप्पलादकमिति।" ( महाभाष्य ४।३।१०१ ) विना हेर फेर वाला छन्दोविषय मन्त्र नाम से कहा जाता है "मन्त्रब्राह्मणकल्पैः" ( निरु० १३।७ )

अब छन्दः और मन्त्र का भेद अष्टाध्यायी में देखिये–"जुष्टार्पिते च छन्दसि" "नित्य मन्त्रे" ( अष्टा० ६।१।२०६, २१० ) यहां स्पष्टरूप में छन्दः, मन्त्र अलग अलग हैं तथा "मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन्" "अवे यजः" "विजुपे छन्दसि" ( अष्टा० ३।२।७१-७३ )।

अब वेदों में इतिहास का विवेचन करते हैं। ऐतिहासिक जन महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों के आधार पर वेद में इतिहास की कल्पना करते हैं। परन्तु यह बडे आश्चर्य की बात है कि महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थ अर्वाक्कालीन हैं अर्वाक्कालीन ग्रन्थ का वृत्त पूर्वकालीन वेद के अन्दर मानना बुद्धिपूर्वक नहीं अपितु असम्भव है जबकि महाभारत आदि ऐतिहासिक ग्रन्थों में वेद शब्द का नाम तथा रामायण तक अतिप्राचीन ग्रन्थ में आता हो तब वेद के अन्दर अर्वाक्कालीन इतिहासों की कल्पना करना सर्वथा हास्यास्पद और अनुचित है। यदि इस प्रकार नाम मात्र आ जाने से वेद में इतिहास की कल्पना करेंगे

तो वेद अत्यन्त अर्वाक्कालीन कल्पित किये जा सकेंगे जो कि ऐतिहासिकों को भी अभीष्ट नहीं, जैसे—

"भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।
*भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता ॥"*

(ऋ० १० । १०७ । ११)

जैसे इस मन्त्र में भोज नाम आया और उसके शीघ्र गति वाले घोडे सवारी के लिये कहे गये उसका रथ बडा सुन्दर कहा जिस पर बैठ कर भोज देवस्थानों या दिव्य संग्रामों में जाता है। इत्यादि वर्णन से क्या अत्यन्त आधुनिक भोज राजा की कल्पना की जा सकती है ? भोज राजा का घोडा शीघ्रगामी कृत्रिम घोडा था भोज को यन्त्रों में बहुत रुचि थी वह अपने रथ घोडों से विजेता वीर राजा भी था परन्तु इस भोज का इतिहास वेद में देखना प्रत्यक्ष अनुमान और शब्द प्रमाण के विरुद्ध होने से स्वीकरणीय नहीं, अपितु भोज–भोजयिता लोगों को भोजन कराने वाला प्रजारक्षक नाम वेद में देखकर किसी राजा का भोज नाम दिया जाना सम्भव है जो कि वेद से उत्तर काल में ही हो सकता है। इसी प्रकार वेदों में मध्यकालीन ऋषियों के नाम की कल्पना करना भी असम्भव है—

"नामधेयानि चर्षीणां याश्च वेदेषु दृष्टयः ।
शर्वर्यन्ते प्रसुतानामन्येभ्यो विदधात्यजः ॥

(महा० शा० प० १२।२३)

अर्थात् ऋषियों के नाम और उनकी दृष्टियां प्रलय के अनन्तर परमात्मा निर्धारित करता है ।

क्वचित् ऋषियों के साथ कृञ् धातु का प्रयोग देखकर ऋषियों को मन्त्रों के कर्त्ता कहने लगते हैं। परन्तु कृञ् धातु का अर्थ करना ही है ऐसा नहीं । अपितु—

"करोतिरभूतप्रादुर्भावे दृष्टो निर्मलीकरणे चापि वर्तते। पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु, उन्मृदानेति गम्यते। निक्षेपणे चापि वर्तते। कटे कुरु, घटे कुरु अश्मानमितः कुरु स्थापयेति गम्यते।" ( महाभाष्य व्याक० १।३।१ )

इस उक्त प्रमाण से कृ धातु अनेकार्थक होने से कर्तृवाद पक्ष शिथिल हो जाता है, अपितु कृ धातु का अर्थ पढना भी है जैसा कि निम्न प्रमाणों में आया है—

"पश्चादग्नेश्चत्वार्यासनान्युपकल्पयीत तेषूपविशन्ति। पुरस्तात् प्रत्यङ्मुखो दाता पश्चात् प्राङ्मुखः प्रतिग्रहीता दातुरुत्तरतः प्रत्यङ्मुखी कन्या दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकार"

( वाराह गृह्यसूत्र, खण्ड १३ )

इस वचन में विवाहसंस्कार में वेदि के दक्षिण भाग में बैठने वाले ब्रह्मा या पुरोहित को मन्त्रकार कहा गया है, मन्त्रकार या मन्त्रकृत् का अर्थ मन्त्र पढने वाला हुआ। और भी बहुतेरे ऋषियों के नाम देवताओं के उपयोक्ता आदि रूप में आते हैं जैसा कि— "या ओषधीः पूर्वा जाताः" ( ऋ० १०।९७ ) इस सूक्त का देवता ओषधि है और ऋषि भिषक् अर्थात् वैद्य है यह नाम देवता के साथ यौगिक रूप में उपयुक्त हो सकता है।

चक्षुषा ते चक्षुर्हन्मि विषेण हन्मि ते विषम्।
अहे म्रियस्व मा जीवीः प्रत्यगभ्येतु त्वा विषम्॥"

( अथर्व० ५।१३।४; ऋषिः-गुरुत्मान्, देवता तक्षकः )

सर्पनाशन या सर्पविषनाशन देवता वाले मन्त्रों का ऋषि गरुत्मान् है। ग्रामों में सर्पविषचिकित्सक को गारुडी या गारुडिया कहते भी हैं। गरुत्मान् गरुड पक्षी का वाचक है वह गर अर्थात् विष को उत्तम्भन करता है ऐसे ही "न वा उ देवाः क्षुधमिद् वधं ददुः" ( ऋ० १०।११७ ) सूक्त का देवता धनान्नदानप्रशंसा है और ऋषि भिक्षुक है। भिक्षु याचक को कहते हैं, जो धनान्नदान

प्रशंसा करता हुआ यौगिक ही सिद्ध होता है। "यज्जाग्रतो दूरमुदैति......तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु" (यजु० ३४।१) मन्त्रगण का देवता मन है ऋषि शिवसङ्कल्प है जो कि भावुक और मन भावनीय है। इत्यादि उदाहरण बहुत हैं विस्तारभय से नहीं दिये जा सकते।

## निरुक्त और वेद में इतिहास

निरुक्तकार यास्क तथा अन्य नैरुक्त विद्वान् वेद में इतिहास नहीं मानते। पदे पदे निरुक्तकार यास्क कहता है 'इति नैरुक्ताः' 'इत्यैतिहासिकाः' यह नैरुक्त कहते हैं और यह ऐतिहासिक कहते हैं जैसा कि—

"तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः" (निरु० २।१६)

वृत्र मेघ को कहते हैं यह नैरुक्त मानते हैं और त्वष्टा का पुत्र असुर ऐतिहासिक मानते हैं।

अजहाद् द्वा मिथुना सरण्यूर्मध्यमं च माध्यमिकां च वाचमिति नैरुक्ताः। यमं च यमीं चेत्यैतिहासिकाः।"

(निरु० १२।१०)

मध्यम देव और माध्यमिका वाक् है ऐसा नैरुक्तों का सिद्धान्त है। यम और यमी ऐतिहासिकों का मत है। नैरुक्त सिद्धान्त विज्ञानवादी है और ऐतिहासिक पक्ष में इतिहास की कल्पना करते हैं जो कि अन्यथा है वास्तविक नहीं अपितु आलङ्कारिक वर्णन को इतिहास का रूप दे देते हैं यह हम घोषणापूर्वक कह सकते हैं, इसके लिये हम यहां एक ऐसा सन्दर्भ प्रस्तुत करते हैं—

"विपाड् विपाटनाद्वा विपाशनाद्वा विप्रापणाद्वा पाशा अस्यां व्यपाश्यन्त वसिष्ठस्य मुमूर्षतस्तस्माद्विपाडुच्यते पूर्वमासीदुरुञ्जिरा।" (निरु० अ० ९ ख० २५)

मरना चाहते हुए वसिष्ठ की पाशविमोचनविषयिका यह कथा आलङ्कारिक है। इस कथा का समग्र वर्णन महाभारत आदि पर्व के १७५ वें अध्याय में इस प्रकार है कि विश्वामित्र ऋषि ने वसिष्ठ के शत पुत्रों को मार कर कामधेनु गौ को बलात् ले लिया वसिष्ठ ने पुत्र शोकार्त हो आत्महत्या करना चाहा। पुनः पुनः आत्म-हत्यार्थ यत्न किया परन्तु वह नहीं मरा अन्तिम वार आत्महत्या के लिए पाशों में अपने को बांधकर उरुञ्जिरा "बहुजलाः" (दुर्गाचार्य) नदी में प्रविष्ट हो गया परन्तु वह पाश से विपाश अर्थात् पाशरहित हो गया अतः वह नदी विपाश नाम से प्रसिद्ध हुई। इसके सम्बन्ध में महाभारत के निम्न श्लोक हैं—

वसिष्ठो घातितान् श्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान्।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥४३॥
चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः।
न त्वेव कौशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ॥४४॥
स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः।
गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत् ॥४५॥
न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव।
तदाग्निमिद्धं भगवान् संविवेश महावने ॥४६॥
तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न ! शीतोऽग्निरभवत् ततः ॥४७॥
स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाम्भसि ॥४८॥
स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः।
न ममार यदा विप्रः कथञ्चित् संशितव्रतः ॥
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ॥४९॥
ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात्ततः ॥१॥

सोऽपश्यत् सरितां पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा ।
वृक्षान् बहुविधान् पार्थ हरतीं तीरजान् बहून् ॥२॥
अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन ।
अम्भस्यस्या निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः ॥३॥
ततः पाशैस्तदात्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः ।
तदा जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ॥४॥
अथ छित्वा नदी पाशांस्तस्यारिदलसूदन ।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ॥५॥
उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः ।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥६॥
शोकबुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यवातिष्ठत ।
सोऽगच्छत् पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥७॥
दृष्ट्वा स पुनरेवार्षिर्नदीं हैमवतीं तदा ।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत् ॥८॥
सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा ।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥९॥

उपर्युक्त श्लोकों में आलङ्कारिक वर्णन ही है। क्योंकि इससे पूर्व चर्चा यह है कि वसिष्ठ के पास कामधुक् ( कामधेनु ) गौ थी वसिष्ठ के सौ पुत्रों द्वारा रक्षा की जाती हुई उन सौ को मार कर विश्वमित्र ने उस कामधुक् गौ का हरण कर लिया हरण की जाती हुई गौ वसिष्ठ को बोली—

कशाग्रदण्डाभिहतां क्रोशन्तीं मामनाथवत् ।
विश्वामित्रो बलैर्घोरैर्भगवान् किमुपेक्षसे ॥२७॥
किन्न त्यक्तास्मि भगवन् यदेवं त्वं प्रभाषसे ।
अत्यक्ताहं त्वया ब्रह्मन् नेतुं शक्या न वै बलात् ॥३०॥

पशुरूप गौ के द्वारा इस प्रकार बोलना सम्भव नहीं अमानव होने से मनुष्य की बोली में नहीं बोल सकती अतः

यह कोई अलङ्कार है। पुनः उसके विषय में यह भी कहा गया है—

ग्राम्यारण्यांश्चौषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चामृतनिभं रसायनमनुत्तमम् ॥१०॥
भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि तथार्जुन ॥११॥
रत्नानि च महार्घाणि वासांसि विविधानि च ॥

इन श्लोकों में भक्ष्य वस्तु रत्नों और वस्त्र आदि को यह कामधेनु गौ दुहती है प्रदान करती है। सो यह पशुरूपा गौ नहीं है। और फिर विश्वामित्र के द्वारा हरी जाती हुई

असृजत् पह्लवान् पुच्छात् प्रस्रवाद् द्राविडाञ्छकान् ।
योनिदेशाच्च यवनान् शकृतः शबरान् बहून् ॥३६॥
मूत्रतश्चासृजत् कांश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः ।
पौण्ड्रान् किरातान् यवनान् सिंहलान् बर्बरान् खसान् ॥३७॥
चिबुकाच्च पुलिन्दांश्च चीनान् हूणान् सकेरलान् ।
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान् बहुविधानपि ॥३८॥

इस प्रकार ऐसे वर्णन से स्पष्ट हो गया कि यह गौ पशुरूप नहीं किन्तु पृथिवी है "गौः पृथिवीनाम" ( निघ० १ । १ ) तब तो यह सारा वर्णन आलङ्कारिक हुआ, जब गौ ही पृथिवी है तब वसिष्ठ यहां जलसंघात है। "यद् वस्तृतमो वसति तेनो वसिष्ठः" ( शत० ८ । १ । १ । ६ ) "वसिष्ठोऽप्याच्छादित उदक-संघातः—वसुमत्तमः" ( निरु० ५ । १४ स्कन्दः ) पृथिवी के चारों ओर वाष्परूप सूक्ष्म जलांश वसिष्ठपुत्र शतसंख्या अर्थात् बहुत हैं जो पृथिवी को सब ओर से घेरे हुये हैं। विश्वामित्र आदित्य है। वह सृष्टि के आरम्भ में वाष्परूप जलांशों को विनष्ट करके पृथिवी को बाहर खेंच लाया तब पृथिवी के ऊपर देश प्रकट हो गये, पुनः उस जल संघातरूप वसिष्ठ की आत्महत्या आलङ्कारिक हो कर ऋतुप्रवृत्ति को दर्शाती है जब कि जलसंघात

रूप वसिष्ठ के पुत्ररूप जलांश जो पृथिवी को घेर कर। उन्हें विश्वामित्र अर्थात् आदित्य ने विनष्ट कर दिया हटा दिया। तब पृथिवी के ऊपर शरद् ऋतु प्रवृत्त हुआ। पुनः वह जलसंघात अवश्याय–ओसरूप में वर्तमान हो पर्वत के ऊर्ध्व आकाश से पर्वतों पर बर्फरूप से अपने को गिरा दिया परन्तु तूलराशि हिमरूप रूई जैसी राशि में पतित हुआ, जलरूप से नहीं विनष्ट हुआ। इस प्रकार हेमन्त ऋतु की प्रवृत्ति हुई! पश्चात् उत्तरायण काल में जलसंघातरूप हिममय वसिष्ठ सूर्यतापरूप अग्नि में गिरा आत्मनाश के लिए वह इस से शिशिर ऋतु की प्रवृत्ति हुई। फिर वह पर्वतों से बहता हुआ समुद्र में गिरा परन्तु जलात्मा से नहीं मरा इस प्रकार वसन्त ऋतु की प्रवृत्ति हुई। फिर समुद्र में वाष्परूप में बाहिर फेंका हुआ जलरूप से नष्ट नहीं हुआ तब ग्रीष्म ऋतु प्रवृत्त हुआ। पश्चात् वाष्परूप से आकाश में गया आर्जीका–ऋजीकप्रभवा अर्थात् धूम से उत्पन्न हुए मेघ धारा में अपने को बांध कर प्रविष्ट हुआ, पुनः वर्षा के अभिमुख हुआ वर्षा से जलरूप वसिष्ठ विपाश–पाशरहित हो गया अतः वह आर्जीकीया विपाश नाम से प्रसिद्ध हुई जलरूप वसिष्ठ पाशरहित हो जाने के कारण बरसने से प्रावृट्–वर्षा ऋतु प्रवृत्त हो गया इस प्रकार छः ऋतुओं का प्रवर्तनविज्ञान इस अलङ्कार में है। जल के बरस जाने पर पृथिवी के ऊपर उसकी अपेक्षा से शुतुद्री हो गई। शतधा द्रवण के कारण शतधा द्रवण करती हुई समुद्र के प्रति जाती हुई धारा शुतुद्री हो गई। इन दोनों का अलङ्कार आगे निरुक्त अ० ६ ख० ३८ से लिया गया है 'विपाट–छुतुद्री' इस प्रसङ्ग में देखें।

—स्वामी ब्रह्ममुनि परिव्राजक विद्यामार्तण्ड

२६–११–१६६७

# वेदाध्ययन प्रवेशिका

## अथर्ववेद काण्ड १ सूक्त १

ऋषिः—अथर्वा ( स्थिर महानुभाव )

देवता—वाचस्पतिः ( वेदवाक् का स्वामी परमात्मा )

ये त्रिषप्ताः परि यन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

वक्तव्य—मन्त्र में 'त्रिषप्ताः' शब्द का सुजर्थव्युत्पत्ति से "सुजभावोऽभिहितार्थत्वात्समासे" ( महाभाष्य २ । २ । २ ) तीन आवृत्ति में आने वाले सात, तीन स्थानों में होने वाले सात, जैसे "द्विदशाः" ( महाभाष्य २ । २ । २ ) दो आवृत्ति में आने वाले दश-दो स्थानों में विद्यमान दश, कुल बीस परन्तु दो वर्गों में दश दश करके । इसी प्रकार 'त्रिषप्ताः' तीन आवृत्ति में आने वाले सात कुल इक्कीस परन्तु तीन वर्गों में सात सात करके चलने वाले ही समासार्थ है । एवं इस लक्षण के अनुसार 'त्रिषप्ताः' हैं 'आपः' इस में ऋग्वेद का प्रमाण है "प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः ॥" ( ऋ० १० । ७५ । १ ) इस मन्त्र में स्पष्टरूप से 'आपः' ( जलों ) को "सप्त सप्त त्रेधा प्रचक्रमुः" तीन जगह में सात सात हो कर प्रगति करते हैं ऐसा कहा है, सायण ने भी उक्त मन्त्र के भाष्य में कहा है "त्रेधा पृथिव्यामन्तरिक्षे दिवि च" पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक इन तीन स्थानों में प्रगति करते हैं । 'आपः' तीनों लोकों में हैं इसके अन्य प्रमाण भी हैं "इयं पृथिवी वा अपामयनमस्यां ह्यापो यन्ति" (श० ७।५ । २।५०)

"अन्तरिक्षं वा अपां सधस्थम्" (श० ७।५।२।५७) "द्यौर्वा अपां सदनम्" (श० ७।५।२।५६) इन प्रमाणों में पृथिवी को जलों का अयन, अन्तरिक्ष को जलों का सधस्थ और द्युलोक को जलों का सदन बतलाया है। इसी अनुवाक के चतुर्थसूक्त में कहा भी है कि "अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह" जो 'आपः, (अप्-तत्त्व) सूर्य में विद्यमान हैं अ वा जिनके द्वारा सूर्य प्रकाशमान होता है। इस प्रकार तीनों लोकों में प्रगति करने वाले "आपः" (अप्-तत्त्वों) का स्थूल रूप द्युलोक में सप्त रंगवाली रश्मियां, अन्तरिक्ष में भिन्न भिन्न सप्त मरुतों का गण-मरुद्गण (वायुप्रतिधियाँ-वायुस्तर-वायु परत) और पृथिवी पर भिन्न भिन्नगुण रूपवाले सप्त जलप्रवाह हैं। इन त्रिस्थानी अप्तत्त्वों से क्रमशः द्युलोक में सूर्य, अन्तरिक्ष में विद्युत् या विद्युन्मय वायु और पृथिवी पर अग्नि ये तीनों अग्नियां प्रकट होती तथा बल पाती हैं। इन ऐसे 'आपः' से समस्त जगत् आप्त-व्याप्त है, कहा भी है "तद्यदब्रवीद् ब्रह्म आभिर्वा अहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति तस्मादापोऽभवन्" (गोपथ० पू० १।२) "अद्भिर्वा इदं सर्वमाप्तम्" (श० १।१।१।१४) ये ऐसे 'आपः' 'त्रिषप्ताः' नाम से यहां कहे गये हैं। अस्तु। अब मन्त्रार्थ देते हैं—

(ये) जो 'जगत् में प्रधान पदार्थ' (त्रिषप्ताः) तीनों-पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक में सात सात भेद से वर्तमान हुए "आपो...प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः" [ऋ० १०।७५।१] 'आपः' अप्तत्त्व-सात रश्मियां, विद्युन्मय सात वायुस्तर, सात जलप्रवाह (विश्वा) सब (रूपाणि) स्वरूपवान् या निरूपण करने योग्य उत्पन्न हुई वस्तुओं को (बिभ्रतः) धारण और पोषण करते हुए (परियन्ति) परिक्रमा करते हैं-सब ओर

गति करते हैं ( तेषाम् ) उन के ( बला ) बलों-सामर्थ्य तेज और जीवन को ( मे ) मेरे ( तन्वः ) शरीर में "सुपां सुपो भवन्तीति ङि स्थाने ङस्" ( अद्य ) आज-अब-निरन्तर ( वाचस्पतिः ) वेदवाणी का स्वामी प्रजापति परमेश्वर "प्रजापतिर्वै वाचस्पतिः" [श० ५ । २ । १ । १६] ( दधातु ) धारण करे संस्थापित करे अन्दर प्रविष्ट करे ॥ १ ॥

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते निरमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

(वाचस्पते) हे वेदवाणी के स्वामिन् ! प्रजापति परमात्मन् ! ( देवेन मनसा सह ) सत्य-शुद्ध मन से-यथार्थ मनन के द्वारा "सत्यमेव देवाः" [श० १ । १ । १ । ४] ( पुनः-एहि ) बारम्बार आ बारम्बार मन का अवलम्बन या लक्ष्य बन ( वसोः-पते ) हे सृष्टियज्ञ के पालक ! "यज्ञो वै वसुः" [ श० १ । ७ । १ । ६ ] ( मयि ) मेरे शरीर में ( एव ) अवश्य ( निरमय ) उन 'आपः' अप्तत्त्वों के बलों को सात्म्य कर-समाविष्ट कर-अङ्गीभूत कर ( मयि ) तथा मेरे अन्तः करण में ( श्रुतम् ) उनका श्रवण-ज्ञान ( अस्तु ) हो-स्थिर हो ॥ २ ॥

इहैवाभि वितनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नियच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

( इह-एव ) इसी मेरे जीवन में ( उभे ) पूर्वोक्त अप्तत्त्वों के बल और ज्ञान दोनों ( ज्यया ) धनुष में बंधी हुई डोरी ( आर्त्नी इव ) जैसे दोनों दण्ड के सिरों को ( अभिवितनु ) सङ्गत करती है वैसे सङ्गत कर-संयुक्त कर । तथा (वाचस्पतिः)

वह आप परमात्मा ( मयि-एव ) मेरे में अवश्य ( नियच्छतु ) नियन्त्रित करें। और ( मयि ) मेरे में ( श्रुतम् ) ज्ञान हो ॥३॥

उप॑हूतो वा॒चस्पति॑रु॒पास्मान् वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् ।
सं॒श्रुते॑न गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

( वाचस्पतिः ) वेदवाणी का स्वामी परमात्मा ( उपहूतः ) जब भी हम से अपनाया गया हो-जब भी हमने उसे अपनाया हो ( वाचस्पतिः ) वह हमारी वाणी और अन्तःस्थ ज्ञान का स्वामी परमात्मा ( अस्मान्-उपह्वयताम् ) हमें अपनाता है। ऐसे अपनाने वाले परमात्मा के अन्दर (श्रुतेन ) श्रवण से श्रवण-चतुष्टय से-श्रवण, मनन, निदीध्यासन और साक्षात्कार से ( सङ्गमेमहि ) सङ्गत हों-समाहित हों ( श्रुतेन ) उक्त श्रवण से श्रवण चतुष्टय-श्रवण, मनन, निदीध्यासन और साक्षात्कार से ( मा विराधिषि ) मैं वियुक्त-अलग न होऊं ॥ ४ ॥

विज्ञप्ति—इस सूक्त और 'त्रिषप्ताः' के ये अर्थ आधि-दैविक क्षेत्र में थे। आध्यात्मिक और आधिभौतिक क्षेत्रों में भी इनके अर्थों का समावेश है। आध्यात्मिक क्षेत्र-शरीर में 'त्रिषप्ताः' वात, पित्त, कफ, मूल धातुओं के अन्दर वर्तमान 'रस' रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, नामक, अङ्गधातुएँ तथा 'वाचस्पतिः' प्राण है "प्राणो वै वाचस्पतिः" (श०४।१।१।६१) और आधिभौतिक क्षेत्र अर्थात, मनुष्यों के मध्य में 'त्रिषप्ताः' है वेदत्रयी में वर्तमान गायत्री आदि सात छन्द तथा 'वाचस्पतिः' है वक्ता विद्वान् ( विस्तृत रूप में समझने के लिए देखें हमारी लिखी पुस्तक 'ब्रह्मवेद का रहस्य' ।

## अथर्व० काण्ड ३ सूक्त १६ तथा ऋ० ७।४१

| | |
|---|---|
| ऋषिः—अथर्वा ( स्थिरस्वभाव जन )<br>देवता—लिङ्गोक्ताः ( मन्त्रों में कहे गए नाम शब्द ) | अथर्ववेदानुसार |
| ऋषिः—वसिष्ठः ( अत्यन्तवसने वाला उपासक )<br>देवता—१ मन्त्रे लिङ्गोक्ताः ( मन्त्रगत नाम )<br>२—६ भगः—( भजनीय भगवान् ) ७ उषाः<br>( कमनीया या प्रकाशमाना प्रातर्वेला ) | ऋग्वेदानुसार |

आध्यात्मिक दृष्टि से सूक्त में 'भग' देव की प्रधानता है बहुत पाठ होने से तथा 'भग एव भगवान्' ( ५ ) मन्त्र में कहने से, भगवान् ही भिन्न-भिन्न नामों से भजनीय है। तथा व्यावहारिक दृष्टि से भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं व्यवहार में भिन्न-भिन्न रूप में उपयुक्त होने से।

प्रातर॒ग्निं प्रा॒तरिन्द्रं॑ हवामहे प्रा॒तर्मि॒त्रा वरु॑णा प्रा॒तर॒श्विना॑ ।
प्रा॒तर्भगं॑ पू॒षणं॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिं॑ प्रा॒तः सोम॑मु॒त रु॒द्रं हु॑वामहे ॥ १ ॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

( प्रातः अग्निम् ) प्रातः उठकर सर्व प्रथम अग्नि—स्व प्रकाशस्वरूप परमात्मा को "अग्ने नय सुपथा......" ( यजु० ४०। १६ ) ( प्रातः—इन्द्रम् ) प्रातः काल इन्द्र—ऐश्वर्यवान् परमात्मा को ( हवामहे ) स्तुत करें—स्तुति में लावें ( प्रातः—मित्रा-वरुणा ) प्रातः ही उसे मित्र—प्रेरक तथा वरुण वरयिता—धारक ( प्रातः-अश्विना ) प्रातः अध्यापक उपदेशक एवं माता पिता रूप को ( प्रातः—भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिम् ) प्रातः ही ऐश्वर्य के

विभाजक, पोषक, और वेदस्वामी को ( प्रातः सोमम् उत् रुद्रं हवामहे ) प्रातः ही सोम—शान्त स्वरूप को, तथा रुद्रं नास्तिक एवं दुष्ट के रुलाने वाले परमात्मा को प्रशंसित करें।

व्यावहारिक दृष्टि—

( प्रातः—अग्निम् ) प्रातः-काल में अग्नि को होमद्वारा ( प्रातः—इन्द्रम् ) प्रातः ही इन्द्र—सूर्य को सेवन द्वारा ( हवामहे ) प्रशंसित करते हैं ( प्रातः—मित्रावरुणा ) प्रातः ही प्राण और उदान को प्राणायाम द्वारा "प्राणोदानौ वै मित्रावरुणौ" ( शत० १।८।३।१२ ) ( प्रातः—अश्विना ) प्रातः ही अध्यापक उपदेशक को अध्ययन और श्रवण से ( प्रातः—भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिम् ) प्रातः ही भग—जीवननिर्वाहक वस्तुमात्र को निरीक्षण से, पूषा-पोषक वायु को भ्रमण से अथवा पूषा—पृथिवी को "पूषा पृथिवीनाम" ( निघ० १ । १ ) शोधन कृषि-कर्म से तथा ब्रह्माण्ड के स्वामी को उपासना से ( प्रातः सोमम् उत रुद्रं हवामहे ) प्रातः ओषधिरस दुग्धमिश्रित को आहार-रूप से और रुद्र—रोग विनाशक—पथ्य पदार्थ को प्रशंसित करते हैं ॥ १ ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद् यं मन्यमानस्तुरश्चिद् राजा चिद् यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

( प्रातः—जितम् ) प्रातः जय कराने वाले मानव जीवन को सफल बनाने वाले—( उग्रं भगम् ) तेजस्वी एवं भगवान्—ऐश्वर्य के भागी बनाने वाले—( अदितेः पुत्रम् ) अखण्ड सुख-सम्पत्ति के बहुत रक्षक परमात्मा की "पुत्रम्-पुरुत्रम्-रु लोप-श्छान्दस" ( वयं हवामहे ) हम स्तुति करें (यः—विधर्त्ता ) जो

विश्व का विशेष धारक है ( यम्—आध्रः—चित् ) जिसको दरिद्र भी ( यं तुरः-चित् ) जिसको वेगवान्—बलवान् भी ( यं राजा चित् ) जिसको राजा भी ( यं भगं मन्यमानः ) जिसको भग—भजनीय मानता हुआ (भक्षि—इत्याह ) सेवन करूँ ऐसा कहता है ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

( प्रातः—जितम् ) प्रातः—जय—उत्कर्ष कराने वाले—( उग्रं भगम् ) उद्गीर्ण—ऊपर गए हुए प्रवृद्ध अन्नादि ऐश्वर्य-( अदितेः पुत्रम् ) पृथिवी के पुत्रसमान को "अदितिः पृथिवी नाम" ( निघ० १ । १ ) ( वयं हवामहे ) हम प्रशंसित करते हैं ( यः-धर्त्ता ) जो मनुष्यों को विशेष रूप से धारण करने वाला है ( यम्-आध्रः चित् ) जिसको दरिद्र भी ( यंतुरः-चित् ) जिसको बलवान् भी ( यं राजा चित् ) जिसको राजा भी ( यं भगं मन्यमानः ) जिसको भजनीय-सेवन करने योग्य मानता हुआ ( भक्षि—इत्याह ) सेवन करूँ ऐसा कहता है ॥ २ ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।

भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

( प्रणेतः-भग ) हे जगद्रचयिता भगवन् 'भग—इत्यकारो मत्वर्थीयः' ( सत्यराधः-भग ) हे सत्य धन वाले भगवन्! ( इमां धियं ददत् ) इस बुद्धि को देता हुआ ( नः-उदव ) हमें उन्नत कर ( भग गोभिः-अश्वैः-नः प्रजनय ) भगवन्! गौ आदि दुधारी पशुओं से और घोड़े आदि वाहक पशुओं के द्वारा हमें बढा ( भग नृभिः-नृवन्तः स्याम ) भगवन्! प्रशस्त पारिवारिक जनों से हम जनवाले हों ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

( भग प्रणेत: ) हे ऐश्वर्य ! तू सब कार्य के प्रणनय कर्ता ! ( भग सत्यराधः ) हे ऐश्वर्य ! तू सत्य धन है ( इमां धियं ददत् ) इस बुद्धि को देता हुआ ( नः-उदव ) हमें उन्नत कर-हमारे द्वारा श्रेष्ठ कर्मों में व्यय हो ( भग गोभिः-अश्वैः-नः प्रजनय ) हे ऐश्वर्य तू गौ आदि दुधारी पशुओं और घोड़े आदि वाहक पशुओं के द्वारा हमें बढ़ा—हमें गौ घोड़ों वाला बना ( नृभिः—नृवन्तः—स्याम ) प्रशस्त मित्र आदि जनवाले 'कार्य समर्थ हों' ॥ ३ ॥

उतेदानीं भगवन्तः स्यामोत प्रपित्व उत मध्ये अह्नाम् ।
उतोदिता मघवन्त्सूर्यस्य वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ ४ ॥

आध्यात्मिक दृष्टि—

( मघवन् ) ऐश्वर्यवन् परमात्मन् ! ( उत-इदानीम् ) हां इस समय ( देवानां सुमतौ ) प्रथम मन्त्रोक्त अग्नि आदि से तेरे दिव्य स्वरूपों की यथार्थ स्तुति में "मन्यते अर्चतिकर्मा" ( निघ० ३ । ४ ) ( वयं स्याम ) हम हों तो ( भगवन्तः स्याम ) उस उस नाम के ऐश्वर्य वाले हो जावें यथान्यत्र-तेजोसि "तेजोमयि धेहि" (यजु० १६।६) (उत प्रपित्वे) अपि सायं उनकी सुस्तुति में हो जावें तो सायं ही हम ऐश्वर्य गुणवाले होजावें ( उत मध्ये-अह्नाम् ) अपि दिन के मध्य में "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" ( अष्टा० १ । २ । ५८ ) उनकी सुस्तुति में होवें तो दिन के मध्य में ही हम उनसे ऐश्वर्य वाले हो जावें ( उत सूर्यस्य -उदिता ) अपि सूर्य के 'उदितौ' उदय होने पर उनकी सुस्तुति में हो जावें तो सूर्य के उदय काल में ही हम उनसे ऐश्वर्य वाले हो जावें ॥

व्यावहारिक दृष्टि—

( मघवन् ) ऐश्वर्यवन् परमेश्वर ! ( उत-इदानीं देवानां सुमतौ स्याम भगवन्तः स्याम ) अपि इस समय तेरे उपासकों की श्रेष्ठ मति में हम हो जावें तो हम इस समय ही ऐश्वर्य वाले हो जावें। आगे सुगम पूर्ववत् ॥ ४ ॥

भग॑ ए॒व भग॑वाँ अस्तु दे॒वास्तेना॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जो॑हवीमि॒ स नो॑ भग पुरए॒ता भ॑वेह ॥५॥

दोनों दृष्टियों में समान—

( भगवान् देवः— भगः—एव—अस्तु ) भगवान् परमात्मदेव ही हम उपासकों का ऐश्वर्य हो हम अन्य ऐश्वर्य को नहीं चाहते ( तेन वयं भगवन्तः स्याम ) उससे हम ऐश्वर्यवाले हों ( भग तं त्वा सर्वः-इत्-जोहवीमि‡ ) हे भगरूप परमात्मन् उस तुझको सर्व परिवार युक्त मैं पुनः पुनः प्रशंसित कर रहा हूं ( भग सः-इह नः पुरः-एता भव ) भग-ऐश्वर्यरूप परमात्मन् ! वह तू इस परिवार में या इस संसार में हमारा अग्रगन्ता हो ॥ ५ ॥

सम॑ध्व॒राये॒षसो॑ नमन्त दधि॒क्रावे॑व॒ शुच॑ये प॒दाय॑ ।
अ॒र्वा॒ची॒नं व॑सु॒विद॒ं भग॑ मे॒ रथ॑मि॒वाश्वा॑ वा॒जिन॒ आ व॑हन्तु ॥६॥

( उषसः-अध्वराय सन्नमन्त ) उषाएं ब्रह्मयज्ञ और होमयज्ञ के लिए मनुष्यों को झुकाती हैं-प्रवृत्त कराती है ( दधिक्रावा-इव शुचये पदाय ) जैसे मनुष्य को धारण किये हुए घोड़ा शोभमान प्राप्त स्थान के लिये प्रवृत्त कराता है ( वसुविदं

‡ ऋग्वेदे यजुर्वेद 'जोहवीति' पाठः ।

भगं नः ) वे उषाएं प्रतिदिन प्रवर्तमान वसु-धन के प्राप्त कराने वाले भजनीय परमात्मा को हमें प्राप्त करावें ( अर्वाचीनं रथम्-इव वाजिनः-अश्वाः-आवहन्तु ) जैसे बलवान् घोड़े प्राप्त रथ को प्राप्तव्य स्थान की ओर समस्त रूप से ले जावें ॥ ६ ॥

अश्वावतीर्गोमतीर्न उषासो वीरवतीः सदमुच्छन्तु भद्राः ।
घृतं दुहाना विश्वतः प्रपीता यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

( उषसः ) ये उषाएं प्रतिदिन ( अश्वावतीः ) ईश्वर वाली ईश्वरोपासना के लिये प्रेरणा देती हुई "ईश्वरो वा अश्वः" ( तै० ३ । ८ । ६ । ३ ) ( गोमतीः ) यज्ञवाली-यज्ञ करने का संकेत देने वाली "यज्ञो वै गौः" ( तै० ३ । ८ । ६ । ३ ) ( वीरवतीः ) वीर वाली-प्राणवाली "प्राणा वै वीराः" ( शत० १२।८।१।२२ ) अथवा सब घोड़ों वाली गौ वाली पुत्रों वाली होती हुई ( भद्राः—नः सदम्-उच्छन्तु ) कल्याणकारी स्थान को प्राप्त हों चमकावें—प्रकाशित करें ( विश्वतः प्रपीताः ) सब ओर प्रवृद्ध हुई ( घृतं दुहानाः ) अध्यात्म तेज को प्रपूरित करती हुई या रेतः को सींचती हुई "रेतो घृतम्" ( शत० ६ । २ । ३ । ४४ ) ( यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात ) तुम कल्याण भावनाओं से सदा हमारी रक्षा करो ॥ ७ ॥

## अथर्ववेद काण्ड ६ सूक्त १३३ ॥

ऋषिः—अगस्त्यः ( अगः=पाप को त्यागे हुये, अगः-त्यज' डः, अन्येभ्योपि दृश्यते वा, अन्येष्व पि दृश्यते"
( अष्टा० ३।२।१०१ )

देवता—मेखला ( संयमनी रज्जु "कौपीन" )

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज ।
यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो विमुञ्चात् ॥ १ ॥

( यः—देवः-इमां मेखलाम्—आबबन्ध जो विद्वान् आचार्य इस मेखला मौञ्जी-अधोबन्धनी को बांधता है ब्रह्मचारी के आत्मा में ऊर्ज प्राप्ति के लिये,, मेखला मध्यत आत्मन ऊर्जं धत्ते,, ( शत० ३।१।२।१० ) ( यः संननाह ) जो आचार्य उस कौपीन सहित मेखला से ब्रह्मचारी के गुप्ताङ्ग को ढंकता है ( यः-उ-नः युयोज ) जो ही हम ब्रह्मचारियों को ब्रह्मचर्य व्रत में युक्त करता है (यस्य-देवस्य-प्रशिषा-चरामः ) जिस आचार्य देव के शासन में हम ब्रह्मचारी लोग उस ब्रह्मचर्य को चरते हैं-सेवन करते हैं-( सः-पारम्-इच्छात् ) वह उसकी समाप्ति को चाहे-समाप्ति के लिये सहायता करे ( सः-उ-नः-विमुञ्चात् ) वह ही आचार्य हमें कामपाशों से छुड़ाता है ॥ १ ॥

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

( मेखले-आहुता-अभिहुता-असि ) हे मेखला, तू मेरे शरीर में आयाम-घेराई से गृहीत-कटि में बन्धी है तथा अभिमुख से कौपीन-लंगोटी द्वारा उपस्थ से गुदापर्यन्त बन्धी

है ( ऋषीणां-आयुधम्-असि ) ऋषित्व को प्राप्त तथा प्राप्त करने वालो का तू आयुध-शस्त्र कामशत्रु का नाशन साधन (व्रतस्य पूर्वा प्राश्नती वीरघ्नी भव ) ब्रह्मचर्य व्रत की प्रमुख प्राप्त कराने वाली और कामवीरों-प्रबल कामवासनाओ को नष्ट करने वाली है "अत्ता हि वीरः" ( शत. ४ । २ । १ । ६ । ॥ २ ॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय ।
तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

( यमाय-भूतात्-पुरुषं निर्याचन् ) सर्वनियन्ता परमात्मा के लिये-उसके समर्पण के लिये-उसकी प्राप्ति के लिये-भौतिक-देह से आत्मा को पृथक् करने के हेतु ( अहं मृत्योः-यत्-ब्रह्मचारी-अस्मि ) मैं मृत्यु का ही ब्रह्मचारी हूं गृहस्थाश्रम का ब्रह्मचारी नहूंगा-मृत्युपर्यन्त ब्रह्मचारी रहूंगा ( अहं-तम्-एनं -ब्रह्मणा-तपसा श्रमेण ) मैं उस मृत्यु को ब्रह्मचारी-वेदाध्ययन से -तप से-कर्म से ( अनया मेखलया सिनामि ) और इस मेखला-संयमनी द्वारा स्ववश करता हूं ॥ ३ ॥

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधिजाता स्वसा ऋषीणां भूतकृतां बभूव ।
सा नो मेखले मतिमाधेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

( श्रद्धायाः-दुहिता ) यह मेखला श्रद्धा-सत्यधारणा या आत्मशक्ति की दोहने वाली- प्रादुर्भूत करने वाली ( तपसः-अधिजाता ) ज्ञानमय अध्ययनरूप तप से ब्रह्मचारियों द्वारा अधिकृत की गई है ( भूतकृतां-ऋषीणां-स्वसा ) प्राणिसृष्टि कर्त्ता ब्रह्मा आदि मन्त्र द्रष्टाओं की स्वसारिणी-उनकी अपनी सहचारिणी तथा 'सु'-असा-सुगमता से आगे प्रेरित करने

वाली है गृहस्थ में पतनभय से बचाने वाली है ( मेखले-सा-नः-मतिम्-आ-वहि ) हे मेखला तू वह हमारे लिये-हमारे अन्दर मनन शक्ति का आधान कर ( तपः-इन्द्रियं च ) कर्मसामर्थ्य और इन्द्रिय संयम का भी आधान कर ॥ ४॥

यां त्वा पूर्वे भूतकृत ऋषयः परिबेधिरे ।
सा त्वं परि ष्वजस्व मां दीर्घायुत्वाय मेखले ॥ ५ ॥

( मेखले यां त्वां भूतकृतः-ऋषयः-परिधिबेरे ) हे मेखला जिस तुझको सन्तनोत्पादक या प्राणियों के नियम बनाने वाले ब्रह्मा आदि ऋषियों ने निज कटि में बान्धा है ( सा त्वं मां दीर्घायुत्वाय परिष्वजस्व ) वह तू मुझे दीर्घायु की प्राप्ति के लिये सब ओर से पूर्णरूप से आलिंगन कर बन्धी रहो ।५॥

# अथर्ववेद काण्ड ६ । सूक्त १३५ ।

ऋषिः—शुक्रः-( तेजस्वी "शुक्रं शोचतेर्ज्वलति कर्मणः
[ निरु० ८—१२ ]

देवता—वज्रः-( पाप से वर्जन कराने वाला आत्मपराक्रम
[ वीर्य एवं ओजः "वीर्यं वै वज्र. ( शत० १।३।७।५ )
वज्रो वा ओजः [ शत० ८ । ४ । १ । २७ ]

यद॒श्नामि॒ बलं॑ कुर्व इ॒त्थं वज्र॒मा द॑दे ।
स्क॒न्धान॒मुष्य॑ शा॒तय॑न् वृ॒त्रस्ये॑व॒ शची॒पतिः॑ ॥ १ ॥

( यत्—अश्नामि—बलं कुर्वे ) जो मैं खाऊं उससे स्वशरीर में बल धारण करता हूं बल का ह्रास हो ऐसा भोजनमात्र—स्वाद की दृष्टि या अविधि से नहीं करूं ( इत्थं वज्रम् ) इस प्रकार बलरूप वज्र को ( अमुष्य स्कन्धान्-शातयन्-आददे ) उस स्वास्थ्य विरोधी रोग के कारणों-अवयवों को नाश के हेतु ग्रहण करता हूं (वृत्रस्य-इव शचीपतिः) जैसे मेघ के अवयवों को शचीपति कर्मस्वामी इन्द्र विद्युत् वज्र को लेकर नष्ट करता है ॥१॥

यत्पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्र इ॑व संपि॒बः ।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ स॒म्पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम् ॥ २ ॥

( यत् पिबामि सं पिबामि ) जो पानीय सोम रसादि मैं सात्त्विकरस पीता हूं उसे सम्यक् पीता हूं ( समुद्रः-इव सम्पिबः ) जैसे सम्यक् पानकर्त्ता समुद्र नदियों के जल को सम्यक् पीता है ( वयम्-अमुष्य प्राणान् ) हम उस पाप के प्राणों को—अवकाशों को "प्राणा वा अवकाशाः" ( शत: १४ । १ । ४ । १ ) ( सम्पाय-अमुं-सम्पिबामः ) सम्यक् पीकर-पीने को "कृतो

बहुलम् "इत्यपि" भविष्यति भूत प्रत्ययः" उस पानीय को सम्यक् पीते हैं ॥२॥

यद् गिरामि सं गिरामि समुद्र इव संगिरः ।
प्राणानमुष्य संगीर्य सं गिरामो अमुं वयम् ॥ ३ ॥

( यत्–गिरामि संगिरामि संगिरः समुद्रः–इव ) जो मैं निगलता हूं उसे अन्दर पचाता हूं अङ्गीकार करता हूं सम्यक् निगरणशील समुद्र की भांति, जैसे समुद्र सारी नदियों को आत्मसात् करता है ( अमुष्य प्राणान्-सगीर्य ) उस विरोधी शत्रु के प्राणों को–यशवीर्यबलों को "प्राणो वै यशो वीर्यम्" ( शत १०।६।५।६ ) सम्यक् निगलने को ( वयम् अमुं संगिरामः ) हम उस प्राणप्रद वायु को सम्यक् निगलते हैं:—अङ्गीकार करते हैं ॥ ३ ॥

# अथर्ववेद काण्ड १० । सूक्त ७

ऋषिः—अथर्वा ( स्थिर-योगयुक्त )

देवताः—स्कम्भः, आत्मा वा ( स्कम्भ-विश्व का खम्भा या स्कम्भरूप आत्मा-चेतन तत्त्व-परमात्मा )

इस सूक्त पर सायणभाष्य नहीं है, परन्तु इस पर टिप्पणी में कहा है कि " स्कम्भ इति सनातनतमो देवो ब्रह्मणो ऽप्याद्यभूतः । अतो ज्येष्ठं ब्रह्म इति तस्य संज्ञा । विराडपि तस्मिन्नेव समाहितः" । अर्थात् स्कम्भ यह अत्यन्त सनातन देव है जो ब्रह्म से भी आदि है अतः ज्येष्ठ ब्रह्म यह उसका नाम है विराड् भी उसमें समाहित है । यह सायण का विचार है ॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग
ऋतमस्याध्याहितम् । क्व व्रतं क्व श्रद्धास्य
तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

( अस्य कस्मिन्‌अङ्गे-तपः-अधितिष्ठति ) इस स्कम्भ अर्थात् सर्वाधार भूत परब्रह्म के किसी भी अङ्गरूप एक देश स्थूल जगत् में तप-तपन क्रिया-परिणामकारी कर्म अधिष्ठित है-वर्तमान है ( अस्य कस्मिन्-अङ्गे-ऋतम्-अध्याहितम् ) इस आधार भूत परब्रह्म के किसी एकदेश सूक्ष्म रूपमें ऋत-ज्ञान-मनन रूप "मनो वा ऋतम्" ( जै०उ० ३।६।५ ) रखा है ( अस्य क्व व्रतं क्व श्रद्धा तिष्ठति ) इस,आधार भूत परब्रह्म के किसी भी एक देश में व्रत-कार्य करने का संकल्प तथा किसी भी देश में निजी शक्ति रहती है ( अस्य कस्मिन्-अङ्गे सत्यं प्रतिष्ठितम् ) इस पर-

ब्रह्म के किसी भी एक देश में सत्य धारक धर्म नियम प्रतिष्ठित हैं "यो धर्मः सत्यं वै तत्" ( शत. १४।२।२।६ ) ॥ १ ॥

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य
कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा ।
कस्मादङ्गात् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा
मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

(अस्य-कस्मात्-अङ्गात्-अग्निः-दीप्यते) इस आधाररूप परब्रह्म के किसी भी अङ्ग या प्रदेश से-पृथिवी लोक से अग्नि प्रकाशित होता है ( कस्मात्-अङ्गात्-मातरिश्वा-पवते ) किसी एकदेश अन्तरिक्ष से वायु गति करता है-प्रवाहित होता है। "पवते गतिकर्मा" ( निघ० २ । १४ ) ( कस्मात्-अङ्गात्-चन्द्रमाः-अधिविमिमीते ) किसी भी देश नाक्षत्रदेश से उसके अधिकृत चन्द्रमा विविध रूप से अपने को व्यक्त करता है ( महः-अङ्गं मिमानः ) और महान् अङ्ग-स्वाङ्ग को विशेष मान देता हुआ सूर्य वर्तता है "सूर्य इति प्रसङ्गात्" ॥२॥

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः
॥ ३ ॥

( अस्य कस्मिन्-अङ्गे-भूमिः-तिष्ठति ) इस सर्वाधार परब्रह्म के किसी भी एकदेश-अल्पस्थान में पृथिवी स्थित है -रहती है ( कस्मिन्-अङ्गे-अन्तरिक्षम्-तिष्ठति ) किसी एक देश में अन्तरिक्ष रहता है ( कस्मिन्-अङ्गे-आहिता-द्यौः-तिष्ठति ) किसी भी प्रदेश में द्युलोक स्थापित हुआ रहता है ( कस्मिन्-अङ्गे-दिवः-उत्तरं-तिष्ठति ) किसी भी भाग में द्युलोक से भी उत्कृष्ट मोक्ष धाम रहता है ॥३॥

क्व प्रेप्सन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्व प्रेप्सन् पवते मातरिश्वा ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः
॥ ४ ॥

( क्व-प्रेप्सन्-ऊर्ध्वः-अग्निः-दीप्यते ) किसी देव एक देव में प्रेप्सा-प्राप्ति की इच्छा करता हुआ सा ऊँचा हुआ सूर्यरूप अग्नि या ऊर्ध्वमुख हुआ पार्थिव अग्नि दीप्त होता है (क्व प्रेप्सन्-मातरिश्वा पवते ) किसी भी देव में प्रेप्सा-प्राप्ति की इच्छा करता हुआ वायु चलता है ( यत्र-आवृतः-प्रेप्सन्तीः-अभियन्ति ) जिस देव में प्राप्ति की इच्छा करती हुई घूमने वाली जल धारायें आगे आगे जारही है ( तं स्कम्भं-ब्रूहि-कतमः-स्वित्-एव सः ) उस आधार भूत देव को बता-विचार हे ऋषे बहुतों में कौन सा या सुखतम ही है ॥४॥

क्वार्धमासाः क्व यन्ति मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः ।
यत्र यन्त्यृतवो यत्रार्तवा स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥५॥

( क्व-अर्धमासाः-क्व मासाः संवत्सरेण सह संविदानाः-यन्ति ) किसी देव में अर्धमास-पक्ष-शुक्ल कृष्ण पक्ष तथा किसी देव में मास-चैत्र-वैशाख आदि मास संवत्सर के साथ समभाव को प्राप्त हुये पहुंचते हैं ( यत्र-ऋतवः-यत्र आर्त्तवाः-यन्ति ) जिस देव में वसन्त आदि ऋतुयें जिसही देव में ऋतु के भाग रूप धर्म-चिन्ह लक्षण जाते हैं ( स्कम्भं-तं-ब्रूहि-कतमः स्वित्-एव सः ) बहुतों में कौन सा या अत्यन्त सुखस्वरूप वह है यह बता-विचार ॥५॥

क्व प्रेप्सन्ती युवती विरूपे अहोरात्रे द्रवतः संविदाने ।
यत्र प्रेप्सन्तीरभियन्त्यापः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः
॥ ६ ॥

( क प्रेप्सन्ती-युवती विरूपे अहोरात्रे संविदाने द्रवतः ) किसी देव के अन्दर लक्ष्यप्राप्ति की इच्छा करते हुये मिश्रण धर्म वाली दो कुमारियों के समान दोनों दिन और रात्रि सहभाव को सेवन करते हुये चलते रहते हैं ( यत्र-प्रेप्सन्तीः-आपः-अभियन्ति ) जिस ही देव के अन्दर लक्ष्य प्राप्ति की इच्छा रखती हुई जलधारायें-नदियां पहुंचतीं हैं ( स्कम्भं तं ··· ) पूर्ववत् ॥६॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वा अधारयत् ।

स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

( प्रजापतिः-सर्वान्-लोकान् ) प्रजापति-प्रजाओं-जङ्गम प्राणि वनस्पतियों का पालक वायु सारे लोकों को ( स्तब्ध्वा-यस्मिन्-अधारयत् ) स्तब्ध करके नियन्त्रित करके जिस आश्रय पर धारण करता है ( तं स्कम्भं ··· ) उस स्कम्भ-सर्वाधार को बोल-विचार कौन सा या अत्यन्त सुख स्वरूप है ॥ ७ ॥

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।

कियता स्कम्भः प्रविवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ॥ ८ ॥

( प्रजापतिः-यत्-विश्वरूपं परमं मध्यमं यत्-च-अवमं विससृजे ) वह समष्टिरूप वायु "य एष वायुः प्रजापतिः तस्मिन् त्रैष्टुभेऽन्तरिक्षे समन्ते पर्यक्त" ( शत: ८ । ३ । ४ । १५ ) मध्यस्थानीयदेवता प्रजापतिः "प्रजानां पाता वा पालयिता वा ( निरुक्त १० । ४४ ) उस विश्वरूप में हैं ऐसे परम द्युलोक-सूर्यादि-मध्यम अन्तरिक्ष लोक गत चन्द्रादि अवम-पृथिवीजातीय लोक अपने आश्रय में विशेष गतिमान् करता है ( स्कम्भः

कियता-तत्-प्रविवेश ) स्कम्भ-सर्वाधार देव कितने अर्थात् कुछ अल्प अंश से ही उसमें प्रविष्ट है उस सर्वाधार के अनन्त होने से (यत् न प्राविशत् तत् कियत्-बभूव) जो प्रविष्ट नहीं हुआ वह कितना असीम है "पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतंदिवि ॥ ८ ॥

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य ।
एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥ ९ ॥

( स्कम्भः-भूतं-कियता-प्रविवेश ) सर्वाधार परमात्मा मूर्तजगत् में कितने अर्थात् कितने ही अल्प अश से प्रविष्ट है ( अस्य-कियत्-भविष्यत्-आशये ) इसका कितना ही अल्प अंश भविष्यत् जगत् में व्याप्त है अर्थात् भूत और भविष्य जगत् आधार भूत परमात्मा के एकांश में साश्रित है ( यत्-एकम्-अङ्गम्-सहस्रधा-अकृणोत् ) जो एक अङ्ग-प्रकृति नामक अव्यक्त को असंख्य रूपों में कर देता है जैसे उपनिषद् में "एकं बीजं बहुधा यः करोति" ( श्वेता० ) ( स्कम्भः कियता तत्र प्रविवेश ) सर्वाधार परमात्मा कितने ही थोडे अंश से निकटवर्ती जगत् में प्रविष्ट है "एतावानस्य महिमातो ज्यायांश्च पूरुषः पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" ॥ ९ ॥

यत्र लोकांश्च कोशांश्चापो ब्रह्म जना विदुः ।
असंच्च यत्र सच्चान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १० ॥

( यत्र लोकान् च कोशान् च-अपः-ब्रह्म-जनाः-विदुः ) जिस सर्वाधार परमात्मा में पृथिवी आदि लोक और परिधि-

रूप कोशों को व्यापक तन्मात्राओं को और बृहद् ब्रह्माण्ड को स्थित हुये विद्वान् जानते मानते ( यत्-अन्तः सत्-च-असत् -च-तं स्कम्भं ब्रूहि ) जिसके अन्दर सत्-व्यक्तजगत्-असत्-अव्यक्त प्रकृति रहती है उस सर्वाधार को बतला-विचार-कौन सा या अत्यन्त सुखद है ॥ १० ॥

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् ।
ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ११ ॥

( यत्र तपः-उत्तरं व्रतं-पराक्रम्य धारयति ) जिस सर्वाधार पर ब्रह्म में तप अर्थात् परिणाम कारक बल जगद्रचन-बल "स तपस्तप्त्वा सर्वमसृजत्" उत्कृष्टनियम को प्राप्त होकर जगत् को धारण करता है ( यत्र-ऋतं च-श्रद्धा च-आपः-ब्रह्म-समाहिताः ) जिस आधाररूप ब्रह्म में वेदज्ञान श्रद्धा -स्वाभाविकी शक्ति और व्यापनशील तन्मात्राएं तथा ब्रह्माण्ड रखे हैं ( स्कम्भं तं······ ) उस सर्वाधार को बता विचार वह कौन सा या अत्यन्त सुखद है ॥ ११ ॥

यस्मिन्भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता ।
यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः;
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १२ ॥

( यस्मिन्-भूमिः-अन्तरिक्षं-यस्मिन् द्यौः-अध्याहिता ) जिस भी आधारभूत परमात्मा में पृथिवीलोक अन्तरिक्ष-लोक और द्यु लोक अधिष्ठित हैं ( यत्-अग्निः-चन्द्रमाः-सूर्यः-वातः-अर्पितः-तिष्ठन्ति ) जिस में अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, और वात ये अधिष्ठित हैं ( स्कम्भं:··· ) पूर्ववत् ॥ १२ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १३ ॥

( यस्य—अङ्गे—त्रयस्त्रिशत्—सर्वे—देवाः—समाहिताः—तं स्कम्भं ) जिस ही आधारभूत परमात्मा के तेतींस सारे देव आठ वसु ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य शास्त्रप्रदर्शित रखे हैं अथवा तीनों लोकों में वर्तमान ग्यारह ग्यारह प्रमुख पदार्थ समाश्रित हैं ( तं स्कम्भ··· ) पूर्ववत् ॥ १३ ॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही ।
एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१४॥

( यत्र प्रथमजाः—ऋषयः ) जिसके आश्रय आधारभूत परब्रह्म में प्रथम प्रादुर्भूत साङ्कल्पिक वेदप्रकाशक अग्नि—वायु-आदित्य—अङ्गिरा नामक प्रसिद्ध ऋषि हैं ( ऋचः—साम—यजुः-मही ) ऋग्वेद सामवेद यजुर्वेद महतीविद्या—ब्रह्मविद्या—ब्रह्मवेद-अथर्ववेद उन ऋषियों के प्रकाश्य विषय आश्रित हैं ( यस्मिन्—एकर्षिः—आर्पितः ) जिसके आश्रित उनके पश्चात् उत्पन्न एक सांसिद्धिक ऋषि उन अग्नि आदि से वेद को पढ़कर चतुर्वेदवेत्ता ब्रह्मा नाम का "ब्रह्मा-ह-वै देवानां प्रथमो बभूव" ( मुण्डको० १-१-१ ) परम्परा से आश्रित है ( स्कम्भं तं··· ) उस सर्वाधार—को कह विचार वह बहुतों में कौनसा या अत्यन्त सुखप्रद है ॥ १४ ॥

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते ।
समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १५ ॥

( यत्र पुरुषे-अधि-अमृतं-च-मृत्युः-च-समाहिते ) जिस पूर्ण पुरुष परमात्मा के अन्दर जीवों के लिये अमृत-मोक्षधाम और मृत्यु-मृत्युमय लोक समाश्रित हैं ( यस्य समुद्रः-नाड्यः ) जिसके आश्रित "यस्य हि सप्तम्यां षष्ठी" समुद्र अन्तरिक्ष नाडियां अमृत धाम और मृत्युधाम के मध्ये जीवों के आने जाने को नाडियाः-नालियां-पगडंडियां हैं ( स्कम्भंतं. बूहि... ) पूर्ववत् ॥ १५ ॥

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः ।
यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं बूहि कतमः स्विदेव सः
॥ १६ ॥

(यस्य चतस्रः-दिशः) जिसकी रची चारों दिशायें (प्रथमाः-नाड्यः-तिष्ठन्ति ) प्रथम प्रकट हुई समस्त लोकों के गतिक्रम के लिये चलने की पद्धतियां हैं ( यत्र यज्ञः-पराक्रान्तः ) जिसके आश्रय में समष्टि यज्ञ सारी सृष्टि पसरी हुई है ( स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः... ) पूर्ववत् ॥ १६ ॥

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् ।
यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् ।
ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनु संविदुः ॥ १७ ॥

( ये पुरुषे ब्रह्म विदुः ) जो पूर्ण पुरुष परमात्मा में रखे ब्रह्माण्ड को जानते हैं ( ते परमेष्ठिनं विदुः ) वे परमेष्ठी-परम स्थान में स्थित परमाणुमय आकाश को जानते हैं "आपो वै प्रजापतिः परमेष्ठी ता हि परमे स्थाने तिष्ठन्ति" ( शत० ८।१२।३। १३। ) ( यः परमेष्ठिनं वेद यः-च-प्रजापतिं वेद ) जो जन पूर्वोक्त

परमेष्ठी को जानता है और प्रजापति को जानता है (ये ज्येष्ठं ब्राह्मणं विदुः) वे महान् वैश्वानर अग्नि को जानते हैं "एष वा अग्निर्वैश्वानरो यद् ब्राह्मणः" (ऐत० ३।७।३।२) (तं स्कम्भम्-अनु-संविदुः) वे विद्वान् सर्वाधार परमात्मा को अनुकूलता से सम्यक् जानते हैं ॥ १७ ॥

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् ।
अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥

(वैश्वानरः-यस्य शिरः) व्याप्त अग्नि या द्युलोक जिसका शिर है (अङ्गिराः-चक्षुः-अभवत्) पिण्डरूप अग्नि जिसका नेत्र "अङ्गिरा वा अग्निः" (शत० ६।४।४।४) (यातवः-यस्य-अङ्गानि) आकाश में चलने वाले ग्रह तारे जिसके अङ्ग हैं-गात्र हैं (स्कम्भम्...) पूर्ववत् ॥ १८ ॥

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत ।
विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥१९॥

(यस्य मुखं-ब्रह्म-आहुः) जिसका मुख विद्युत् का परम अवकाश कहते हैं "ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम" (तै० ३।९।५।५) (उत मधुकशाम्-जिह्वाम्) और मधु-जल को कशने-प्रेरित करने वाली विद्युत् को जिह्वा कहते है "मधु-उदकनाम" (नि० १।१२) "कश गतिशासनयोः" (तुदादि०) (विराजम्-ऊधः) विराज् वृष्टि को ऊधः-दुग्ध प्रस्रवण कहते हैं क्योंकि जल को स्रवित कराती है "वृष्टि वै विराट्" (शत. १२।८।३।११) (स्कम्भं तं...) पूर्ववत् ॥१९॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् ।
सामानि यस्य लोमानि अथर्वाङ्गिरसो मुखम् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २० ॥

(यस्मात्-ऋचः-आपातक्षन्) जिस सर्वाधार परब्रह्म परमात्मा से ऋग्वेद के मन्त्र प्रगट हुये "कर्मणि कर्तृ प्रत्ययः" (यस्मात्-यजुः-अपाकषन्) जिससे यजुर्वेद के मन्त्र निःसृत हुये (सामानि यस्य लोमानि) सामवेद के मन्त्र जिसके लोमसूक्ष्म बालों के समान स्वभाव से प्रसिद्ध हुये (अथर्वाङ्गिरसः-मुखम्) अथर्वा-स्थिर ध्यानीजन और आङ्गिरस अङ्गों के रसादि को जानने वालों के दृष्ट मन्त्र "तद्धि प्रत्ययलोप श्छान्दसः" अथर्ववेद मन्त्र मुख के समान जिसके हैं (स्कम्भम् ) पूर्ववत् ॥२०॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्ती परममिव जना विदुः ।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

(प्रतिष्ठन्ती असच्छाखां-परमम्-इव-जनाः-विदुः) सम्मुख वर्तमान हुई सृष्टि के असत् अर्थात् अव्यक्त प्रकृति की शाखा को परम तत्त्व जैसा ही जन जानते हैं कार्यरूप नश्वर को जानकर इसमें ही रमण नहीं करते (उत-उ-ये-अवर-शाखां-उपासते) अपितु वैसे जो निकृष्ट जन हैं वे तो इस सत् ही मानते हैं वे शाखा सृष्टि को ही सेवन करते हैं ॥२१॥

यत्रादित्याश्च रुद्राश्च वसवश्च समाहिताः ।
भूतं च यत्र भव्यं च सर्वे लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २२ ॥

( यत्र-आदित्याः-च-रुद्राः-च-वसवः-च-समाहिताः ) जिस आधाररूप परमात्मा में द्वादश आदित्य ग्यारह रुद्र और आठ वसु समाश्रित हैं ( यत्र-भूतं-च-भव्यं-सर्वे-लोकाः-प्रतिष्ठिताः ) जिसमें भूत भविष्यत् और वर्तमान काल तथा सारे लोक वर्तमान हैं ( स्कम्भं... ) पूर्ववत्... ॥ २२ ॥

यस्य॒ त्रय॑स्त्रिंशद् दे॒वा नि॒धिं रक्ष॑न्ति स॒र्वदा ।

नि॒धिं तम॒द्य को वे॑द॒ यं दे॑वा अ॒भिरक्ष॑थ ॥ २३ ॥

( यस्य-निधिं-त्रयस्त्रिंशत्-देवाः-सदा रक्षन्ति ) जिस सर्वाधार परमात्मा के निधि-गुण शक्ति कृति सञ्चय की तेंतीस देव रक्षा करते हैं ( देवाः-अद्य-तं निधिं कः-वेद-यम्-अभिरक्षथ ) देवो-विद्वानों ! उस गुण शक्ति कृति-सञ्चय को आज सृष्टि-काल में कौन जानता है कोई विरला ही जानता है जिसकी तुम सब प्रकार रक्षा करते हो ॥ २३ ॥

यत्र॑ दे॒वा ब्र॑ह्मवि॒दो ब्रह्म॑ ज्ये॒ष्ठमु॒पास॑ते ।

यो वै तान् वि॒द्यात् प्र॒त्यक्ष॒ स ब्र॒ह्मा वेदि॑ता स्यात् ॥२४॥

( यत्र ब्रह्मविदः-देवाः-ज्येष्ठं ब्रह्म-उपासते ) जिस आधार-भूत में वर्तमान हुये ब्रह्मवेत्ता विद्वान् उसी को ज्येष्ठ ब्रह्म मानकर उपासना करते हैं ( यः-वै तान् प्रत्यक्षं विद्यात् ) जो उन उपासना करने वालों को प्रत्यक्ष प्राप्त करे उनकी शिष्यता स्वीकार करे ( सः-वेदिता ब्रह्मा स्यात् ) वह भी ब्रह्मसाक्षात्कार का लाभ लेने वाला ब्रह्मा होजावे ॥ २४ ॥

बृ॒हन्तो॒ नाम॒ ते दे॒वा येऽस॑त॒ः परि॑ जज्ञि॒रे ।

एकं॒ तदङ्गं॑ स्क॒म्भस्यास॑दाहु॒ः प॒रो जना॑ः ॥ २५ ॥

( असतः-ये परिजज्ञिरे ) असत्-अव्यक्त प्रकृतिनामक उपादान से सर्वतः उत्पन्न हुये हैं ( ते बृहन्तः नाम देवाः ) वे दिव्य गुणवाले पदार्थ संख्या में बहुत हैं ( स्कम्भस्य तत्-एकं-अङ्गं परः-असत्-जनाः-आहुः ) सर्वाधार परमात्मा का वह एक अङ्ग-देश है जो कि परः-अत्यन्त असत्-अव्यक्त प्रकृतिनामक है ऐसा सज्जन लोग कहते हैं ॥२५॥

यत्रं स्कुम्भः प्रजनयंन् पुराणं व्यवर्तयत् ।

एकं तदङ्गं स्कुम्भस्यं पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

( स्कम्भः प्रजनयन् यत्र पुराणं व्यवर्तयत् ) सर्वाधारभूत परमात्मा जगदुत्पादन हेतु-जगत् उत्पन्न करने के लिये जिस अङ्गरूप अव्यक्त प्रकृति में पुराणरूप-पुराने रूप को विवर्तित करता है-जगत् रूप में परिणत करता है (स्कम्भस्य तत्-एकम्-अङ्गं पुराणम्-अनुसंविदुः ) सर्वाधारभूत परमात्मा का वह अव्यक्तरूप पुरातन एक अङ्ग अनुसन्धान से अनुमान से जानते हैं ॥ २६ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे ।

तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

( यस्य अङ्गे त्रयस्त्रिंशत्-देवाः-गात्रा विभेजिरे ) जिस सर्वाधार परमात्मा के अङ्ग-अव्यक्त प्रकृति नामक में पूर्वोक्त तेंतीस देव गात्रभूत विभक्त हो गये हैं ( तान्-त्रयस्त्रिशत्-देवान्-वै-एके ब्रह्मविदः-विदुः ) उन तेंतीस देवों को कुछेक ब्रह्मवेत्ता जानते हैं ॥२७॥

हिरण्यगर्भं परममनत्युद्यं जना विदुः ।

स्कुम्भस्तदग्रे प्रासिञ्चद्धिरण्यं लोके अन्तरा ॥ २८ ॥

( जना: परमम्–अनत्युद्यम् हिरण्यगर्भंविदु: ) साधारण जन पर में होने वाले अनतिक्रमण करके–प्रथमता से वक्तव्य हिरण्यगर्भ नामवाले सृष्टि से पूर्व होने वाले को जानते हैं, परन्तु (स्कम्भ:·अग्रे लोकं·अन्तरा तत् हिरण्य प्रासिञ्चत् ) जगदाधार-भूत परमात्मा सृष्टि से पूर्व लोकनीय–दर्शनीय हिरण्यगर्भ के अन्दर हिरण्य को सींचता है जिस से हिरण्यगर्भ उत्पन्न होता है ॥ २८ ॥

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम् ।
स्कम्भं त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

( स्कम्भे लोका: ) जगदाधार परमात्मा में पृथिवी आदि लोक स्थित हैं ( स्कम्भे तप: ) जगदाधार परमात्मा में लोकों का तप–नियन्त्रण कर्म भी स्थित है ( स्कम्भे·अधि·ऋतम् आहितम् ) जगदाधार परमात्मा में ही ऋत अर्थात् ज्ञान स्थित है ( स्कम्भं त्वा प्रत्यक्षं वेद ) हे स्कम्भरूप जगदाधार परमात्मन् , तुझे मैं प्रत्यक्ष जानता हूं ( इन्द्रे सर्वं समाहितम् ) तुझ ऐश्वर्यवान् परमात्मा में सब कुछ सम्यक् आश्रित है ॥ २९ ॥

इन्द्रे लोका इन्द्रे तपः इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥

(इन्द्रे लोका:·इन्द्रे तप:·इन्द्रे·अधि·ऋतम्·आहितम् ) इन्द्र नामक परमात्मा में लोक इन्द्र में तप इन्द्र में ऋत–ज्ञान आश्रित है ( इन्द्रं त्वा प्रत्यक्षं वेद ) हे इन्द्र परमात्मन् ! तुझे मैं प्रत्यक्ष-साक्षात् जानता हूँ (स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ) सर्वाधार परमात्मा में सब प्रतिष्ठित है ॥ ३० ॥

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः ।
यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय ।
यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ॥ ३१ ॥

(पुरा सूर्यात् पुरा-उषसः) सूर्योदय से पूर्व उषाकाल से भी पूर्व (नाम्ना नाम जोहवीति) एक नाम से दूसरे नाम को जैसे यहां "स्कम्भ" नाम से "इन्द्र" नाम को तथा "इन्द्र" नाम से "स्कम्भ" नाम को पर्याय से तथा अन्तिम नाम पर्याय जिसका कोई नहीं वैसा अन्तिम नाम स्वकीय स्वरूपतः अनन्य नाम "ओ३म्" जिसके विषय में वेद में कहा है "ओ३म् क्रतो स्मर" (यजु० ४० १७) तथा "ओ३म् खंब्रह्म" (यजु० ४०।१७) उस "ओ३म्" नाम की उत्कृष्टता से जो अर्थदृष्टि से उपासक अर्थसहित पुनः पुनः आवृत्ति से अपने आत्मा में अनुभव करता है (यत्-अजः प्रथमं-सम्बभूव) जो कि ओम् नाम का वाच्य प्रथम सिद्ध है (स-ह तत् स्वराज्यम्-इयाय) वह उसका उपासक उस मोक्ष पद में स्वराज्य को प्राप्त होता है जैसे उपनिषद् में कहा है "प्राप्नोति स्वाराज्यं ज्योग् जीवाति" (तै. उ. १।६।२) (यस्मात् परम्-भूतम्-अन्यत् न-अस्ति) जिससे उत्कृष्ट वस्तु अन्य नहीं है ॥ ३१ ॥

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३२॥

(यस्य प्रमा भूमिः) जिस सर्वाधार परमात्मा की पाद-स्थानीय पृथिवी है (उत-उदरम्-अन्तरिक्षम्) और अन्तरिक्ष उदरपेट के समान है—(यः-मूर्धानं दिवं चक्रे) जिस परमात्मा ने द्यौः-लोक को मूर्धा किया है बनाया है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नम्री भाव है ॥ ३२ ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

(यस्य सूर्यः-पुनर्णवः-चन्द्रमाः-च चक्षुः) जिस परमात्मा का सूर्य और पुनः पुनः नव रूप में होने वाला चन्द्रमा नेत्र-आंख हैं (यः अग्निम्-आस्यं चक्रे) जो अग्नि को अपना मुख करता है (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः) पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुराङ्गिरसोऽभवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३४ ॥

(यस्य वातः प्राणापानौ) जिस सर्वाधार के प्राण और अपान के तुल्य वात हैं (यस्य चक्षुः-आङ्गिरसः-अभवन्) जिस परमात्मा के नेत्र स्थानीय-नेत्र दृष्टियां आङ्गिरस-विविध रश्मियां हैं (यः-दिशः प्रज्ञानीः-चक्रे) जिस परमात्मा ने श्रोत्रवृत्तियाँ बनाईं हैं (तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे-नमः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म के लिये नम्री भाव है ॥ ३४ ॥

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे
स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् ।
स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः
स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमाविवेश ॥ ३५ ॥

(स्कम्भः-उभे-इमे द्यावापृथिवी दाधार) जगदाधार परमात्मा दोनों इन द्युलोक और पृथिवीलोक को धारण करता है (स्कम्भः-अन्तरिक्षं दाधार) वह ही विस्तृत अन्तरिक्ष को धारण करता है (स्कम्भः-उर्वीः-षट् प्रदिशः-दाधार) सर्वा-

धार परमात्मा विस्तृत छः दिशाओं को धारण करता है (स्कम्भे-इदं विश्वं भुवनम्-आविवेश) सर्वाधार परमात्मा में यह सब जगत् समस्तरूप से प्रविष्ट है ॥ ३५ ॥

यः श्रमात्तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे ।

सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

( यः—श्रमात् तपसः—जातः ) जो सर्वाधार परमात्मा स्वाभाविक कर्म से और ज्ञानमय तप से प्रसिद्ध हुआ "तस्य ज्ञानमयं तपः" (सर्वान्—लोकान्—समानशे ) सारे लोकों को व्याप्त करता है ( यः केवलं सोमं चक्रे ) जिसने सब ओषधियों में केवल श्रेष्ठ सोम को बनाया है ॥३६॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः ।

किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदाचन ॥ ३७ ॥

(वातः कथं न-इलयति ) गतिशील वायु कैसे गति न कर सके—कब अपनी गतिप्रवृत्ति को रोक सके ( मनः-कथं-न रमते ) मन कैसे एक वस्तु में रमण नहीं कर रहा है—कैसे चञ्चलता को छोड़ दे ( आपः किं सत्यं प्रेप्सन्तीः-न कदाचन-इलयन्ति ) जलधारायें—नदियां किस सत्य को चाहती हुई किसी समय गति न कर सकें अर्थात् इन सबका सत्य स्कम्भ जगदाधार परमात्मा है उसके नियम का आचरण करते हुये गति कर रहे हैं यह आकांक्षा है ॥ ३७ ॥

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।

तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा

वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

(भुवनस्य मध्ये) प्राणी होते हैं जिसमें उस पृथिवी लोक पर वर्तमान (तपसि क्रान्तम्) तप्यमान आदित्य में "असौ वा आदित्यः तपः" (शत० ८।७।१।५) स्व तेजोधन से प्राप्त (सलिलस्य पृष्ठे) सरणशील वायु के पृष्ठ—अन्तरिक्ष में "अयं वै सरिरो वायुः योऽयं पवते-एतस्माद् वै सरिरात् सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि" (शत० १४।२।२।३) (महत्-यक्षम्) अत्यन्त सङ्गमनीय ज्येष्ठ ब्रह्म है (तस्मिन्-श्रयन्ते ये-उ-के च देवाः) उस ज्येष्ठ ब्रह्म स्कम्भरूप में आश्रय लेते हैं जो भी कोई दिव्यगुण पदार्थ हैं (वृक्षस्य परितः-स्कन्धः शाखाः-इव) जैसे वृक्ष के ऊपर सब ओर टहनी और शाखायें होती हैं ॥ ३८ ॥

यस्मै हस्ताभ्यां पादाभ्यां वाचा श्रोत्रेण चक्षुषा ।
यस्मै देवाः सदा बलिं प्रयच्छन्ति विमितेऽमितं
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ३९ ॥

(देवाः—यस्मै हस्ताभ्यां पदाभ्यां वाचा श्रोत्रेण—चक्षुषा) मुमुक्षु विद्वान् जन जिस जगदाधार परमात्मा के लिये—उसकी प्राप्ति के लिये हाथों से दान अन्य का त्राण, पैरों से यथार्थ गमन, वाणी से सत्य भाषण—स्तुति, कानों से प्रवचन सद्गुण श्रवण आँख, से सद्दर्शन कर्म का आचरण करते हैं (यस्मै सदा बलिं प्रयच्छन्ति) जिसके लिये स्वात्मभाव को या उपासना को सदा समर्पित करते हैं (विमिते-अमितं स्कम्भं-तं-ब्रूहि-कतमः स्वित्-एव सः) विविध रूप से निर्मित जगत् में अनिमित कारण जगदा-धार को बता-विचार वह कौनसा या अत्यन्त सुखद है ॥ ३९ ॥

अप तस्य हतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना ।
सर्वाणि तस्मिञ्ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥

( तस्य तमः—अपहतम् ) उस परमात्मा के पास से अन्धकार पृथक् रहता है वहाँ अन्धकार का क्या काम ? उसके प्रकाशस्वरूप होने से ( सः-पाप्मना व्यावृत्तः ) वह पाप से पाप सम्पर्क से भी पृथक् है ( तस्मिन् प्रजापतौ ) उस प्रजापालक प्रजास्वामी परमात्मा में ( यानि त्रीणि ज्योतींषि ) जो तीन ज्योतियां-अग्नि विद्युत् सूर्य हैं-वे सब प्रजापति परमात्मा के अधीन हैं वह उनका विधाता है ॥ ४० ॥

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद ।
स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥४१॥

( यः सलिले तिष्ठन्तं हिरण्ययं वेतसं वेद ) जो सरणशील महान् संसार में ठहरे हुए हिरण्यय-हिरण्मय-सौवर्ण-सुनहरे गर्भ ब्रह्माण्डमूल वेतस-लघुतर-छोटे पौधे जैसे प्रसरणशील सन्ततिकर्म को प्राप्त किये हुए हैं ( सः-वै गुह्यः प्रजापतिः ) वह गुहायोग्य-अन्दर व्याप्ति योग्य प्रजापति परमात्मा है वह विविध प्राणियों की उत्पत्ति करता है ॥ ४१ ॥

तन्त्रमेके युवती विरूपे अभ्याक्रामं वयतः षण्मयूखम् ।
अन्या तन्तूंस्तिरते धत्ते अन्या नाप वृञ्जाते न गमातो अन्तम्
॥ ४२ ॥

( एके विरूपे युवती ) एक लक्ष्यवाली भिन्न-भिन्न रूपवाली दो मिश्रण स्वभाववाली रजोवीर्यशक्तियां ( षण्मयूखं तन्त्रम्-अभ्याक्रमं वयतः ) रस, रक्त, मांस ये तीन रेतः शक्तियों से तथा स्नाव-नाडीतन्तुजाल, मज्जा-चर्बी, अस्थी-हड्डी ये तीन वीर्यशक्तियों से । 'इस प्रकार ये छः धातुएं कील के समान जिसमें हैं' ऐसे शरीर तानें वाने को परस्पर सहयोग के साथ बुनती हैं-विस्तृत करती हैं (अन्या तन्तून् प्रतिरते-अन्या धत्ते)

उन दोनों में से एक नलिका समान वीर्यशक्ति सन्तानतन्तुओं को बिखेरती है—डालती है उससे भिन्न दूसरी रजः शक्ति सन्धान करती है उनको मिलाती है ( न-अपवृञ्जाते न-अन्तं गमातः ) एवं ये दोनों शक्तियां सन्तानकार्य से अलग न होती हैं न कार्य का अन्त प्राप्त करती हैं, इस प्रकार संसार प्रवर्तित रहता है ॥ ४२ ॥

तयोरहं परिनृत्यन्त्योरिव न विजानामि यतरा परस्तात् ।
पुमानेनद् वयत्युद् गृणत्ति पुमानेनद् वि जभाराधि नाके
॥ ४३ ॥

(तयोः परिनृत्यन्त्योः-इव) उन दोनो रजः शक्ति वीर्यशक्तियों के ( न विजानामि यतरा परस्तात् ) इस वृत्त को नहीं समझता हूं कि—जो कोई भी एक परभूत है अवर नहीं। यतः ( पुमान्-एनत्-वयति-उद्गृणत्ति ) इन शक्तियों के ऊपर पुरुष परमात्मा इस शरीर ताने को तानता है और उद्धरण करता है—उखाड़ता है ( पुमान्-एनत्-विजभार-अधिनाके ) पुरुष परमात्मा ही इस संसार ताने को विशेषरूप से पोषित करता है अपने सुखमय स्वरूप में वर्तमान हुआ ॥ ४३ ॥

इमे मयूखा उप तस्तभुर्दिवं सामानि चक्रुस्तसराणि वातवे ॥४४॥

( इमे मयूखाः-दिवम्-उपतस्तभुः ) ये मयूख-रश्मियां "मयूखाः-रश्मयः" ( निघ० १ । ५ ) जैसे द्युलोक को ऊपर उठाए हुये हैं ऐसे 'रस, रक्त, मांस, स्नाव, हड्डी, मज्जा' मयूख भी शरीर को सम्हाल रही है (वातवे तसराणि सामानि चक्रुः) संसार और शरीर को बुनने—तानने को सूक्ष्मरूप तन्तुतत्त्वओं को समभाव से करते हैं—यथावत् करते हैं ॥ ४४ ॥

## अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ४ ॥

ऋषिः—भार्गवो वैदर्भिः ( "भृगुर्भृज्यमानो न देहे" [ निरु० ३ । १७ ]—तेजस्वी आचार्य का शिष्य वैदर्भि—विविध जल और ओषधियां "यद् दर्भा आपश्च ह्येता ओषधयश्च" ( शत० ७ । २ । ३ । २ ) "प्राणा व आपः" [ तै० ३ । २ । ५ । २] तद्वेत्ता–उनका जानने वाला ।

देवता—( प्राण समष्टि व्यष्टि प्राण )

इस सूक्त में जड जङ्गम के अन्दर गति और जीवन की शक्ति देनेवाला समष्टिप्राण और व्यष्टिप्राण का वर्णन है जैसे व्यष्टिप्राण के द्वारा व्यष्टि का कार्य होता है ऐसे समष्टिप्राण के द्वारा समष्टि का कार्य होता है । सो यहां दोनों का वर्णन एक ही नाम और रूप से है—

**प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे ।**
**यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥**

( प्राणाय नमः ) समष्टि प्राण के लिये स्वागत है ( यस्य–इदं सर्वं वशे ) जिसके यह सब जगत् वश में है ( यः सर्वस्य–ईश्वरः–भूतः ) जो सब समष्टि या जगत् का ईश्वर–स्वामी 'भूत'-सम्भूत'-सिद्ध है ( यस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितम् ) जिस प्राण पुरुष में सब प्रतिष्ठित–रखा है ॥ १ ॥

**नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।**
**नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥**

( प्राण ते क्रन्दाय नमः ) हे समष्टि प्राण ! तुझ मेघों में क्रन्दन विविध गमन करनेवाले के लिये स्वागत है "क्रदि वैक्लव्ये" ( भ्वादि० ) "क्लुङ् गतौ" ( भ्वादि० ) ( ते स्तनयित्नवे नमः ) तुझ मेघों में गर्जना करनेवाले के लिये स्वागत है। ( प्राण ते विद्युते नमः ) हे प्राण तुझ मेघों में विद्योतन करने वाले के लिये स्वागत है ( प्राण ते वर्षते ) हे प्राण तुझ मेघों से जल वर्षाते हुए के लिये स्वागत है ॥ २ ॥

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः ।
प्र वीयन्ते गर्भान् दधतऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥

( प्राणः-यत् स्तनयित्नुना-ओषधीः-अभिक्रन्दति ) समष्टि-प्राण जो गर्जना करने वाल रूप से ओषधियों के प्रति विविध रूप में जाता है ( प्रवीयन्ते ) वे प्रजनन धर्म को प्राप्त होती जाती हैं ( गर्भान् दधते ) गर्भों को धारण करती हैं ( अथ बह्वीः-विजायन्ते ) अनन्तर वे बहुत उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ३ ॥

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः ।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

( प्राणः-यत्-ऋतौ-आगते-ओषधीः-अभिक्रन्दति ) समष्टिप्राण जब कि ऋतु आने पर ओषधियों के प्रति विविध गति करता है, तो ( यत् किञ्च भूम्याम्-अधि ) जो कुछ भी पृथिवी पर है ( तदा सर्वं प्रमोदते ) तब सब प्रमोदित होता है ॥ ४ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत् प्रमोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

( यदा प्राणः-वर्षेण महीं पृथिवीम्-अभ्यवर्षीत् ) जब समष्टि-प्राण वर्षा द्वारा महती पृथिवी को सींच देता है ( तत् पशवः प्रमोदन्ते नः-वै महः-भविष्यति ) पशु प्रमोदित होते हैं, निश्चय हमारे लिये महत्-बहुत खाने योग्य होगा ॥ ५ ॥

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् ।

आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

( अभिवृष्टा-ओषधयः प्राणेन समवादिरन् ) अभिषिक्त-वर्षा जल से सींची हुई ओषधियों ने समष्टिप्राण के साथ संवाद किया (नः-आयुः-वै प्रातीतरः ) हमारी आयु को तूने बढाया ( नः सर्वाः-सुरभीः-अकः ) हम सब को शोभन गन्ध वाली कर दिया ॥ ६ ॥

नमस्ते अस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।

नमस्ते प्राण तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ ७ ॥

( प्राण ते-आयते नमः-अस्तु ) हे प्राण तुझ अन्दर आते हुए के लिये स्वागत हो ( परायते नमः-अस्तु ) बाहर जाते हुए के लिये स्वागत हो ( प्राण ते तिष्ठते नमः ) हे प्राण ! तुझ अन्दर ठहरे हुए के लिए स्वागत हो ( उत ते-आसीनाय-नमः ) अपि च तुझ बाहिर फैले हुए के लिए स्वागत हो ।

वृक्ष आदि स्थावरों के अन्दर सूक्ष्म गति से प्राण आता है और जाता है तथा वह अन्दर भी ठहरता है और उनके बाहिर भी कुछ काल ठहरता है सभी दशाओं में वह स्वागत करने योग्य है ॥ ७ ॥

नम॑स्ते प्राण प्राण॒ते नमो॑ अस्त्वपान॒ते ।
प॒रा॒चीना॑य ते॒ नम॑ः प्रती॒चीना॑य ते॒ नम॒ः सर्व॑स्मै त इ॒दं नम॑ः ॥८॥

( प्राण ते प्राणते नमः-अपानते नमः-अस्तु ) हे प्राण तुझ प्राण लेते हुए,-श्वास लेते हुए के लिये स्वागत हो तथा अपान छोड़ते हुए के लिये स्वागत हो ( ते पराचीनाय नमः ) तुझ परे जाते हुए-शरीर से बाहिर जाते हुए के लिये स्वागत हो ( ते प्रतीचीनाय नमः ) तुझ शरीर के अन्दर समाए हुए के लिये स्वागत हो ( ते सर्वस्मै इदं नमः ) तुझ सब प्रकार के प्राण के लिये स्वागत हो, चाहे तू सामष्टिक प्राण हो वैयष्टिक प्राण हो उस तेरे लिये स्वागत हो ॥ ८ ॥

या ते॑ प्राण प्रि॒या त॒नूर्यो॑ ते॑ प्राण॒ प्रेय॑सी ।
अथो॒ यद् भे॑षजं॒ तव॒ तस्य॑ नो धेहि जी॒वसे॑ ॥९॥

( प्राण ते या प्रिया तनूः-ते प्राण या उ-प्रेयसी ) हे प्राण तेरी जो प्यारी तनू-जीवनप्रद धारा है, जो ही तेरी और भी प्यारी दिव्य जीवनप्रद धारा है ( अथ-उ यत् तव भेषजं तस्य नः-जीवसे धेहि ) अथ च जो भेषज-दीर्घ जीवनप्रदस्वरूप है उसे हमारे जीवन के लिये धारण कर ॥ ९ ॥

प्रा॒णः प्र॒जा अनु॑ वस्ते पि॒ता पु॒त्रमि॑व प्रि॒यम् ।
प्रा॒णो ह॒ सर्व॑स्येश्व॒रो यच्च॑ प्रा॒णति॒ यच्च॒ न ॥१०॥

(प्राणः प्रजाः-अनुवस्ते पिता प्रियं पुत्रम्-इव) प्राण समस्त प्रजायमान प्राणियों के अनुकूल होकर रक्षण करता है, जैसा

पिता प्यारे पुत्र का अनुकूल रक्षण करता है ( प्राणः-ह सर्वस्य ईश्वरः-यत्-च प्राणति यत् च-न) प्राण अवश्य सबका स्वामी है जो प्राण लेता है-जङ्गम, या नहीं लेता-स्थावर ॥ १० ॥

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥११॥

( प्राणः-मृत्युः ) प्राण अजीवनीय तत्त्वों को मारने वाला है, ( प्राणः-तक्मा ) प्राण ही निराशाओं को तंग करने वाला-भगाने वाला है, ( प्राणं देवाः-उपासते ) प्राण की देव-भौतिक इन्द्रियाँ उपासना करती हैं (प्राणः सत्यवादिनम्-उत्तमे लोके-आ दधत्) सत्यवादी संयमी सदाचारी को प्राण उत्तम लोक-मोक्ष में स्थापित करता है ॥ ११ ॥

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्रीं प्राणं सर्व उपासते ।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥१२॥

(प्राणः-विराट्) प्राण विराट्-स्थूल सूक्ष्म जड़ जङ्गम में विशेष रूप से राजमान है ( प्राणः-देष्ट्री ) प्राण प्रेरक शक्ति है ( प्राणं सर्वे-उपासते ) प्राण को सब-अदेव-मनुष्य आदि प्राणी और तन्तु नाड़ियाँ भी सेवन करती हैं ( प्राणः-ह सूर्यः-चन्द्रमाः ) प्राण सूर्य है-जड़ जङ्गम में ताप कान्ति देने वाला है, प्राण ही चन्द्रमा-स्नेह शान्ति देने वाला है, ( प्राणं प्रजापतिम्-आहुः ) प्राण को प्रजापति-प्रजापालक कहते हैं† ॥ १२ ॥

---

† "ते [ वागादयः ] प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति । एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चाऽमृतञ्च यत् —— प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे तुभ्यं प्राण ! प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि । देवानां वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा । ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि । इन्द्रस्त्वं प्राण ! तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता । त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः" [ प्रश्नो० २ । ४-९ ]

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥१३॥

( प्राणापानौ व्रीहियवौ-अनड्वान् प्राणः उच्यते ) प्राण के दो श्वास उच्छ्वास धर्म व्रीहि—चावल और यव—जौ हैं । प्राण-मुख्य प्राण वृषभ है-बैल है ( यवे ह प्राणः-आहितः-अपानः-व्रीहिः-उच्यते ) यव में प्राण रखा है प्राणनशक्ति है और अपान व्रीहि कहा जाता है । जैसे बैल भूमि को गाहकर धान और जौ को उत्पन्न-प्रकट करता है ऐसे प्राण भी श्वास और उच्छ्वास प्रकट करता है । खेती अथवा खेत में ये दो अन्न पवित्र यज्ञिय माने जाते हैं इसी प्रकार शरीर की सिराओं में श्वास और उच्छ्वास का प्रवाह प्राण द्वारा चलता है । शरीर के अन्य अङ्ग या रस रक्तादि प्रवाह तो अमेध्य हैं परन्तु ये श्वास उच्छवास मेध्य हैं पवित्र हैं इनका आहार प्राण निरन्तर जीवात्मा को देता रहता है ॥ १३ ॥

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।
यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥१४॥

( गर्भे-अन्तरा ) गर्भ के अन्दर ( पुरुषः प्राणति-अपानति ) आत्मा प्राण-श्वास लेता है और अपान-उच्छ्वास लेता है (प्राण यदा त्वं जिन्वसि-अथ पुनः सः-जायते) हे प्राण जब तू उसे तृप्त करता है-पुष्ट करता है, पूर्ण करता है तो वह फिर जन्मता है ॥ १४ ॥

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।
प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥१५॥

( प्राणं मातरिश्वानम्-आहुः ) प्राण को मातरिश्वा—माता के अन्दर गर्भ में गति करने वाला—गति देने वाला कहा है (प्राणः-ह वातः-उच्यते ) प्राण निश्चय वात भी कहा है-गर्भस्थ तत्त्वों को चलाने वाला होने से ( प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ) प्राण में भूत-उत्पन्न भव्य-उत्पन्न होने वाला, प्राण में सब वर्तमान भी प्रतिष्ठित है‡ ॥ १५ ॥

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥१६॥

(प्राण यदा त्वं जिन्वसि) हे प्राण जब तू अपनी प्राणनक्रिया से संसार को जल वर्षाकर तृप्त करता है तो ( आथर्वणीः-आङ्गिरसीः-दैवीः-उत-मनुष्यजाः-ओषधयः प्रजायन्ते ) अथर्वा जनों-योगियों जीवन्मुक्तों के हितकर, आङ्गिरसों-तेजस्वी ऋषियों के निमित्त, देवों विद्वानों के हितकर, मनुष्यजाः-मनुष्यों-साधारण जनों के निमित्त उत्पन्न हुई, अथवा मनुष्य-जन्तुमात्र से "मनुष्या वै जन्तवः" ( शत० ७।३।१।३२ ) मनुष्य आदि जन्तुमात्र के मलमूत्र आदि खाद से उत्पन्न होने वाली गेहूं आदि, दैवीः—पृथिवीस्थ मिट्टी वृष्टि जल से होने वाले यव धान आदि मुनि-अन्न, आङ्गिरसीः—चन्द्र सूर्य किरणादि के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली फल वाली वनस्पति, आथर्वणीः—वायु की प्रधानता से उत्पन्न होने वाली सोम आदि रसायन अनेक ओषधियां उत्पन्न होती हैं ॥ १६ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
ओषधयः प्र जायन्ते ऽथो याः काश्च वीरुधः ॥१७॥

‡ ( १२वें वचन की टिप्पणी देखो )

( यदा प्राणः-अभ्यवर्षीत्-वर्षेण महीं पृथिवीम् जबकि प्राण ने वर्षा से महती पृथिवी को सींच दिया तो ( ओषधयः-अथ याः काः-च वीरुधः प्रजायन्ते ) ओषधियां और जो कोई भी लताएँ हैं वे भी उत्पन्न हो जाती हैं ॥ १७ ॥

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः ।
सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिँल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥

( प्राण ते-इदं वेद ) हे प्राण तेरे इस महत्त्व को जो जानता है ( यस्मिन्-च प्रतिष्ठितः-असि ) जिस सुप्रयोक्ता में प्रतिष्ठित हो जाता है ( तस्मै सर्वे बलिं हरान् ) उसके लिये सब फल लाभ समर्पित करते हैं† ( अमुष्मिन्-उत्तमे लोके ) उस उत्कृष्ट मोक्ष के निमित्त-उसकी प्राप्ति के लिये ॥ १८ ॥

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥१९॥

( प्राण यथा सर्वाः-इमाः प्रजाः-तुभ्यं बलिहृतः ) हे प्राण ! जैसे ये सारी प्रजाएं तेरे लिये बलि भेंट देने वाली बनी हुई हैं† ( एवा यः-त्वा सुश्रवः-शृणवत् तस्मै बलिं हरान् ) इसी प्रकार जो तेरे महत्त्व को अच्छा सुनने वाला सुनता है उसके लिये भी बलि भेंट समर्पित करती हैं ॥ १९ ॥

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः ।
स भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः
॥ २० ॥

† "तुभ्यं प्राण प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति" ( प्रश्नो० २ । ७ )

( देवतासु–आभूत:–भूत: ) देवताओं में व्याप्त हुआ प्राण ( गर्भ:–अन्त:–चरित ) गर्भ होकर विचरता है ( स:–उ–पुन: जायते ) वह ही पुन: उत्पन्न हो जाता है—पुनर्जन्म लेता है (स: भूत:–भव्यं भविष्यत् ) वह भूत, वर्तमान और भविष्य में सदाकाल ( पिता पुत्रं शचीभि: प्रविवेश ) पिता होकर पुत्र के रूप में अपनी कर्म प्रवृत्तियों से "शची कर्म नाम" ( नि० २।१ ) प्रवेश करता है ॥ २० ॥

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् ।
यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः
स्यान्न व्यु च्छेत् कुदा चन ॥२१॥

( हंस: सलिलात्–उच्चरन्–एकं पादं न–उत्खिदति ) यह प्राण पखेरू हंस आत्मा के साथ स्थूल शरीर से उत्क्रमण करता हुआ सलिल-सरणशील सूक्ष्म शरीर से एक पैर नहीं उठता है पुनर्जन्म में आत्मा को ले जाने के लिये ( अङ्ग यत् स तम्-उत्खिदेत् ) अरे–यदि सूक्ष्म शरीर से पैर हटाले तो ( न-अद्य-न श्व: ) न आज न कल हो ( न रात्री न-अह: स्यात् ) न रात्रि का व्यवहार, न दिन का व्यवहार हो ( न व्युच्छेत् कदाचन ) न कभी जन्म ले यह आत्मा मोक्ष में चला जावे, अथवा प्राण के दो पैर प्राण अपान शक्तिरूप हैं यह बाहरी दृष्टि से बाहिरी उच्छ्वास फेंकता है पर एक पैर श्वासशक्ति को नहीं फेंकता यदि उसे भी उठाले तो इस मृतदेह के लिए कोई आज और कल रात दिन प्रात:कृत्य करने का व्यवहार न रहे इसी प्रकार समष्टि प्राण का एक पैर सर्जन का उठ जावे तो सृष्टि में न आज न कल न रात न दिन न उषा प्रभात हो सकें । महर्षि यास्क ने

निरुक्त में सूर्य के प्रति इस मन्त्र का व्यवहार दर्शाया है सूर्य भी अपना एक पैर किसी लोक पर प्रकाश करता है। उसे उठाले तो आज-कल, दिन-रात, प्रातः - सायं का व्यवहार न हो सके। सूर्य भी प्राण है "प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः "(प्रश्नो २।८) यहाँ निरुक्त में आधिदैविक दृष्टि से जो इसी मन्त्र पर लगता है, परन्तु समस्त सूक्त तो समष्टि प्राण और व्यष्टि प्राण पर संगत होता है ॥२१॥

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा ।
अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः
॥२२॥

( अष्टाचक्रम् ) आठ चक्र-पांच भूत, अहंकार, महत्तत्त्व और प्रकृति समष्टिरूप अथवा रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, ओज वाला व्यष्टिशरीररथ ( एकनेमि ) एक समष्टि प्राण या एक व्यष्टि शारीरिक प्राण नेमि-प्रेरा रक्षक ( सहस्राक्षरम् ) बहुत अक्ष 'सहस्र-अक्ष-रम्'–केन्द्र धुरा वाला है ['रः–मत्वर्थीयः'] या बहुत व्यापन शक्तियों वाला है या बहुत व्यापन तन्तुओं वाला है। ( पुरः प्रवर्तते पश्चा निवर्तते ) आगे प्रवृत होता है और पीछे निवृत्त होता है समष्टि सृष्टिकाल में और प्रलयकाल में, शरीरस्थ प्राण श्वास लेने उच्छ्वास निकालने में आगे पीछे चलता है ( अर्धेन विश्वं भुवनं जजान ) आधे एकांश से प्रवर्तन बल या स्वरूप से स्थूल जगत् को प्रकट करता है, अर्ध–एक अंश से स्थूल शरीर व्यक्त करता है ( यत्-अस्य-अर्ध-सः-कतमः-केतुः ) जो इसका आधा या अवशिष्ट है वह अस्थूल जानने योग्य सुखतम चिन्तनीय है शक्तिप्रधान मात्र है ॥२२॥

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः ।

अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥२३॥

( अस्य चेष्टतः—विश्वजन्मनः—विश्वस्य यः—ईशे ) इस चेष्टा करते हुए—क्रियाशील, एवं सब प्राणिजन्म जिसके अन्दर होते हैं, ऐसे विश्व-जगत् का जो स्वामित्व करता है ( अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै ) अन्य प्राणिभिन्न भौतिक पदार्थों चन्द्र शुक्र आदि पिण्डों में शीघ्रगति-कारक हे समष्टि प्राण ! उस तेरे लिये स्वागत हो ॥२३॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।

अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥२४॥

( अस्य चेष्टतः सर्वजन्मनः सर्वस्य यः—ईशे ) इस चेष्टमान तथा सब जन्म जिसमें होते हैं सब शरीरगण का स्वामित्व करता है ( अतन्द्रः-धीरः प्राणः-ब्रह्मणा मा-अनुतिष्ठतु ) प्रमाद-रहित वह कर्मवाला बनकर ब्रह्म से प्रेरित हुआ व्यष्टि प्राण मुझे अनुष्ठित करे—मेरे साथ बना रहे ॥२४॥

ऊर्ध्वा सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते ।

न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥२५॥

(ऊर्ध्वःसुप्तेषु जागार ) यह सर्वोपरि हो सोते हुओं में जागता है "प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति" [प्रश्नो० ४।३] ( ननु तिर्यङ् निपद्यते ) क्योंकि उन सोते हुओं को परिभव करता हुआ निरन्तर जाना जाता है "तिरः परिभवे" ( अव्ययार्थनिबन्धनम् ) (सुप्तेषु-अस्य सुप्तं न कश्चन-अनुशुश्राव )

सोते हुओं में इसका सोना किसी ने पुरातन समय से भी नहीं सुना है ॥२५॥

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥२६॥

( प्राण मत्-मा पर्यावृतः ) हे प्राण ! तु मुझसे मत पराङ्मुख होना (मत्-अन्यः-न भविष्यसि) तू मेरे से-अन्य-भिन्न न होगा-मैं तुझे अपना बनाये रहूंगा ( प्राण ! अपां गर्भमिव जीवसे मयि त्वा बध्नामि ) हे प्राण ! ऋतुधर्म को प्राप्त नारियाँ "योषा वा आपः" ( शत: १।१।१।१८ ) जैसे गर्भ को बान्धती हैं ऐसे मैं जीने के लिये अपने में तुझे बान्धता हूँ ॥२६॥

---

# अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ५

ऋषिः—ब्रह्मा ( विश्व का कर्त्ता नियन्ता परमात्मा "प्रजापतिर्वै ब्रह्मा" [ गो० उ० ५ । ८ ], ज्योतिर्विद्यावेत्ता खगोलज्ञानवान् जन तथा सर्ववेदवेत्ता आचार्य )

देवता–ब्रह्मचारी ( ब्रह्म के आदेश में चरणशील आदित्य तथा ब्रह्मचर्यव्रती विद्यार्थी )

इस सूक्त में ब्रह्मचारी का वर्णन और ब्रह्मचर्य का महत्त्व प्रदर्शित है। आधिदैविक दृष्टि से यहां ब्रह्मचारी आदित्य है और आधिभौतिक दृष्टि से ब्रह्मचर्यव्रती विद्यार्थी लक्षित है। आकाशीय देवमण्डल का मूर्धन्य आदित्य है लौकिक जनगण का मूर्धन्य ब्रह्मचर्यव्रती मनुष्य है इन दोनों का यथायोग्य वर्णन सूक्त में ज्ञानवृद्ध्यर्थ और सदाचार-प्रवृत्ति के अर्थ आता है। अब सूक्त की व्याख्या करते हैं—

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः सम्मनसो भवन्ति ।
स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं तपसा पिपर्ति ॥ १ ॥

आदित्यपरक व्याख्या—

(ब्रह्मचारी) ब्रह्म–परमात्मा के आदेश में चरणशील–विचरने वाला आदित्य ( उभे रोदसी-इष्णन्-चरति ) दोनों द्यावापृथिवी-द्युलोक और पृथिवीलोक में "रोदसी द्यावापृथिवीनाम" ( निघं० ३ । ३० ) पुनः पुनः विचरता है। ( तस्मिन् देवाः सम्मनसः-भवन्ति ) उस–इस आदित्य के आश्रय में द्युस्थान के

ग्रह नक्षत्र "देवः···द्युस्थानो भवतीति वा" ( निरु० ७ । १२ ) तथा अधोऽवस्थित अग्नि आदि देव समान भाव से अपनी अपनी शक्ति को धारण कर स्थिर होते हैं ( सः-पृथिवीं दिवं च दाधार ) वह पृथिवीलोक और द्युलोक को अपने आकर्षण और प्रकाश से धारण करता है ( सः-आचार्यं तपसा पिपर्ति ) वह समस्त रूप से चरण करने योग्य विश्वकर्त्ता परमात्मा को-की आज्ञा को अपने प्रखर तापधर्म से पालता है।

विद्यार्थी के विषय में—

( ब्रह्मचारी ) ब्रह्म—चेतनों में महान् परमात्मा, ज्ञानों में महान् वेद, शारीरिक धातुओं में महान् शुक्र-वीर्य का चरणशील जिसका है वह ऐसा ब्रह्मचर्यव्रती विद्यार्थी ( उभे रोदसी इष्णान् चरति ) दोनों नर-नारी दोनों जनक्षेत्रों को तथा ऊर्ध्व और अधः दोनों शरीर क्षेत्रों का पुनः-पुनः सेवन रूप आचरण करता है ( तस्मिन् देवाः सम्मनसः-भवन्ति ) उस ब्रह्मचर्य-व्रती विद्यार्थी में दोनों पितृकुल मातृकुल के मान्य जन तथा ऊपर नीचे की इन्द्रियाँ समान भाव से दिव्य गुणों का सेवन करते हैं ( सः-पृथिवीं दिवं च दाधार ) वह ब्रह्मचर्यव्रती विद्यार्थी माता और पिता को "द्यौर्मे पिता-माता पृथिवी महीयम्" (ऋ० १।१६४।३३) अपने ब्रह्मचर्य रूप यश से धारण करता है ( सः-आचार्यं तपसा पिपर्ति ) वह ब्रह्मचर्यव्रती विद्यार्थी विद्याक्षेत्र के आचरणीय आचार्य को स्वज्ञानमय सद्वृत्त से जनस्थानों में प्रसिद्ध करता है उनके यश को पालित करता है ॥ १ ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे ।
गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः
सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥२॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( ब्रह्मचारिणम् ) ब्रह्म–परमात्मा के आदेश में वर्तमान आदित्य को ( पितरः-देवजनाः ) पितृसंज्ञक पालनधर्मवाले देवगण द्युस्थान के सब आदित्य आदि निरुक्त के द्युस्थान में पढ़े हुये अथवा देवों के जनक रश्मियां या ऋतुएं ( पृथक्–देवाः ) केवल देवसंज्ञा से प्रसिद्ध अन्तरिक्ष में बहते हुए निरुक्त के मध्य स्थान में पढे हुए मरुत् आदि ( सर्वे-अनुसंयन्ति ) सब अनुकूलता को सेवन करते हैं ( एनम् ) इस आदित्य को ( गन्धर्वाः ) पृथिवी में धरे हुए नदी आदि जलप्रवाह ( अन्वायन् ) अनुकूलता को प्राप्त होते हैं ऐसे ये तीनों स्थानों के (त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः) तेंतीस तथा उनके विभूतिरूप तीन सौ पुनः उनके विभूतिरूप छः सहस्र हैं ' ये स्थ त्रयः-एकादशास्त्रयश्च 'त्रिवृत एकादश' त्रिंशच्च त्रयश्च 'त्रिःकृत्वस्त्रिशतानि नवशतानि' च सहस्राः" [ अंशतः प्रसिद्धिं गताः ] ( काठक सं० ३५।६।३६ ) ( सः-सर्वान् देवान् तपसा पिपर्ति ) वह आदित्य अपने ताप से सारे देवों को पालता है।

विद्यार्थी के विषय में—

( ब्रह्मचारिणम् ) ब्रह्मचर्यव्रती विद्यार्थी को (पितरः-देवजनाः) पितृसंज्ञक देवजन पिता-पितामह आदि पूज्य जन अथवा विद्वानों के जनक वंश्य नर, शरीर में प्राणवाहक तन्तु ( पृथक् देवाः ) केवल देव महात्मा विद्वान् अध्यापक उपदेशक, शरीर में ज्ञान-वाहक तन्तु ( सर्वे-अनुसंयन्ति ) सब अनुकूल हो जाते हैं ( एनम् ) इस ब्रह्मचर्यव्रती को ( गन्धर्वाः ) वाणी को धारण करते हुए—अध्ययन करते हुए सहपाठी भी, शरीर में रस-वाहकतन्तु ( अन्वायन् ) अनुकूल हो जाते हैं ( त्रयस्त्रिंशत्-

त्रिशताः षट्सहस्राः ) तेंतीस तथा तीन सौ और उनके भी विभूतिरूप छः सहस्र पितृजन गुरुजन सहपाठी जन तथा हृदय मस्तिष्क नाभि के तन्तु अनुकूल हो जाते हैं जो कि हृदय के प्राण एवं रक्त के प्रसार को और मस्तिष्क के स्मृतिवाहक, ज्ञानेन्द्रिय विषयों के ग्राहक, नाभि में रसाकर्षण तन्तु पाचक रसस्रावक तन्तु । सुश्रुत शरीरस्थान में इस नाडीजाल को देखो ( सः-सर्वान् देवान् तपसा पिपर्ति ) वह ब्रह्मचर्यव्रती विद्यार्थी सारे दिव्य गुण वाले जनों को ज्ञान से तथा शरीराङ्ग तन्तुओं को संयम बल से पूरित करता है ॥ २ ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः ।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभि संयन्ति देवाः
॥ ३ ॥

( आचार्यः ) अपने व्यक्तित्व के आश्रय योग्य विश्वकर्ता परमात्मा ( ब्रह्मचारिणम् ) आदित्य को ( उपनयमानः ) उपाश्रय में संस्थापन के हेतु ( गर्भम्-अन्तः कृणुते ) स्वकीय ग्रहणबल के अन्दर धारण करता है ( तं तिस्रः-रात्रीः-उदरे बिभर्ति ) उसे द्युलोक, अन्तरिक्षलोक और पृथिवीलोकों में वर्तमान रात्रिरूप अन्धकारमय आवरण अवसरपर्यन्त अपने अन्दर धारण करता है ( तं जातं द्रष्टुं देवाः-अभिसंयन्ति ) प्रकटीभूत प्रकाशमान आदित्य को देखने के लिए आदि देव परम ऋषि अभिलक्षित करते हैं ।

विद्यार्थी के विषय में—

( आचार्यः ) विद्या प्राप्ति के लिए आचरण करने योग्य विद्वान् आचार्य ( ब्रह्मचारिणम् ) ब्रह्मचव्रती जन को ( उप-

नयमानः ) विद्याध्ययन के लिये अपने आश्रय में लेने के हेतु (गर्भम् अन्तः कृणुते) गर्भ की भांति या गर्भरूप अपने अन्दर अङ्गीकार करता है (तं तिस्रः-रात्रीः-उदरे बिभर्ति ) उस ब्रह्मचर्यव्रती नवदीक्षित को वेदत्रयी उसके प्रतिनिधिभूत सावित्री के शिक्षण के लिये स्वाश्रय में तीन दिन रखता है "त्रिः सावित्रीमधीते" ( बारह गृ० सू० ६ ) पुनः ( तं जातं द्रष्टुं देवा-अभिसंयन्ति ) आचार्य के उपाश्रय से बाहिर आये हुए सावित्री से प्राप्त ज्ञान-संस्कार वाले ब्रह्मचारी को देखने के लिये पितृकुलीय और गुरुकुलीय पुराने तथा नवीन विद्वान् अनुकूल प्राप्त होते हैं ॥३॥

इयं स॒मित् पृ॑थि॒वी द्यौर्द्वि॒तीयो॒तान्तरि॑क्षं स॒मिधा॑ पृणाति ।
ब्र॒ह्म॒चा॒री स॒मिधा॒ मेख॑लया॒ श्रमे॑ण लो॒कांस्तप॑सा पिपर्ति ॥४॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( इयं पृथिवी समित् ) यह पृथिवी आदित्य की एक समिधा है जिसको आदित्य अपने प्रकाश से दीप्त करता है ( द्वितीया द्यौः ) दूसरी समिधा द्युलोक है जिसको आदित्य स्वप्रकाश से प्रकाशित करता है ( उत-अन्तरिक्षम् ) अपि च अन्तरिक्ष तीसरी समिधा है (समिधा पृणाति) इस प्रकार तीनों समिधाओं से अपने को पूर्ण प्रकाशमान प्रदर्शित करता है ( ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण तपसा ) उस त्रिविध समिधा से स्वाश्रयभूत मेखला–मर्यादा से आकर्षण बल से और प्रखर ताप से ( लोकान् पिपर्ति ) चन्द्र आदि लोकों और प्राणियों का पालन करता है ।

विद्यार्थी के विषय में—

( इयं समित् पृथिवी ) ब्रह्मचारी की प्रथम समिधा पृथिवी अर्थात् माता है जिससे ब्रह्मचर्यव्रती दीप्त होता है ( द्वितीया

द्यौः ) दूसरी समिधा द्यौ अर्थात् पिता है इससे ब्रह्मचर्यव्रती दीप्त होता है (उत-अन्तरिक्षम् ) और अन्तरिक्ष अर्थात् आचार्य तीसरी समिधा है ( समिधा पिपर्ति ) एवं माता, पिता और आचार्य तीन समिधाओं से स्वव्रत ज्ञान और सदाचरण द्वारा अपने को पूरित करता है ( ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण तपसा ) ब्रह्मचर्यव्रती जन उस त्रिविध समिधा से, कौपीन से शारीरिक श्रम से और ज्ञान-प्रकाश से ( लोकान् पिपर्ति ) जनों को पूरित करता है—प्रभावित—पालित करता है ॥ ४ ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥
॥ ५ ॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( ब्रह्मणः ) परमात्मा से ( ब्रह्मचारी पूर्वः-जातः ) ब्रह्म के आदेश में ब्रह्माण्ड या वायुमय अन्तरिक्ष में विचरणशील आदित्य अन्य आकाशीय पिण्डों से पूर्व उत्पन्न हुआ या प्रसिद्ध हुआ ( तपसा घर्मं वसानः-उदतिष्ठत् ) स्वकीय ज्वलन तथा प्रकाश से "तपः-ज्वलतो नाम" ( निघं० १ । १७ ) दिन को "घर्मः—अहर्नाम" ( निघं० १ । ९ ) संसार में अन्तरिक्ष में या पिण्डों में फैलाने हेतु उदय होता है ( तस्मात्-ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्मजातम् ) तदनन्तर ब्रह्म—परमात्मा से उत्पन्न ब्राह्मण अर्थात् वेद-ज्ञानज्येष्ठ पूर्व प्रसिद्ध हुआ मानव-ज्ञान की अपेक्षा से ( अमृतेन साकं सर्वे देवाः-च ) अमृत अर्थात् मोक्ष अमरधाम के साथ सारे जीवन्मुक्त वेदप्रकाशक परमऋषि भी प्रसिद्धि को प्राप्त हुए तथा जड देव भी अग्नि, वायु आदि तब तक अमर धर्म से वर्तमान हुए ।

विद्यार्थी के विषय में—

( ब्रह्मणः ) परमात्मा की ओर से ( ब्रह्मचारी पूर्वः-जातः ) ब्रह्म–परमात्मा में चरणशील विद्यार्थी:सबसे पूर्व प्रसिद्ध हुआ ( घर्मं वसानः तपसा–उद्तिष्ठत् ) घर्म अर्थात् यज्ञ–अध्यात्मयज्ञ और ज्ञानयज्ञ को "घर्मो यज्ञनाम" ( निघं० ३।१७ ) स्वजीवन में संसार में प्रसार करने के हेतु ब्राह्म तेज से उद्यत होता है ( तस्मात्-ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म जातम् ) पुनः ब्रह्म–परमात्मा से उपदिष्ट वेद ज्येष्ठज्ञान वैदिक परम ऋषियों के अन्तःकरण में प्रसिद्ध हुआ है ( सर्वे देवाः-अमृतेन साकम् ) और सारे प्रारम्भिक विद्वान् स्वाभाविक आर्ष धर्म के साथ उत्पन्न हुए ॥ ५ ॥

ब्रह्मचार्येति समिधा समिद्धः कार्ष्णं वसानो दीक्षितो दीर्घश्मश्रुः ।
स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्त्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत् ॥ ६ ॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( ब्रह्मचारी समिधा समिद्धः ) आदित्य त्रिविध समिधा अर्थात् पृथिवी अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्यक् प्रदीप्त हुआ–आलोकित हुआ ( कार्ष्णं वसानः ) अपने अन्तर्वर्ती कृष्ण भाग का आच्छादन करता हुआ "अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सम्भरन्ति" ( ऋ० १ । ११५ । ५ ) कृष्ण भाग ही प्रज्वलित होकर प्रकाश धर्म वाला होता है ( दीक्षितः-दीर्घश्मश्रुः ) ज्योति से दीक्षित अर्थात् ज्योतिष्मान् हुआ दीर्घ

रश्मिवाला होता है "एष आदित्य दीर्घश्मश्रुः" (गो० पू० १।११) ( सः-सद्यः-पूर्वस्मात्-उतरं समुद्रम्-एति ) वह आदित्य तुरन्त ही पूर्वदिग्वर्ती अन्तरिक्ष से "समुद्रमन्तरिक्षम्" ( निघं० १ । ३ ) उत्तर समुद्र अर्थात् क्षितिज संलग्न आकाश को प्राप्त होता है ( लोकान् सङ्गृभ्य-मुहुः-आचरिक्रत् ) पृथिवी चन्द्र आदि लोकों को अपने प्रकाश में ग्रहण कर पुनः पुनः सम्यक् प्रकाशित होने का आचरण करता है।

विद्यार्थी के विषय में—

( ब्रह्मचारी समिधा समिद्धः ) ब्रह्मचर्य व्रती जन माता पिता और आचार्य तीन प्रकार की ज्ञानप्रदीप्ति कर समिधा से सन्दीप्त हो ( कार्ष्णं वसानः ) विद्या, बुद्धि, बल का आकर्षण तथा आचार्य की छाया को अपने ऊपर धारण करता हुआ जैसे "यस्य छायाऽमृतम्" ( ऋ० १० । १२१ । २ ) ( दीक्षितः-दीर्घश्मश्रुः ) व्रतदीक्षा से संस्कृत दाढ़ी मूंछों सहित अर्थात् केशशृंगाररहित होता हुआ ( सः सद्यः पूर्वस्मात्-उत्तरं समुद्रम्-एति ) वह विद्या समाप्त कर पूर्वविद्यासमुद्र से शीघ्र अग्रिम संसारसमुद्र को प्राप्त होता है; अधीत विद्या के प्रचारार्थ ( लोकान् संगृभ्य मुहुः-आचरिक्रत् ) जनों को-मनुष्यों को-लोगों को संगत कर-एकत्र कर पुनः पुनः सम्यक् आचार शिक्षण करता है ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ।
गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरांस्ततर्ह ॥ ७ ॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( ब्रह्मचारी ) आदित्य ( ब्रह्म- अपः-लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजं जनयन् ) ब्रह्म अर्थात् ज्ञानाग्नि को, "अग्नि वैं ब्रह्म" ( शत० ८ । ५ । १ । १२ ) पुनः जलीय लोक, प्रजापति-पृथिवी लोक को "प्राजापत्यो वा अय भूलोकः" ( तै० १ । ३ । ७ । ५ ) परमेष्ठी अर्थात् द्युलोक को, विराट्-अन्तरिक्ष लोक को प्रकट करता है; जबकि ( अमृतस्य योनौ गर्भः-भूत्वा ) अनश्वर परमात्मा के आश्रय में गर्भ-हिरण्यगर्भ होकर पुनः ( इन्द्रः-भूत्वा-असुरान् ततर्ह) ऐश्वर्यवान् होकर-प्रचण्ड तापवान होकर असुरों-रोग करने वाले दोषों और अन्धकारादि को विनष्ट करता है ।

विद्यार्थी के विषय में—

( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचर्यव्रती जन ( ब्रह्म जनयन् ) अपने अन्दर वेदज्ञान को उत्पन्न करता हुआ ( अपः-लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् ) जलीय लोक को, पृथिवी लोक को, द्युलोक को अन्तरिक्ष लोक को अर्थात् उनके गुणों को अपने आत्मा में प्रकट करता है जब ( अमृतस्य योनौ गर्भः-भूत्वा ) एकरस नित्य परमात्मा के आश्रय में उसके गुणों से गर्भित होकर पुनः ( इन्द्रः- भूत्वा-असुरान् ततर्ह ) इन्द्र अर्थात् आत्मा केवल आत्मा होकर परज्योति स्वरूप परमात्मा को प्राप्त हो "परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" ( छान्दो० ८।१२।३ ) असुरों अर्थात् विविध, मल, रोग, दुःख, शत्रुओं को नष्ट करता है ॥ ७ ॥

आ॒चा॒र्य॑स्ततक्ष॒ नभ॑सी उ॒भे इ॒मे उ॒र्वी ग॑म्भी॒रे पृ॑थि॒वीं दिवं॑ च ।
ते र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तस्मि॑न् दे॒वा सं॑मनसो भवन्ति ॥८॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( आचार्यः ) विश्व का आश्रय योग्य विश्वकर्मा परमात्मा ( उभे इमे उर्वी गम्भीरे नभसी ) ये दोनों बडे ऊपर नीचे गहन आकाश क्षेत्र। तथा ( पृथिवीं दिवं च ) इन दोनों क्षेत्रों में-पृथिवीलोक और द्युलोक को ( ततक्ष ) प्रकाशित किया ( ब्रह्मचारी ते तपसा रक्षति ) वह आदित्य उन दोनों को सब प्रकार से रक्षित करता है ( तस्मिन् देवाः संमनसः-भवन्ति ) उस आदित्य में होने वाले दिव्य पदार्थ प्रकाश ग्रहण और प्रदान में एकस्वभाव रहते हैं।

विद्यार्थी के विषय में—

( आचार्यः ) वेदाचार्य ( उभे इमे उर्वी गम्भीरे नभसी ) ये दोनों महान् गहन ऊपर नीचे स्थित ज्ञान और कर्म के अवकाश क्षेत्र तथा ( पृथिवीं दिवं च ) इन दोनों क्षेत्रों में स्थित मूर्द्धा-मस्तिष्क और पाद पैर जो ज्ञान और कर्म के साधन हैं उनको "द्यौर्वा उत्तरं सधस्थम्" ( शत० ८। ६। ३। २३ ) "यत्कपालमासीत्सा द्यौरभवत्" ( शत० ६।१।२।३ ) "मूर्धा··· यद् द्यौः" ( शत० १०। ६। १। ८ ) "दिवं यश्चक्रे मूर्धानम्" ( अथर्व० १०। ७। ३२ ) "पादौ यत्पृथिवी" (श० १०।६।१।४) "इयं पृथिवी खलु वै प्रतिष्ठा" ( शत० २। २। १। १० ) "भूमिः प्रमा" ( अथर्व० १०। ७। ३२ ) ( ततक्ष ) प्रकाशित किया—सम्पन्न किया ( ब्रह्मचारी ते तपसा रक्षति ) ब्रह्मचर्यव्रती जन इन दोनों की यथावत् रक्षा करता है ॥ ८ ॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामाजभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरर्पिता भुवनानि विश्वा ॥९॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( प्रथमः-ब्रह्मचारी ) प्रमुख होता हुआ आदित्य ( इमां पृथिवीं भूमिं दिवं च भिक्षाम्-आजभार ) इस प्रथित भूमि को और द्युलोक को भिक्षारूप से उनके अवकाश को स्वप्रचार-निर्वाह के लिए आहरण किया-ग्रहण किया पुनः ( ते समिधौ कृत्वा-उपास्ते ) उन दोनों की समिधाएं मानकर अग्नि को प्रवृद्ध करता है ( तयोः-विश्वा भुवनानि-अर्पिता ) उन दोनों के बीच स्थित सारे भूत सम्यक् आश्रित हैं।

विद्यार्थी के विषय में—

( प्रथमः ब्रह्मचारी ) श्रेष्ठ या नवीन ब्रह्मचर्यव्रती जन ( इमां भूमिं पृथिवीं दिवं च भिक्षाम्-आजभार ) इस जन्मदात्री माता को तथा जनक पिता को भिक्षा मांगना है अर्थात् माता से और पिता से भिक्षा ग्रहण करता है, पुनः वह ( ते समिधौ कृत्वा-उपास्ते ) माता से पिता से प्राप्त की गई भिक्षाओं को समिधा मानकर आचार्यरूप पदवी को तथा ज्ञानाग्नि को सेवन करता है ( तयोः-विश्वा-भुवनानि-अर्पिता ) इन प्राप्त भिक्षाओं के आश्रय सारे भूत प्राणि ज्ञान, दान, दयाप्राप्ति के लिए आश्रित हैं ॥ ९ ॥

अर्वाग॒न्यः प॒रो अ॒न्यो दि॒वस्पृ॒ष्ठाद् गुहा॑ नि॒धी निहि॑तौ ।
ब्राह्म॑णस्य तौ र॑क्षति॒ तप॑सा ब्रह्मचा॒री तत्केव॑लं कृणुते॒
ब्रह्म॑ वि॒द्वान् ॥१०॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( दिवस्पृष्ठात् ) द्युलोक के पृष्ठ से अर्थात् आदित्यमण्डल से ( अर्वाक्-अन्यः ) उरली दिशा में अर्थात् पृथिवी पर अन्य

प्रकार का अन्य कार्य करने वाला गुण है; ( परः-अन्यः ) आदित्यमण्डल से परे या पृथिवीलोक से परे द्युलोक में अन्य प्रकार का अन्य कार्य करने वाला गुण है ( गुहा निहितौ निधी ब्राह्मणस्य ) वे दोनों गुण उस आदित्य की गुहा में गुप्त या रखे हैं जो कि ब्राह्मण अर्थात् ज्योतिर्विद्यावेत्ता विद्वानों के कोष-रूप में ( ब्रह्मचारी तौ तपसा रक्षति ) आदित्य उन दोनों की अपने तापसे रक्षा करता है ( तत् केवलं ब्रह्म विद्वान् कृणुते ) जो उस केवल ब्रह्म मात्र आकाश को प्राप्त करने के हेतु "ब्रह्म वै वाचः परमं व्योम" ( तै० ३ । ६ । ५ । ५ ) उन दोनों गुणों को आत्मसात् करता है ।

विद्यार्थी के विषय में—

( दिवस्पृष्ठात् ) "पादो अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" (ऋ० १० । ६० । ३ ) अमृत आत्मा का मोक्षरूप से ( अर्वाक्–अन्यः ) संसारनिर्वाहक अभ्युदयसाधक गुण अन्य है जो आचार्य से लिया जाता है पुनः ( परः-अन्यः ) पर अर्थात् उत्कृष्ट परमात्मदर्शन साधक या निःश्रेयस साधक गुण अन्य है जो आचार्य से लिया जाता है (गुहा निहितौ निधी ब्राह्मणस्य) उस ब्रह्मचर्यव्रती जन की गुहा में—अन्तःकरण में रखे जाते हैं जो ब्राह्मण अर्थात् मुमुक्षु के कोषभूत हैं ( तौ ब्रह्मचारी तपसा रक्षति ) उन दोनों अभ्युदय और निःश्रेयस साधक गुणों को ब्रह्मचर्यव्रती जन आचार्य की सेवा में रहनेरूप तप से रक्षा करता है ( तत् केवलं ब्रह्म विद्वान् कृणुते ) उस केवल–ब्रह्म-परमात्मा को जानने के हेतु कोषभूत गुणों को आत्मसात् करता है ॥ १० ॥

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे।
तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्तानातिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी
॥ ११ ॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( पृथिव्याः-अर्वाक्-अन्यः ) पृथिवी के अवर उरले भाग में हमारी ओर अर्थात् पृथिवी के ऊपर अन्य रूप वाला है। तथा (इतः-अन्यः) उसी पृथिवी के इत–गत–अन्तर्गत प्रज्वलित अन्य है [ इतः-न तसिलन्तस्तस्य लिति प्रत्ययात्पूर्वोदात्ताभावात् किन्तु क्तान्तः प्रयोगस्तस्य प्रत्ययस्वरवत्त्वात् ] ( अग्नी ) ये पृथिवी के बाहर भीतर दोनों अग्नियाँ ( इमे नभसी अन्तरा समेतः )पृथिवी के बाहरी और भीतरी आभासमान इन दोनों प्रदेशों में वस्तुमात्र को सम्यक् प्राप्त होते हैं प्रज्वलन धर्म से गुरुत्व आकर्षण धर्म से ( तयोः-रश्मयः-दृढाः-अधिश्रयन्त ) उन दोनों अग्नियों की रश्मियाँ अर्थात् अपनी अपनी तरङ्गे दृढरूप से अधिष्ठित हैं। (तान् ब्रह्मचारी तपसा-अतिष्ठति ) उन दोनों की रश्मियों अर्थात् तरङ्गों को आदित्य अपने प्रखर ताप बल से भलि-भांति प्राप्त होता है—स्वाधीन करता है।

विद्यार्थी के विषय में—

( पृथिव्याः -अर्वाक्–अन्यः ) पृथिवीरूप पार्थिव शरीर से अवर–उरला–कर्मकलाप साधनात्मक दृश्यमान अन्य है ( इतः-अन्यः ) उसी पार्थिवरूप शरीर का इत–गत–अन्तर्गत ज्ञान साधनात्मक अन्य है ( अग्नी ) ये दोनों बाहर भीतर वर्तमान चेताने वाली अग्नियाँ हैं ( इमे नभसी अन्तरा समेतः ) शरीर के बाहर भीतर आभासमान इन दोनों प्रदेशों के मध्य कार्यमात्र

भोग मात्र को प्राप्त होते हैं, पौरुष धर्म से और ज्ञान धर्म से ( तयोः-रश्मयः-दृढाः-अधिश्रयन्ते ) उन बाहर भीतर वर्तमान अग्नियों की रश्मियाँ अर्थात् शक्तिधारायें दृढ रूप में अधिष्ठित हैं ( तान् ब्रह्मचारी तपसा आतिष्ठति ) उन शक्ति धाराओं को ब्रह्मचर्य व्रतीजन स्व ब्रह्मचर्य के प्रताप से स्वाधीन करता है ॥ ॥ ११ ॥

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपो नु भूमौ जभार।
ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति
प्रदिशश्चतस्रः ॥१२॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( ब्रह्मचारी ) आदित्य ( बृहच्छेपः ) अपने तेज से कठिन स्पर्श धर्मवान ( अरुणः ) तेजस्वी ( शितिङ्गः ) शिति-सूक्ष्म अभ्र-दल मेघ रूप को प्राप्त हुआ ( अभिक्रन्दन् स्तनयन् ) स्वाभिमुख आह्वान करता हुआ और गर्जन करता हुआ सा ( भूमौ-अनुजभार ) मेघ को पृथिवी पर अनुकूल रूप में आहरण करता है-गिराता है, पुनः (पृथिव्यां सानौरेतः सिञ्चति) पृथिवी पर विशेषतः उन्नत प्रदेश पर्वत पर जल सींचता है "रेतः-उदकनाम" (निघ० १ । १२ ) ( तेन चतस्रः प्रदिशः-जीवन्ति ) उस सींचे जल से चारों दिशाओं के प्राणी और वनस्पतियाँ जीवन धारण करती हैं ।

विद्यार्थी के विषय में—

( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचर्य व्रतीजन ( बृहच्छेपः ) अपने संयम ज्ञान द्वारा दूसरे को अत्यन्त छूने वाला होकर अर्थात् महान् प्रभाव वाला होकर ( अरुणः ) तेजस्वी ( शितिङ्गः ) सूक्ष्म बोध

ज्ञान को प्राप्त हुआ 'शिति श्यतेः' ( निरु० ४ । ३ ) ( अभिक्रन्दन् स्तनयन् ) जनता को आह्वान करता हुआ, उपदेश देता हुआ ( पृथिव्यां सानौ ) पृथिवी के ऊँच्च पृष्ठ पर ऊँची गद्दी पर (रेतः सिञ्चति ) ज्ञानामृत रस को सींचता है ( तेन चतस्रः प्रदिशः-जीवन्ति) उस सींचे हुए ज्ञानामृत रस से चारों दिशाओं में रहने वाले जन ज्ञान जीवन को धारण करते हैं ॥ १२ ॥

अग्नौ सूर्ये चन्द्रमसि मातरिश्वन् ब्रह्मचार्यप्सु समिधमादधाति ।
तासामर्चींषि पृथगभ्रे चरन्ति तासामाज्यं पुरुषो वर्षमापः
॥१३॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( ब्रह्मचारी ) आदित्य-आदि में प्रकाशित तथा आदिभूत अखण्ड अदिति नामक अग्नि से उत्पन्न प्रकाशात्मक लोक "अग्निरप्यदितिरुच्यते" ( निरु० ११ । २३ ) ( अग्नौ ) पार्थिव अग्नि में ( सूर्ये ) द्युलोकस्थ सञ्चरण शील तथा अन्यो के प्रेरक पिण्ड में ( चन्द्रमसि ) चन्द्रमा में, ( मातरिश्वन् ) वायु में, विद्युत् में ( अप्सु ) विविध जल प्रवाहों में (समिधम्-आदधाति) निजी ताप और प्रकाश शक्ति डालता है ( तासाम्-अर्चींषि ) उन अग्नि आदि देवताओं की निज शक्तियाँ ( अभ्रे चरन्ति ) अभ्रियमाण-अभ्रियमाण अन्तरिक्ष में स्व व्यापार करती हैं ( तासाम् ) उन अग्नि आदि देवताओं के समिन्धन से सम्यक् प्रदीप्त होने से फलरूप ( आज्यं पुरुषः-वर्षम्-आपः ) घृतादि स्निग्ध वस्तु और उनका आधार गौ आदि पशु, पुत्रादिरूप देह, यथाकाल वृष्टि और जल प्रवाह सम्पन्न होते हैं ।

( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचर्य व्रतीजन ( अग्नौ ) अग्नि समान वाक् इन्द्रिय में "अग्निर्वाग् भूत्वा मुखं प्राविशत्" "वागेवाग्निः" (शत०

१४ । ४ । ५ । २ ) ( सूर्ये ) नेत्र-ज्ञानेन्द्रिय मात्र में (चन्द्रमसि) मन-अन्तःकरण मात्र में "मनश्चन्द्रमाः ( जै० उ० ३ । २ । ६ ) ( मातरिश्वन् ) प्राण वायु-समस्त प्राणों में "प्राणो मातरिश्वा" ( ए० २ । ३८ ) ( अप्सु ) शरीरान्तर्गत व्यापन शील रस, रक्त शुक्रादि धातुओं में ( समिधम्-आदधाति ) निज ज्ञान व्रत संयम-रूप सात्त्विक प्रकाश करने वाली, समिधा को स्थापित करता है ( तासाम्-अर्चीषि ) उन वागादि दिव्य शक्तियों की ज्योतियाँ उनकी अपनी शक्तियाँ ( अभ्रे ) शरीराकाश में ( चरन्ति ) प्रसार करती हैं व्यापार करती हैं ( तासाम् ) उन वागादि दिव्य शक्तियों का फल ( आज्यं पुरुषः-वर्षम्-आपः ) शरीर में स्निग्ध वस्तु वीर्य "रेतो वा आज्यम्" ( शत० १ । ८ । २ । ७ ) पौरुष-पराक्रम, वर्ष-सम्यक् रक्त सञ्चार, आपः-प्राण "प्राणा वा आपः" ( तै० ३ । २ । ५२ ) अर्थात् दीर्घ जीवन सम्पन्न होता है ॥१३॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्वराभृतम् ॥१४॥

आदित्यपरक व्याख्या—

( आचार्यः ) आदित्य ( मृत्युः ) काल संख्या का परिगणन करके वस्तु मात्र के जीवन को समाप्त करने वाला है ( वरुणः ) निज आकर्षण में वरण करने वाला ( सोमः ) प्रतिदिन उदयकाल में सबको प्रगट करने वाला ( ओषधयः ) ओष-ताप का धारक (पयः) प्रकाश का पालक होने से पय नामक (जीमूताः सत्वानः-आसन् ) जल का बांधने वाला सदा सत्तावान् नामों से है ( तैः-इदं स्वः-आभृतम् ) मृत्यु आदि नामों से यह आदित्य आकाश में धरा हुआ है—स्थापित है "स्वरादित्यो भवति" (निरु० २ । १४)

विद्यार्थी के विषय में—

(आचार्यः) वेदाचार्य (मृत्युः) स्व वंशजों से वियोग कराने वाला होने से मृत्यु के समान है (वरुण) शिष्य को निज आश्रय में वरने वाला (सोमः) विद्यामय पुनर्जन्म का देने वाला होने से उत्पादक (ओषधयः) ओष-तेज-पराक्रम का धारण कराने वाला (पयः) ज्ञान प्रकाश का पालक (जीमूताः सत्वानः-आसन्) जीवन हेतु उपदेशामृत से बांधने वाला आदि नामों से है (तैः-इदं स्वः-आभृतम्) उन मृत्यु आदि नामो से स्वः सुख अरण-शील ज्ञान ग्रहण करने में गतिशील ब्रह्मचर्य व्रतीजन सम्यक् स्थिर है ॥ १४ ॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्योऽभूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ ।
तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान्मित्रो अध्यात्मनः ॥१५॥

आदित्यपरक व्याख्या—

(वरुणः-आचार्यः-भूत्वा) समस्त गोलों को वरने वाला आदित्य का परिधिमण्डल, भलिभांति सहन करने योग्य आधार बनकर (प्रजापतौ यत-यत् केवलं घृतम्-ऐच्छत्-अमा कृणुते) प्रजापति के निमित्त 'निमित्त सप्तमी' अर्थात् प्रजा के पालक आदित्य के लिए जो जो मात्र दीप्ति का द्रव्य या बल "घृ क्षरण दीप्त्योः" (जुहोत्यादि०) को चाहता है वह आदित्य के साथ अपने को प्रकट करता है (ब्रह्मचारी मित्रः स्वात्-अधि-आत्मनः-तत् प्रायच्छत्) आदित्य प्रेरक होकर "मि प्रक्षेपणे" (स्वादि०) स्व अन्तःस्थल से उस दीप्तिकर द्रव्य या बल को प्रजाओं के लिए प्रदान करता है।

विद्यार्थी के विषय में—

( वरुणः-आचार्यः-भूत्वा ) ब्रह्मचर्यव्रती को वरने वाला उसका आचार्य होकर ( प्रजापतौ-यत्-यत् केवलं घृतम्-ऐच्छत्-अमा कृणुते ) प्रजापालक के निमित्त अर्थात् भावी प्रजाओं का निर्माण करने वाले ब्रह्मचर्य व्रती के लिए जो जो केवल शुद्ध दीप्तिकर ज्ञान को चाहता है उस उसको ब्रह्मचर्यव्रती के साथ अपनी शरण में लेने के समय से ही सम्पादित करता है ( ब्रह्मचारी मित्रः स्वात्-अधि-आत्मनः तत्-प्रायच्छत् ) ब्रह्मचर्य व्रती जन अन्यो को प्रेरणा देने वाला होकर अपने अन्तरात्मा से या अन्तःकरण से उस दीप्तिकर ज्ञान को मनुष्यों के लिए प्रदान करता है ॥१५॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्विराजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥१६॥

यहाँ से २१ मन्त्र तक ब्रह्मचारी शब्द केवल ब्रह्मचर्य व्रती जन के लिए ही अभीष्ट है अतः उसी के सम्बन्ध में मन्त्र व्याख्या की जाती है—

( आचार्यः-ब्रह्मचारी ) वेदज्ञान के ग्रहणार्थ भलीभाँति सेवा करने योग्य आचार्य ही ब्रह्मचारी जैसे—पिता ही पुत्र होता है पिता के शरीर-धर्मो का दृढ करने वाला होने से "आत्मा वै पुत्रनामासि स जीव शरदः शतम्" ( निरु० ३।४ ) तथैव आचार्य के गुणों का ग्रहण कर्त्ता होने से ब्रह्मचारी को आचार्य कहा है पुनः आचार्य के अनन्तर ( ब्रह्मचारी प्रजापतिः ) वह ब्रह्मचारी प्रजामात्र के अध्यापन से प्रजापति होता है आचार्य पद की अपेक्षा से ऊँचे पद वाला हो जाता है जैसे—बृहदारण्यक उपनिषद् में देवमनुष्य असुरों का अध्यापक प्रजापति कहा गया है। ( प्रजापतिः-विराजति ) प्रजापति पद वाला होकर

बिना प्रतिबन्ध के अपने शिष्यों को और जो अपने शिष्य भी नहीं हैं उनको भी ज्ञान प्रदान करके विराट् पद् भागी महार्षि बनता है, सबके हृदयों में विराजमान होने से सम्मान पाने से। ( पुनः-विराट्-इन्द्रः-वशी-अभवत् ) वह विराट् पदभागी सर्वत्र भ्रमण करके सर्वहित उपदेश प्रदान द्वारा सबको वश में अर्थात् अनुकूल बना करके इन्द्र ईश्वर की भांति परम ऋषि हो जाता है। इस प्रकार यह ब्राह्मण के पदों का विवेचन मन्त्र में आया ॥ १६ ॥

क्षत्रिय पद का विवेचन ब्रह्मचर्य के आधार पर—

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

( राजा ब्रह्मचर्येण तपसा ) राजा ही ब्रह्मचर्यरूप तप से सदाचार प्रताप से दीप्त—बलवान् हुआ ( राष्ट्रं विरक्षति ) राष्ट्र की विशेष रक्षा करता है-रक्षा कर सकता है (आचार्यः ब्रह्मचर्येण ) आचार्य भी ब्रह्मचर्य से अर्थात् सदाचार से प्रकाशित हुआ ( ब्रह्मचारिणम्-इच्छते ) ब्रह्मचर्यव्रती शिष्य को चाहता है अङ्गीकार करता है ॥ १७ ॥

वैवाहिक सम्बन्ध में ब्रह्मचर्य आवश्यक है—

ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीषति ॥१८॥

( ब्रह्मचर्येण कन्या ) ब्रह्मचर्य व्रतरूप संयम से कान्ता दीप्त कुमारी ( युवानं पतिं विन्दते ) युवा पति को प्राप्त होती है

तथा ( ब्रह्मचर्येण-अनड्वान्-अश्वः ) ब्रह्मचर्यरूप संयम से ही कुमार अनड्वान्-वृषभ की भाँति गृहस्थ भार को वहन कर सकता तथा घोड़े की भांति गृहस्थनिर्वाहक बल से सम्पन्न हो सकता है। और ( घासं जिगीर्षति ) घास अर्थात् भक्षण योग्य घास के समान भोग प्रद-भोगसाधन वीर्य धातु को अपने अन्दर पचाने की इच्छा करता है—धारण करने में समर्थ होता है।
॥ १८ ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्वराभरत् ॥१९॥

( ब्रह्मचर्येण तपसा ) ब्रह्मचर्यरूप तप से तैजस बल से ( देवाः ) मुमुक्षु विद्वान् ( मृत्युम्-अपाघ्नत ) मृत्यु को अपहत करते हैं-दूर भगाते हैं और (ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः) ब्रह्मचर्य पालन से अर्थात् ब्रह्मचर्य धारण को निमित्त बनाकर—देवों ने ब्रह्मचर्य को धारण किया है, अतः उनके लिए ( इन्द्रः स्वः-आभरत् ) ऐश्वर्यवान् परमात्मा परमसुख को-मोक्ष को धारण करता है तथा प्रदान करता है ॥ १९ ॥

सामान्य विषयक मन्त्र—

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥

( ओषधयः ) ओष-ताप और क्षुधा को पीती हुई-नष्ट करती हुई वन्य और ग्राम्य गोधूमादि ओषधियाँ 'ओषं धयन्ति तत्-ओषधयः समभवन्' ( शत० २।२।४।५ ) ( वनस्पतिः ) फलवान् वृक्ष ( भूतभव्यम् ) भूत, भविष्यत् काल ( अहोरात्रे )

दिन और रात ( संवत्सरः ) दोनों अयनों अर्थात् उत्तरायण और दक्षिणायन से युक्त वर्ष ( ऋतुभिः ) बसन्तादि ऋतुओं के साथ अर्थात् बसन्तादि ऋतु भी ( ते ब्रह्मचरिणः-जाता ) वे सब ब्रह्मचारी अर्थात् आदित्य से प्रसिद्ध हुए हैं तथा ब्रह्मचर्य-व्रती जन उक्त ओषधि वनस्पतियों को खाता हुआ; अपने शरीर में उनका परिणाम लाता है, दिन रात्रि आदि काल अवयव को भी जीवन में उपयोगी बनाता है तथा ओषधि आदि वस्तुओं में भी ब्रह्मचर्य गुण संयम से उनकी स्वरूपस्थिति होती है अर्थात् बिना गृहस्थ धर्म के ओषधि, वनस्पति, अहोरात्र, भूत-भव्य, उत्तरायण-दक्षिणायण, हेमन्त-शिशिर, ग्रीष्म-बसन्त, शरद् और वर्षा ऋतु ये सहयोगी जोडे होते हुए भी गृहस्थ की भाँति आलिङ्गन धर्म वाले नहीं है ॥ २० ॥

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।
अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

( ये पार्थिवाः दिव्याः पशवः आरण्याः-ग्राम्याः-च ) जो पृथिवी में स्थित पशु—देखने वाले ज्ञानशील मनुष्य और वन्य तथा नागरिक जन द्युलोक में मंगल आदि ग्रह में स्थित ( ये पक्षिणः-अपक्षाः-च) जो पक्ष वाले कुक्कुट—मुर्गादि और शुक—तोते आदि तथा पक्षहीन पशु वन्य व्याघ्रादि और नागरिक गौ आदि है ( ते ब्रह्मचारिणः-जाताः ) वे सब आदित्य अर्थात् सूर्य से उत्पन्न होते हैं । इसलिए उसका नाम सविता भी है तथा ब्रह्मचर्यव्रती जन सब ब्रह्मचर्य व्रत से सारे प्राणियों को अनु-कूल बनाता है उनसे यथा योग्य उपयोग लेता है और पशु पक्षियों में भी ब्रह्मचर्य संयमगुण है, वे ऋतु रज-धर्म का अति-क्रमण नहीं करते ऋतुचारी होने से ब्रह्मचारी होते हैं ॥ २१ ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।
तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

( सर्वे प्राजापत्याः–आत्मसु पृथक् प्राणान् बिभ्रति ) प्रजापति परमात्मा द्वारा उत्पन्न हुए सब मनुष्य, पशु, पक्षी और वनस्पतियाँ अपने अन्दर पृथक्-पृथक् अपने-अपने योग्य प्राण को धारण करते हैं ( तान् सर्वान् ब्रह्मचारिणि–आभृतं ब्रह्म रक्षति ) उन सब प्राणों को आदित्य में भली भांति व्याप्त ब्रह्म अर्थात् परमात्मा सुरक्षित रखता है "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" ( यजु० ४० । १७ ) तथा ब्रह्मचर्यव्रती जन में जो परिपूर्ण ब्रह्म है वह उन योग्य प्राणों की रक्षा करता है ॥२२॥

देवानामेतत् परिषूतमनभ्यारूढं चरति रोचमानम् ।
तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ २३ ॥

( एतत् ) यह ब्रह्म ( देवानां परिषूतम् ) देवों की अध्यात्म-दृष्टि में परिगृहीत अर्थात् साक्षात् किया जाता है (अनभ्यारूढं रोचमानं चरति ) जो अनायास प्राप्त स्वतः प्रकाशमान सर्वत्र विभुगति से विचरता है ( तस्मात्-ब्राह्मणं ज्येष्ठं ब्रह्म जातम् ) उससे ब्रह्म–परमात्मा से प्रेरित श्रेष्ठ वेद ज्ञान प्रसिद्ध होता है ( सर्वे देवाः-अमृतेन साकम् ) सारे मुमुक्षु विद्वान् अमर धर्म के साथ प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥

ब्रह्मचारी ब्रह्म भ्राजद् बिभर्ति तस्मिन् देवा अधि विश्वे समोताः ।
प्राणापानौ जनयन्नाद् व्यानं वाचं मनो हृदयं ब्रह्म मेधाम् ॥ २४ ॥
चक्षुः श्रोत्रं यशो अस्मासु धेह्यन्नं रेतो लोहितमुदरम् ॥२५॥

दोनों मन्त्रों की एक वाक्यता है—

( ब्रह्मचारी भ्राजत्-ब्रह्म बिभर्ति ) आदित्य प्रकाशमान ब्रह्म अर्थात् परमात्मा को अपने अन्दर धारण करता है जैसे वेद में अन्यत्र कहा है "योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" (यजु. ४०।१७) (तस्मिन्-अधि विश्वे देवाः समोताः ) उसके अन्दर तथा उसके अधीन सारे बाहर भीतर के देव-दिव्यगुण पदार्थ संगत हैं अतः वह ( प्राणापानौ जनयन् ) समस्त प्राणी-शरीरों में प्राण और अपान को प्रकट करता हुआ वर्तमान है ( आत्-व्यानं वाचं मनः- हृदयं ब्रह्म मेधाम् ) पुनः व्यान को, वागिन्द्रिय शक्ति को, मन को, हृदय को ब्रह्म अर्थात् ज्ञान-शक्ति को, और बुद्धि को उत्पन्न करता हुआ वर्तमान है तथा ( चक्षुः श्रोत्रं यशः-रेतः-लोहितम्-उदरम्-अस्मासु धेहि ) नेत्र शक्ति को, श्रोत्रशक्ति को, यश—यशस्वी तेज को वीर्य को, रक्त को और उदरशक्ति को हमारे अन्दर धारण करे । इसी प्रकार ब्रह्मचर्यव्रती जन वेदज्ञान से अपने अन्दर प्रकाशमान परमात्मा को धारण करता है और उसके अधीन सब दिव्य गुण पदार्थ आश्रित होते हैं अतः वह अपने शरीर में प्राण आदि को दिव्य धर्म वाले बनाता है और वह स्वयं दिव्यशक्ति से सम्पन्न होकर हमारे लिये दृष्टिपात, श्रवणप्रवृति, यश अन्न

और उससे उत्पन्न वीर्य, रक्त तथा कोष्ठ को उत्पन्न करे एवं प्रेरित करे ॥ २४-२५ ॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे ।
स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥ २६ ॥

उपसंहार में इस मन्त्र के आदित्यरक और ब्रह्मचर्यव्रती विषयक अर्थ पृथक् पृथक् किये हैं।

आदित्य परक व्याख्या—

( ब्रह्मचारी ) आदित्य ( तानि ) प्राणादि उदरपर्यन्त अङ्गों को ( कल्पत् ) "कल्पयन्" लिङ्गव्यत्ययः, णिचो लोपश्च" समर्थ करताहुआ—उनकी उत्पत्ति समृद्धि के हेतु ( समुद्रे तप्यमानः ) समुद्रसदृश गहन आकाश में पृथिवी के अधोभाग में "समुद्र-मन्तरिक्षनाम" ( निघं. १।३ ) ताप करता हुआ ( सलिलस्य पृष्ठे ) जल के पृष्ठभूत पृथिवी पर ( तपः-अतिष्ठत् ) ज्वलन करता है—ज्वाला बिखेरता है ( सः-स्नातः-बभ्रुः पिङ्गलः ) वह आदित्य शुभ्र निर्मल तेजस्वी "ष्णा शौचे" ( अदादि० ) शुभ्र-सुनहरा होता हुआ ( पृथिव्यां बहु रोचते ) पृथिवी पर बहुत प्रकाश देता है "रोचते ज्वलतिकर्मा" ( निघं. १।१७ )।

विद्यार्थी के विषय में—

( ब्रह्मचारी ) ब्रह्मचर्यव्रती जन ( तानि ) उन प्राणादि उदरपर्यन्त वस्तुओं को ( कल्पत् ) समर्थ करता हुआ—निज हितार्थ और परार्थ धारण करने के लिये ( समुद्रे तप्यमानः )

विद्यासमुद्र में–आचार्यकुल में तपस्या करता हुआ ( सलिलस्य पृष्ठे ) बहुत जनसमूह के आश्रय में शासन में ज्ञानप्रस्रवण स्थान में "सलिलं बहु नाम" ( निघं ३।१ ) ( तपः-अतिष्ठत् ) ज्ञानमय तप का अनुष्ठान करता है ( सः-स्नातः-बभ्रुः पिङ्गलः ) वह विद्याव्रतस्नातक तेजस्वी ज्ञानप्रकाशयुक्त होता हुआ ( पृथिव्यां बहु रोचते ) पृथिवीलोक पर सर्वजनस्थान में अत्यन्त शोभित होता है ॥ २६ ॥

---

# अथर्ववेद काण्ड ११ । सूक्त ९

ऋषिः—काङ्कायनः ( अधिक प्रगतिशील वैज्ञानिक ) "ककि गत्यर्थ" [ भ्वादि० ] कङ्क—ज्ञान में प्रगतिशील उससे भी अधिक आगे बढा हुआ काङ्कायनः ।

देवता—अर्बुदिः "अर्बुदो मेघः" [ निरु० ३।१० ] मेघों में होने वाला अर्बुदि-विद्युत् विद्युत का प्रहारक बल तथा उसका प्रयोक्ता वैद्युतास्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष "तदधीते तद्वेद" छान्दस इञ् प्रत्यय, आदिवृद्धि का अभाव भी छान्दस । तथा 'न्यर्बुदि' भी आगे मन्त्रों में आता है वह भी मेघों में होने वाला स्तनयित्नु-गर्जन शब्द-कडक तथा उसका प्रयोक्ता स्फोटकास्त्रप्रयोक्ता अर्बुदि के नीचे सेनानायक न्यर्बुदि है )

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च ।
असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥१॥

(अर्बुदे त्वम्) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! तू (धन्वनाम्) प्रक्षेपण अस्त्रों के (ये बाहवः) जो प्रक्षेपण नाल दण्ड हैं (याः-इषवः) जो छेदक लोह पत्र हैं (च) और (वीर्याणि) उन नालदण्डों को धकेलने वाले वेग एवं विद्युदुत्पादक अग्नि चूर्णादि हैं "वीर्यं वा अग्निः" [तै०१।७।२।२] "वीर्यं वा इन्द्रः" [तां० ९।७।५] उन्हें,

तथा (असीन्) तलवारों को (परशून्) फरसाओं को (आयुधम्) अन्य युद्धास्त्र शस्त्र को (च) और (हृदि) हृदय में (यत्-चित्ताकूतम्) जो मन का सङ्कल्पबल अर्थात् मानसिक बल है (तत् सर्वम्) उस सब को (अमित्रेभ्यः- दृशे कुरु) शत्रुओं के लिए दिखाने को कर—आगे कर (च) और (उदारान् प्रदर्शय) ऊपर उठने वाले ऊपर उभरने वाले स्फोटक पदार्थों के धूम आदियों को भी प्रदर्शित कर ॥१॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥

(अर्बुदे मित्राः-देवजनाः) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! तथा अस्त्रप्रेरक विजिगीषु—विजयेच्छुक नायक जनो ! "दिवु क्रीडाविजिगीषा—" [दिवादि०] (यूयम् उत्तिष्ठत) तुम उठो—उठ खडे हो (संनह्यध्वम्) युद्धार्थ सन्नद्ध हो जाओ—तैयार हो जाओ (वः) 'युष्माभिः तृतीयार्थे षष्ठी' तुम्हारे द्वारा (नः-या मित्राणि) हमारे 'याः-यानि' जो मित्र-स्नेही सैनिक जन (सन्दृष्टा) 'सन्दृष्टानि' सम्यक् देखभाल में वर्तमान तथा (गुप्ता) 'गुप्तानि' सुरक्षित (सन्तु) होवें—रहें ॥२॥

उत्तिष्ठतमारभेथामादानसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥

(अर्बुदे-उत्तिष्ठतम्) हे अर्बुदे ! विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष एवं न्यर्बुदे ! 'न्यर्बुदे द्विवचन प्रयोगात्' स्फोटक पदार्थ प्रयोक्ता सेनानायक तुम दोनों उठ खडे हो ओ (आरभेथाम्) युद्ध आरम्भ कर दो (आदानसन्दानाभ्याम्) छेदन—चूर्ण करने वाले तथा तोड

फोडने वाले साधनों द्वारा "दो अवखण्डने" [दिवादि०] (अमित्राणां सेनाः) शत्रुओं की सेनाओं को (अभिधत्तम्) वश में धारण करो—अधिकार में ले लो ॥ ३ ॥

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः ।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥ ४ ॥

(अर्बुदिः-नाम यः-देवः) विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष जो विजिगीषु-विजयेच्छुक है (च) और (ईशानः-न्यर्बुदिः) सेना पर नियन्त्रण करने वाला सेनाध्यक्षक के नीचे स्फोटक-पदार्थप्रयोक्ता सेनानायक, ये दोनों युद्ध संचालक हैं (याभ्याम्-अन्तरिक्षम् आवृतम्) जिन दोनों के द्वारा अर्थात् उनके अस्त्रप्रयोगों से आकाश घिर जाता है (च) और (इयं मही पृथवी) यह महती युद्धभूमि आवृता हो गई—छा गई (इन्द्रमेदिभ्याम्) राजा को स्निग्ध करने वाले—मुझ राजा का हित साधने वालों के द्वारा (जितम्) जीत लिये गये शत्रुप्रदेश को (सेनया-अन्वेमि) सेना द्वारा अनुगत करता हूं—शासित करता हूं ॥४॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ५ ॥

(देवजन-अर्बुदे) हे विजिगीषु—जयेच्छुक विद्युदस्त्रप्रोक्ता सेनाध्यक्ष ! (त्वं सेनया सह-उत्तिष्ठ) तू सेना के साथ उठ (अमित्राणां सेनां भञ्जन्) शत्रुओं की सेना का भञ्जन-मर्दन करने के हेतु (भोगेभिः परिवारय) कुद्ध-तीक्ष्ण वैद्युत पाशों से

घेर ले 'आजकल माइन फैलाने जैसे ढंग से "भोजते क्रुध्यतिकर्मा" [निघ० २।१२] ॥५॥

सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् ।
तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥

( न्यर्बुदे ) हे स्फोटक पदार्थों के अस्त्रप्रयोक्ता सेनानायक ! तू ( उदाराणाम् ) ऊपर स्फुटित होने वाले धूम धूल फेंकने वाले सूक्ष्म अस्त्रों के मध्य में से ( जातान् सप्त ) प्रकट या प्रसिद्ध हुए सात धूम, धूलि, विषवात, वाष्प, वृष्टि, अग्नि, लोह आदि धातु कणों के फैंकने वालों को (समीक्षयन्) लक्ष्य में रखता हुआ ( तेभिः सर्वैः - आज्ये हुते ) उन सब स्फोटक अस्त्र प्रयोगों से आज्य-वज्र-स्फोटक पदार्थ हुत-प्रयुक्त हो जाने पर शत्रु से रिक्त स्थान की ओर या शत्रुसेना परास्त हो जाने पर "वज्रो वा आज्यं वज्रेणैवैतद् रक्षांसि नाष्ट्रा अपहन्ति" (शत० ७।४।१।३४ ( सेनया उत्तिष्ठ ) अपनी सेना के साथ उठ-चढ़ाई कर ॥६॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ ७ ॥

( अर्बुदे तव रदिते ) हे विद्युदस्त्र प्रयुक्ता युद्ध करने वाले सेनाध्यक्ष तेरे रदन-शस्त्रास्त्रों द्वारा शत्रुसेना की काट छांट रूप मर्दन हो जाने पर तथा (पुरुषे हते) शत्रुसेना के पुरुष-पौरष बल युक्त शत्रुसेनानायक के हत हो जाने पर उसकी सेना (प्रतिघ्नाना) जैसे पति के हत हो जाने पर, प्रतिघात मानसिक घात शोक को प्राप्त (अश्रुमुखी) आंसुओं से पूर्ण मुख वाली

(च) और (कृधुकर्णी) केवल छिद्रयुक्त कानों वाली भूषण रहित कान के छिद्रों वाली (विकेशी) विरुद्ध केशों वाली-बिखरे केशवाली स्त्री की भांति (क्रोशतु) चिल्लावे-विलाप करे ॥७॥

संकर्षन्ती करुकरं मनसा पुत्रमिच्छन्ती ।
पतिं भ्रातरमात् स्वान् रदिते अर्बुदे तव ॥ ८ ॥

(अर्बुदे तव रदिते) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! पर सेना के तेरे द्वारा रदन-नाश कर देने पर उन सैनिकों की माता पत्नी बहिन सम्बन्धिनी स्त्री (पुत्रं पतिं भ्रातरम्) पुत्र को पति को भाई को (आत्) अनन्तर-और (स्वान्) अपने सम्बन्धियों को (मनसा-इच्छन्ती) मन से चाहती हुई-मन से स्मरण करती हुई (करुकरं संकर्षन्ती) कर-कर अङ्गों को तोडती फेंकती हुई चिल्लाती विलाप करती है ॥८॥

अलिक्लवा जाष्कमदा गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः ।
ध्वाङ्क्षाः शकुनयस्तृप्यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ ९ ॥

(अर्बुदे तव रदिते) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! तेरे शत्रुसेनाओं का मर्दन-नाश करने पर (समीक्षयन्) उन्हें मरा समझ कर (अलिक्लवा) पर्याप्त है क्लव-उछलने की गति जिनकी ऐसे पक्षी (जाष्क मदाः) —या-क्लमदाः) † प्रयत्न में क्लम-ग्लानि देने वाले (गृध्राः) गिद्ध (श्येनाः) श्येन-बाज (पतत्रिणः) पक्षी हैं (ध्वाङ्क्षाः) कव्वे (शकुनयः) चिड़ियाएं (अमित्रेषु) शत्रुओं में (तृप्यन्तु) तृप्त हों ।

---

† एषोऽपि पाठ उपलभ्यते ।

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः ।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥ १० ॥

( अथो ) और भी ( अर्बुदे तव रदिते ) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! तेरे मर्दित-हत किए (कुणपे पौरुषेय-अधि) मुर्दे पुरुष में ( सर्व-श्वापदम् ) सब श्वापद–जङ्गल का पशु कुत्ते जैसे पैर वाला गीदड भेडिया आदि ( मक्षिका ) मक्खी (क्रिमिः) अन्य कीट (तृप्यतु) तृप्त होवे ॥१०॥

आगृहीतं सं बृहतं प्राणापानान् न्यर्बुदे ।
निवाशा घोषाः सं यन्त्वमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव ॥ ११ ॥

( अर्बुदे न्यर्बुदे ) हे विद्युदस्त्र प्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! और तदनुसार स्फोटक पदार्थ प्रयोक्ता सेनानायक जनों ! तुम दोनों (प्राणापानान्-अगृहीतं संबृहतम्) शत्रुसेना के प्राण अपानों–श्वास प्रश्वासों को रोक दो और उखाड फेंकों (समीक्षयन्) युद्धकला को जानते हुए (तव रदिते) सेनानायक ! तेरे ताडन मर्दन पर ( अमित्रेषु ) शत्रुओं में ( निवाशाः-घोषाः संयन्तु ) चीखें और हाहाकार शब्द सम्प्राप्त हों ॥११॥

उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज ।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥ १२ ॥

(अमित्रान्-उद्वेपय) शत्रुओं को कम्पा दे (भिया संसृज) भय से संयुक्त कर (संविजन्ताम्) वे उद्विग्न हो जावें–घबरा जावें (न्यर्बुदे) हे स्फोटकास्त्र प्रयोक्ता सेनानायक जन तू ! (अमित्रान्) शत्रुओं को (उरुग्राहैः) बहुत पकडने वाले (बाह्वङ्कैः विध्य)

बाहु जैसे लक्षणों वाले शस्त्रास्त्रों से बींध-तडित कर 'ये बाहवः' (१) पूर्व जैसे कहा है ॥१२॥

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥

(अर्बुदे तव रदिते) हे विद्युदस्त्र प्रयोक्ता) सेनाध्यक्ष ! तेरे प्रहार होने पर (एषाम्) इन शत्रुओं के (बाहवः) बाहु (च) और (हृदि) हृदय में (यत्) जो (चित्ताकूतम) चित्त का सङ्कल्प है वह भी सब (मुह्यन्तु) मुग्ध हो जावे जड हो जावे (एषां किं चन) इनका कुछ भी (मा-उच्छेषि) मत बचा सब शक्ति-हीन कर दें ॥१३॥

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः ।
अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥१४॥

( अर्बुदे तव रदिते हते पुरुषे ) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेना-ध्यक्ष ! तेरे मर्दन करने पर-शत्रुजन हत हो जाने पर ( प्रतिघ्नानाः ) प्रतिघात करती हुई स्त्रियां ( उरः ) छाती ( पटूरौ ) जङ्घाओं को "पट गतौ" [ भ्वादि-उणादि १।६७ ] ( आघ्नानाः ) पीटती हुई ( अघारिणीः ) अघ-आघात को प्राप्त हुई "अघं हन्तेर्निर्ह्रसितोपसर्गः-आहन्तीति" ( निरु० ६।११ ) ( विकेश्यः ) विरुद्धकेशों वाली-बिखरे केशों वाली ( रुदत्यः ) रोती हुई ( संधावन्तु ) घूमती फिरें ॥ १४ ॥

श्वन्वतीरप्सरसो रूपका उतार्बुदे ।
अन्तः पात्रे रेरिहतीं रिशां दुर्णिहितैषिणीम् ।
सर्वास्ता अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १५ ॥

( अर्बुदे ) हे विद्युदस्त्र प्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! ( श्वन्वतीः-रूपकाः अप्सरसः- ) कुत्ते वाली—कुत्ते के आकार शस्त्रवाली विविध रूपों को धारण करने वाली इधर उधर सर्वत्र गति करने वाली वैद्युतास्त्रयुक्त सेनाएं ( अन्तः पात्रे रेरिहतीम् ) तथा गुप्त पात्र आवरण में रहकर अत्यन्त युद्ध करने वाली "रिह कथन युद्ध---" ( तुदा० ) ( रिशाम् ) घातिका-(दुर्णिहितैषिणीम् ) अन्यों के प्रति दुर्भावना को प्रेरित करने वाली अस्त्रशक्ति से युक्त सेना को ( ता -सर्वाः ) उन सबको ( अर्बुदे त्वम्-अमित्रेभ्यः-दृशे कुरु ). हे विद्युदस्त्र प्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! तू शत्रुओं को दिखाने के लिए कर (च) और ( उदारान् प्रदर्शय ) स्फोटक पदार्थों के प्रयोगों को भी प्रदर्शित कर ॥ १५ ॥

खड्डूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् ।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥ १६ ॥

( खड्डूरे ) भेदनीय ! शत्रु संघ में "खड भेदने" ( चुरादि० ) ततः-ऊरक् प्रत्ययः- औणादिको बाहुलकात् (उणादि. १।६७) ( अधि चङ्क्रमाम् ) अत्यन्त अधिक्रमण-आक्रमण करती हुई ( खर्विकाम् ) गर्व करने वाली-स्वबलाभिमानी ( खर्ववासिनीम् ) गर्व पूर्ण जनों में बसी हुई सेना को प्रदर्शित कर ( ये-अन्तर्हिताः-उदाराः ) जो छिपे हुए उभरने वाले स्फोटक पदार्थ (च) और ( ये गन्धर्वाप्सरसः ) गन्ध वाले गन्धक आदि और फैलने वाले वायु रूप-गैस के रूप में उड़ने वाले द्रव पदार्थ हैं ( सर्पाः ) सर्पण शील पंक्ति रूप धारा वाले हैं ( इतरजनाः ) इतरजन्यमान पदार्थ मिश्रण से उत्पन्न जो "चित्तभेक·······चूर्ण-

भल्लातक.........सद्यः प्राणहर एतेषां वा धूमः" ( कौटिल्यार्थ० औपनि० १४।१।५ ) ( रक्षांसि ) रक्षा जिनसे करते हैं। ऐसे षियुक्त पदार्थों को दिखला ॥१६॥

चतुर्दंष्ट्राञ्छ्यावदतः कुम्भमुष्काँ असृङ्मुखान् ।
स्वभ्यसा ये चोद्भ्यसाः　　॥ १७ ॥

( चतुर्दंष्ट्रान् ) चार दंष्ट्र वाले ( श्यावदतः ) काले दान्तों वाले ( कुम्भमुष्कान् ) घडे जैसे अण्डकोश वाले (असृङ्मुखान्) रक्त मुख वाले (च) और ( स्वभ्यसाः ) अपना भय रखने वाले (च) और ( उद्भ्यसाः ) दूसरे पर भय डालने वाले उन ऐसे पशु आकृति वालों तोप आदि धातुओं को प्रदर्शित कर†॥ १७ ॥

उद् वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः ।
जयाँश्च जिष्णुश्चामित्राञ्जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥

( न्यर्बुदे ) हे विद्युदस्त्र प्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! ( त्वम् अमित्राणाम्-अमूः सिचः ) तू शत्रुओं की उन संग्राम में शस्त्र वर्षा करने वाली सेनाओं को ( उद्वेपय ) कम्पादे ( जयन् जिष्णुः-च जय करता हुआ और जयशील दोनों ( इन्द्रमेदिनौ ) राजा को स्निग्ध करने वाले राजा के प्यारे अर्बुदि और न्युर्बुदि

---

† रावण के दश शिर, हनुमान् की पूंछ, आज कल हस्ति सेना अण्डकोश में स्फोटक पदार्थ आदि "यन्त्रवृषभ"

आरे अघा को न्वित्था ददर्श य युञ्जन्ति तम्वास्थापयन्ति ।
नास्मै तृणं नोदकमा भरन्त्युत्तरो धुरो वहति प्रदेदिशत् ॥
(ऋ० १०।१०२।१०)
मेढ़ा तोप दौलताबाद किले में हैदराबाद में है ।

विद्युदस्त्रप्रोक्ता और स्फोटकास्त्र प्रयोक्ता दोनों ( अमित्रान् जयताम् ) शत्रुओं को जीतें ॥ १८ ॥

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे ।

अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥ १९ ॥

( न्यर्बुदे ) हे स्फोटकास्त्रप्रयोक्ता सेनानायक ( सेनया ) अपनी सेना द्वारा ( प्रब्लीनः ) घेरा हुआ "ब्ली वरणे" ( क्र्यादि० ) ( मृदितः ) मसला हुआ ( हतः ) मारा हुआ ( अमित्रः ) शत्रु ( शयाम् ) सो जावे "लोपस्त आत्मनेपदेषु ( अष्टा० ७।१।४१ ) ( अग्निजिह्वाः ) सेना द्वारा अस्त्रों से फेंकी हुई अग्नि की ज्वालाए ( धूमशिखाः ) धूम की शिखाएं ( जयन्तीः ) जय प्राप्त करती हुई ( यन्तु ) चलें ॥१९॥

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ।

अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥ २० ॥

( अर्बुदे ) हे विद्युदस्त्र प्रयोक्ता सेनाध्यक्ष ! ( तया प्रणुत्तानां वरंवरम् ) उस सेना द्वारा तडित शत्रुओं में बड़े बड़े को ( शचीपतिः ) युद्ध कर्म का स्वामी ( इन्द्रः ) राजा ( हन्तु ) मारे ( अमीषाम्-अमित्राणाम् ) उन शत्रुओं का ( कः चन ) कोई भी ( मा मोचि ) मत छोडा जावे ॥२०॥

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु ।

शौष्कास्यमनु वर्ततामभित्रान् मोत मित्रिणः ॥ २१ ॥

( हृदयानि-उत्कसन्तु ) 'अमित्राणाम्, इति पूर्वमन्त्रात्' शत्रुओं के हृदय उखड जावें ( ऊर्ध्वः प्राणः-उदीषतु ) ऊपर

हुआ प्राण-श्वास ऊपर उड जावे ( शौष्कास्यम् ) 'आस्यस्य शौष्कयम्' सूखा मुखपना 'राजदन्तादिषु परम्' मुख का सूखापन ( अमित्रान्-अनुवर्तताम् ) शत्रुओं को अनुवर्तित हो-अनुगत हो-प्राप्त हो ( उत मा मित्रिणः ) अपितु मित्रवाले जिनके हम मित्र हैं उनके मित्रपक्षीय जनों को मुख का सूखापन न प्राप्त हो ॥ २१ )

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये ।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्रदर्शय ॥ २२ ॥

( च ये धीराः ) और जो कर्मवान् क्रियाशील योद्धाजन "धीःकर्मनाम" ( निघं० २।१ ) ( च ) और ( ये अधीराः पराञ्च ) और जो कर्म न करते हुए-चुपचाप परों-शत्रुओं में गुप्तरूप से प्रवेश कर युद्धास्त्र फेंकने वाले ( च ) और ( ये बधिराः ) बन्धन वाले व्यूहपाश में बान्धने वाले "बध संयमने" ( चुरादि० ) "सर्वधातुभ्यः-इन्" ( उणादि० ४।११८ ) ( तमसाः ) अन्धकार फैलाने के अस्त्रवाले ( च ) और ( ये तूपराः ) तूप-तोप महान् हिंसक साधन वाले "तुप हिंसार्थः" (भ्वा०) (अथो) और ( बस्ताभिवासिनः ) मर्दन-चकनाचूर करने वाले अस्त्रकणों को अभिवासित करने वाले अपने वीर हैं "वस्त मर्दने" ( चुरादि ) ( तान् सर्वान् ) उन सबको ( अमित्रेभ्यः ) शत्रुओं को ( अर्बुदे ) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता ( त्वं दृशे कुरु ) दिखाने के लिए कर ( उदारान् च प्रदर्शय ) उभरते हुए स्फोटक पदार्थों को भी प्रदर्शित कर ॥२२॥

अर्बुदिश्च त्रिषन्धिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम् ।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपतेऽमित्राणां सहस्रशः ॥ २३ ॥

( अर्बुदिः-च त्रिषन्धिः-च ) विद्युदस्त्रप्रयोक्ता सेनाध्यक्ष और तीन वस्तुओं के मेल से प्रयुक्त वज्र "वज्रेण त्रिषन्धिना" ( अथर्व ११।१०।३,२७ ) "अर्कस्त्रिधातु" ( ऋ० ३।२६।७ ) गन्धक मनःशिलः शोरकयुक्त "अर्कोवज्र नाम ( नि० २।२० ) स्तनयित्नु शब्दकारी अस्त्र प्रयोक्ता सेनानायक ( नः-अमित्रान् ) हमारे शत्रुओं को ( विविध्यताम् ) विशेषरूप से बीन्धे ( वृत्रहन् शचीपते-इन्द्र ) हे मेघहनन कर्त्ता कर्म के स्वामिन् ! विद्युत् देव ( यथा-एषाम-अमित्राणां सहस्रशः-हनाम ) जैसे जिससे इन शत्रुओं के सहस्र का भी हम हनन करें ॥२३॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
सर्वास्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय
॥ २४ ॥

( वनस्पतीन् ) युद्धोपयोगी विषमय फली वृक्षों-( वानस्पत्यान् ) वैसे ही फूल फल वाले वृक्षों-( ओषधीः ) ऐसे ही फलपाकान्त बीज वालों के बीजों-( उत ) और ( वीरुधः ) फैलने वाली वेलों को ( गन्धर्वाप्सरसः ) अस्त्रप्रयुक्त विष गन्ध वाले हवाओं और अस्त्रप्रयुक्त विविध नाशकारी सूर्यरश्मियों को "प्रजापतिरुपद्रवं गन्धर्वाप्सरोभ्यः प्रायच्छत्" ( जैमि० उप० १।१२।१ ) "अथो गन्धेन च रूपेण च गन्धर्वाप्सरसश्चरन्ति" (श० ६।१।४।१) "वातो गन्धर्वः" (शत० ६।४।१।४०) "तस्य सूर्यस्य मरीचयोऽप्सरसः" ( श० ६।४।१।४ ) ( पुण्यजनान् ) सदुपदेश आत्मा की अमरता के उपदेश से प्रेरक जनों ( पितॄन् ) शक्तिमान् शस्त्र सन्नद्ध वीर पालक सैनिकजनों "पितरो......शक्तिवन्तो

......"इषु बला वीरा" [ ऋ० ६।७।५।६ ] ( तान् सर्वान् ) उन सबको ( अमित्रेभ्यः-दृशे कुरु ) शत्रुओं को दिखाने को कर उनके सम्मुख तैयार कर ( उदारान् च-अर्बुदे प्रदर्शय ) और ऊपर उड़ने वाले स्फोटक पदार्थों को भी हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता तू प्रदर्शित कर ॥२४॥

ईशां वो मरुतो देव आदित्यो ब्रह्मणस्पतिः ।
ईशां व इन्द्रश्चाग्निश्च धाता मित्रः प्रजापतिः ।
ईशां व ऋषयश्चक्रुरमित्रेषु समीक्षयन् रदिते अर्बुदे तव
॥ २५ ॥

( वः-मरुतः-ईशाञ्चक्रुः ) हे प्रजाजनो ! तुम्हारे पर सैनिक जन "असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानेत्यभ्योजसा स्पर्द्धमानः तां विध्यत तमसा पव्रतेन" ( अथर्व० ३।२।६ ) स्वामित्व करते हैं तुम्हारी रक्षा करते हैं (वः- ऋषयः- ईशां- ईशाञ्चक्रुः) तुम्हारी ऋषि जन-वस्तुतत्त्व से साक्षात् ज्ञानी रक्षा करते हैं, तथा ( देवः ) दिव्यगुणवान् ( आदित्यः ) सूर्य ( ब्रह्मणस्पतिः ) ब्रह्म-जल का स्वामी मध्यस्थान का देव वर्षा करने वाला "ब्रह्म-उदकनाम" ( नि० १।१२ ( इन्द्रः ) विद्युत् "यदशनिरिन्द्रः" ( कौ० ६।१ ) "विद्युद् वा अशनिः" ( श० ६।१।३।१४ ) ( अग्निः ) आग ( धाता ) चन्द्रमा "चन्द्रमा वै धाता" ( षड्० ४।६ ) ( मित्रः ) स्नेहप्रेरक जल वाष्पप्रेरक वातप्रवाह ( प्रजापतिः ) गतिशील वायु "योऽयं पवते वायुः स एव प्रजापतिः" ( जै० उ० १।३४।३ ) ये सात देव उपर्युक्त अस्त्र-प्रयुक्त हुए ( वः-ईशां 'ईशांञ्चक्रुः'-अमित्रेषु समीक्षयन्-अर्बुदे तव रदिते ) शत्रुओं में अपने बल को दिखलाता हुआ तू विद्युदस्त्र-प्रयोक्ता तेरे मर्दित शत्रुगण पर तेरा विजय है ॥ २५ ॥

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवंजन यूयम् ।
इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥

( तेषां सर्वेषाम्-ईशाना:- मित्रा:-देवजना: ) वे सब "सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्" ( अष्टा० ७।१।३९, वा० ) स्वामित्व करने वाले रक्षक प्रेरक जिगीषुजनों ! ( यूयम्-उत्तिष्ठत संनह्यध्वम् ) तुम उठ खडे हो और शस्त्रास्त्र धारण कर युद्धार्थ तैयार हो-जाओ ( इमं संग्रामं संजित्य ) इस संग्राम को सम्यक् जीत कर ( यथालोकं वितिष्ठध्वम् ) यथास्थान-अपने अपने शिविर को लौट जाओ ॥ २६ ॥

---

## अथर्ववेद काण्ड ११ । सूक्त १० ।

ऋषिः—भृग्वङ्गिराः ( भर्जनशील अग्निप्रयोगवेत्ता )

देवता—त्रिषन्धिः ( गन्धक, मनः शिल, स्फोट पदार्थों का अस्त्र )

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।

सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

( उदाराः ) स्फोटक पदार्थों को ऊपर फेंकने वाले अस्त्रो ! या ऐसे अस्त्रों के प्रयोग करने वाले सैनिको ! तुम ( केतुभिः सह ) अपने स्फोटक संकेतों के साथ ( उतिष्ठत ) उठो ( सं नह्ययध्वम् ) शत्रुओं पर प्रहार करने को सन्नद्ध हो जाओ—तैयार हो जाओ ( सर्पाः ) सर्पणशील विषमय जन्तुओं के विषास्त्रों या उनके प्रयोक्ता जनो ! ( इतरजनाः ) उनसे भिन्न जन्यमान वनस्पतियों के विषप्रयोगो ] या उनके प्रयोक्ता जनो ! ( रक्षांसि ) रक्षा जिनसे की जावे ऐसे खनिज विष के प्रयोगों ! या उनके प्रयोक्ताओ ! ( अमित्रान्-अनुधावत ) शत्रुओं के प्रति दौड़ो ॥ १ ॥

ईशां वो वेदराज्यं त्रिषन्धे अरुणैः केतुभिः सह ।

ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।

त्रिषन्धेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥

( त्रिषन्धे ) हे त्रिषन्धि अस्त्र—गन्धक मनः शिल स्फोटक पदार्थ मिश्रित अस्त्र या उनके प्रयोक्ता सैनिक ! तू ( अरुणैः

केतुभिः सह ) लाल रंग वाले ज्वलनध्वजाओं-प्रहारों के साथ ( वः ) उन शत्रुओं के "पुरुष व्यत्ययः" ( राज्यम् ) राज्य का (ईशां वेद) स्वामी हो जा 'छन्दसो विदेरनुप्रयोगः' (ये अन्तरिक्षे) जो अन्तरिक्ष में ( ये दिवि ) जो द्युलोक में ( ये पृथिव्याम् ) जो पृथिवी में अरुण केतु—ज्वलन ध्वजाएं हैं वे ( मानवाः ) 'मानवानामेते तद्धितप्रत्ययस्य लुक्' शत्रुओं के प्रहारक होकर (त्रिषन्धेः) हे त्रिषन्धि ! उसके प्रयोक्ता 'सुलुगभावश्च छान्दसः' ( ते चेतसि ) तेरे संज्ञान-संकेत में प्रेरणा में रहकर (दुर्णामानः-उपासताम् ) दुर्णाम दुष्प्रवृति वाले शत्रुओं की 'द्वितीयार्थे प्रथमा' †सेवन करे-प्राप्त हो ॥ २ ॥

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः ।
क्रव्यादो वातरंहस आसजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ ३ ॥

( त्रिषन्धिना वज्रेण ) त्रिषन्धि वज्र के या उनके प्रयोक्ता के प्रेरित ( अयोमुखाः ) लोहफलक मुख वाले ( सूचिमुखाः ) सुई के समान अणि शलाका मुख वाले ( विकङ्कती मुखाः ) कङ्घी के समान दन्तयुक्त मुख वाले वाणास्त्र ( क्रव्यादः-वातरंहसः ) मांस भक्षक वायु पर उड़ने वाले पक्षी जैसे (अमित्रान्-आसजन्तु) शत्रुओं को समस्तरूप से लग जावें ॥ ३॥

अन्तर्धेहि जातवेद आदित्य कुणपं बहु ।
त्रिषन्धेरियं सेना सुहितास्तु मे वशे ॥ ४ ॥

( जातवेदः ) हे अग्नि ( बहु कुणपम् ) संग्राम में शत्रुओं के बहुत 'बहु-बहुम् सुपां सुलुक्-अमोलुक्' मृतदेह समूह को

† "दुर्णामानम्" इति ( सायणः )

( अन्तः-धेहि ) अपनी ज्वालाओं में छिपाले-भस्म करदे तथा ( आदित्य ) हे सूर्य ! तू भी अपनी किरणों में रख शीघ्र सुखा दे-जला दे ( त्रिषन्धेः ) त्रिषन्धि वज्र की या उसके प्रयोक्ता सैनिक की ( इयं सेना ) यह सेना ( मे वशे ) मेरे वश में ( सुहिताः-अस्तु ) सुरक्षित रहे ॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।
अयं बलिर्व आहुतस्त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ॥ ५ ॥

( देवजन-अर्बुदे ) विजिगिषु विद्युदस्त्र प्रयोक्ता ! ( त्वं सेनया सह-उत्तिष्ठ ) तू सेना के साथ उठ ( वः ) तेरी ( अयं बलिः-आहुतः ) संग्राम यज्ञ में यह बलि-भेंट समन्तरूप से दे दी गयी है-अब तू संग्राम में युद्धार्थ समर्पित कर दिया गया है ( त्रिषन्धेः प्रिया-आहुतिः ) और त्रिषन्धि-स्फोटक अस्त्र या उसके प्रयोक्ता न्यर्बुदि की संग्राम में अभीष्ट आहुति भी तेरे साथ देदी गयी है तुम दोनों के द्वारा संग्राम में विजय होना चाहिए ॥ ५ ॥

शितिपदी सं द्यतु शरव्येऽयं चतुष्पदी ।
कृत्येऽमित्रेभ्यो भव त्रिषन्धेः सह सेनया ॥ ६ ॥

( शितिपदी शरव्या ) तीक्ष्ण पद-पत्रफलक वाली वाणों की शृङ्खला "शिञ् निशाने" ( स्वादि० ) ( संद्यतु ) शत्रुसेना के खण्ड खण्ड कर ( इयं चतुष्पदी ) चार पदों विभागों वाली पैदल, घोड़ सवार, हाथी वाली यान वाली, जल सेना नभ सेना तथा ( कृत्ये ) हे कृत्ये काटने वाली उडनशील-सूक्ष्म शस्त्रशक्ति ! "कृत्यामुत्पादयामासुर्ज्वालामालोज्ज्वलाकृतिम्" तू भी (त्रिषन्धेः

सेनया सह ) त्रिषन्धि-स्फोटक अस्त्र या उसके प्रयोक्ता की सेना के साथ ( अमित्रेभ्य-मत्र ) शत्रुओं के लिए हो ॥ ६ ॥

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
त्रिषन्धेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥

( धूमाक्षी ) स्फोट पदार्थों के धुएं से भी भरी आँखों वाली हुई शत्रुसेना ( सम्पततु ) एक दूसरे पर ढेर के रूप में नीचे गिर पड़े ( च ) और ( कृधुकर्णी ) स्फोटक ध्वनि से ह्रस्व-मुडे हुए-दबे हुए या कटे-फटे जैसे कान वाली हुई ( क्रोशतु ) चिल्लावे ( त्रिषन्धेः सेनया जिते ) इस प्रकार त्रिषन्धि वज्रास्त्र या उसके प्रयोक्ता की सेना द्वारा जय होने पर ( केतवः-अरुणाः सन्तु ) उसकी चिनगारियां लाल हो जावें ॥ ७ ॥

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति ।
श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम्
॥ ८ ॥

( अन्तरिक्षे ये पक्षिणः ) पृथिवीस्थ अवकाश में जो पक्षी कौव्वे आदि ( दिवि ये वयांसि ) जो "लिङ्ग्व्यत्ययः" और भी ऊंचे गगन में ऊँची उडान वाले चील आदि विशेष पक्षी ( चरन्ति ) विचरते हैं ( अवायन्ताम् ) वे नीचे संग्राम स्थल पर आवें ( श्वापदः ) कुत्ते के समान पैर जिनके हैं वे शृगाल-गीदड़ आदि ( मक्षिकाः ) मक्खियां ( कुणपे ) मृत शत्रु सैनिक गण के शव पर ( संरभन्ताम् ) भीड रूप में जुट जावें ( आमादः-गृध्राः- रदन्ताम् ) कच्चा मांस खाने वाले गिद्ध भी चोंचों पञ्जों से खरोंच करें ॥ ८ ॥

यामिन्द्रेण संधां समधत्था ब्रह्मणा च बृहस्पते ।
तयाहमिन्द्र संधया सर्वान् देवानिह हुव इतो जयत मामुतः
॥ ९ ॥

( बृहस्पते ) हे शस्त्रास्त्र प्रक्षेपण विद्या के आचार्य ! ( यां सन्धाम् ) जिस सङ्कल्पित भावना प्रतिज्ञा को (इन्द्रेण ब्रह्मणा च) इन्द्र अपने शिष्य और ब्रह्मा अपने गुरु के साथ रहकर ( समधत्था ) तूने पूरा किया या तू पूरा करता है ( इन्द्र तया सन्धया ) इन्द्र उसी सङ्कल्पित भावना प्रतिज्ञा से ( अहं सर्वान् देवान् ) मैं सब देवों-विजिगिषु जनों -संग्राम में शस्त्रास्त्र प्रक्षेपक विद्वानों को ( इह हुवे ) इस संग्राम में बुलाता हूं ( इतः-जयत ) इस हमारे पक्ष की ओर से शत्रुओं को जीतो ( अमुतः-मा ) उस शत्रुपक्ष की ओर से न जीतो ॥ ९ ॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः ।
असुरक्षयणं वधं त्रिषन्धि दिव्याश्रयन् ॥ १० ॥

(आङ्गिरसः-बृहस्पतिः) अग्नि विद्यावेत्ता "अङ्गिरा वा अग्निः" ( शत० ६ । ४ । ४ । ४ ) विद्वान् ( ब्रह्मसंशिताः- ऋषयः ) विद्युद्विज्ञान से तीक्ष्ण तेजस्वी साक्षाद्दर्शी विद्वान् "विद्युद्ध्येव ब्रह्म" ( श० १४ । ८ । ७ । १ ) ( असुरक्षयणं त्रिषन्धि वधम् ) असुरों-शत्रुओं को क्षय करने वाले त्रिषन्धि वध साधन वज्र को ( दिवि-आश्रयन् ) आकाश में फेंक देते हैं-फैला देते हैं ॥१०॥

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषन्धिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥ ११ ॥

(येन) जिस त्रिषन्धि वज्रास्त्र द्वारा ( असौ-आदित्यः-गुप्तः) वह आकाशीय सूर्य गुप्त-अदृश्य हुआ ( इन्द्रः-च ) और इन्द्र-विद्युत् भी गुप्त-अदृश्य होकर ( उभौ तिष्ठतः ) दोनों ठहरते हैं-रह जाते है ( त्रिषन्धिम् ) उस त्रिषन्धि वज्र को ( देवाः ) विजिगीषु विद्वान् जन ( ओजसे ) ओज के लिए-स्फूर्ति के लिए ( च ) और ( बलाय ) बल के लिए ( अभजन्त ) सेवन करते हैं ॥ ११ ॥

सर्वाँल्लोकान्त्समजयन् देवा आहुत्यानया ।
बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ॥१२॥

( आङ्गिरसः-बृहस्पतिः ) अग्निविद्या वेत्ता विद्वान् जन ( असुरक्षयणं यं वधं वज्रम् ) असुरों का क्षय करने वाले जिस वधक त्रिषन्धि वज्रास्त्र को ( असिञ्चत ) फिरता है-छोड़ता है ( अनया-आहुत्या ) इस आहुति-त्रिषन्धि के संग्राम प्रक्षेपण में ( देवाः-सर्वान् लोकान् अजयन् ) विजिगीषु विद्वान् सब लोकों का जय किया करते हैं ॥ १२ ॥

बृहस्पतिराङ्गिरसो वज्रं यमसिञ्चतासुरक्षयणं वधम् ।
तेनाहममूं सेनां नि लिम्पामि बृहस्पतेऽमित्रान् हन्म्योजसा ॥ १३ ॥

( आङ्गिरसः-बृहस्पतिः ) अग्निविद्या वेत्ता विद्वान् जन ( असुरक्षयणं य वधं वज्रम् ) असुरों का क्षय करने वाले जिस वधक त्रिषन्धि वज्रास्त्र को (असिञ्चत) फिराता है सो (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! ( तेन ) उस तेरे वज्र से ( अमूं सेनां निलिम्पामि) उस पर सेना की मलिया मेट करता हूं ( ओजसा-अमित्रान् हन्मि ) सैन्य बल से शत्रुओं को मारता हूं ॥ १३ ॥

सर्वे देवा अत्यायन्ति ये अश्नन्ति वषट्कृतम् ।
इमां जुषध्वमाहुतिमितो जयत मामुतः ॥ १४ ॥

(सर्वेदेवाः) सब विजिगीषु जन (अत्यायन्ति) दुष्मार्ग को पार कर आते हैं (ये वशट् कृतम्-अश्नान्ति) जो संग्राम यज्ञ में वज्र प्रहार से किये-प्राप्त शत्रु यह बल का भोजन करते हैं "वज्रो वै वषटकारः" (ए० ३ । ८) (इमाम्-आहुतिं जुषध्वम्) इस त्रिषन्धि वज्र की संग्राम यज्ञ में आहुति का सेवन करें-प्रयोग करें संग्राम में छोड़े हुए (इतः-जयत) इस हमारे पक्ष की ओर से जय करें (आमुतः मा) उस शत्रु पक्ष की ओर से नहीं ॥ १४ ॥

सर्वे देवा अत्यायन्तु त्रिषन्धेराहुतिः प्रिया ।
संधां महतीं रक्षत ययाग्रे असुरा जिताः ॥ १५ ॥

(सर्वेदेवाः-अत्यायन्तु) सब विजिगीषु जन दूर मार्ग पार कर आओ (त्रिषन्धेः प्रिया-आहुतिः) त्रिषन्धि वज्र की संग्राम यज्ञ में प्रिया आहुति दी है (महतीं सन्धां रक्षत) विजयार्थ महती सङ्कल्प भावना-प्रतिज्ञा की रक्षा करो-निभाओ (यया-अग्रे-असुराः-जिताः) जिसके द्वारा पूर्व असुर मारे हैं अथवा जिसके द्वारा आगे सामनेस्थित असुर-शत्रुजन जीते हैं ॥ १५ ॥

वायुरमित्राणामिष्वग्राण्याञ्चतु ।
इन्द्र एषां बाहून् प्रति भनक्तु मा शकन् प्रतिधामिषुम् ।
आदित्य एषामस्त्रं वि नाशयतु चन्द्रमा युतामगतस्य
पन्थाम् ॥ १६ ॥

( वायुः ) वायव्य अस्त्र से प्रसारित वायु ( अमित्राणाम् ) शत्रुओं के ( इष्वग्राणि ) बाणों के अग्रभागों को ( आञ्चतु ) दबा दें-मोड़ दें ( इन्द्रः ) वैद्युतास्त्र से क्षिप्त विद्युत् ( एषां बाहून् प्रति भनक्तु ) इन शत्रुओं के बाहुओं को तोड़ दें, जिससे (इषुम्-प्रतिधां मा शकन् ) बाण को न चढा सकें ( आदित्यः-एषाम्-अस्त्रं विनाशयतु ) सौर अस्त्र द्वारा प्रयुक्त 'सूर्यकिरणसमूह इन शत्रुओं के अस्त्र को विनष्ट कर दे ( चन्द्रमाः ) चान्द्रमस अस्त्र शीतास्त्र से चन्द्रमा अथवा रात्रि तामसास्त्र से रात्रि का अन्धकार "रात्रिर्वै चन्द्रमाः" ( शत० १२।४।४।७ ) इन अस्त्रों का वर्णन वाल्मीकि रामायण में भी है "विष्णुचक्रं तथाप्यमुग्रमैन्द्रं चक्रं तथैव च वज्रमस्त्रं नरश्रेष्ठं आग्नेयमस्त्रं सौम्यं च राघव सौरं तेजःप्रभं नाम परतेजोपकर्षणम्" ( वाल्मीकि. रा. बाल. का. सर्ग २७। ५, ६, १०, १४, १६ ) ( अगतस्य पन्थां युताम् ) न गये हुए शत्रु के मार्ग को निरुद्ध करे ॥ १६ ॥

यदि॑ प्रेयु॒र्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि
॥ १७ ॥

( यदि देवपुराः प्रेयुः ) यदि शत्रु जन पूर्वोक्त वायु आदि देवों की पुरियों-अस्त्र स्थलियों को प्राप्त हों-उन पर आक्रमण करने को आवें ( ब्रह्म वर्माणि चक्रिरे ) ब्रह्मास्त्रों को प्रहार वारणार्थ कवचों को सम्पन्न कर चुके हुए ( तनूपानं परिपाणं कृण्वानाः ) शरीररक्षण साधन अपने चारों ओर के रक्षा साधन को करते हुए ( यत्-उपोचिरे ) जब कि ललकारें ( सर्वं

तत्-अरसं कृधि ) उस सब को राजन्! नीरस-प्राणहीन करदे ॥ १७ ॥

क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् ।
त्रिषन्धे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

( त्रिषन्धे ) त्रिषन्धि वज्रास्त्र के प्रयोक्ता ! तू ( पुरोहितम् अनुवर्तयन् ) शत्रु के अग्र नेता सेनाध्यक्ष का अनुवर्तन करता हुआ-पीछा करता हुआ ( क्रव्यादा मृत्युना ) मांस खाने वाले के समान मारक शस्त्रास्त्र समूह के साथ ( सेनया ) तथा सेना के साथ ( प्रेहि ) प्रगति कर ( जय ) जीत ( अमित्रान् प्रपद्यस्व ) और शत्रुओं को प्राप्त हो उनके विनाशार्थ ॥ १८ ॥

त्रिषन्धे तमसा त्वममित्रान् परि वारय ।
पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥१९॥

( त्रिषन्धे त्वम् ) हे त्रिषन्धि वज्रप्रयोक्ता सेनानायक ! तू ( तमसा ) तामस अस्त्र-अन्धकार फेंकने वाले अस्त्र से ( अमित्रान् परिवारय ) शत्रुओं को घेर ले ( पृषदाज्यप्रणुत्ता-नाम-अमीषां ) दाहक वज्र से ताडित हुआ उन शत्रुओं में से 'प्रुष दाहे इत्यत्र पृषत्' "वज्रो ह्याज्यम्" (श० १ । ३ । २ । १७) ( कः-चन ) कोई भी ( मा मोचि ) मत छूट पावे ॥ १९ ॥

शितिपदी सं पतत्वमित्राणाममूः सिचः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेना अमित्राणां न्यर्बुदे ॥२०॥

( न्यर्बुदे ) हे स्फोटकास्त्र प्रयोग या उसका प्रयोक्ता सेना-नायक ! तू ( शितिपदी ) तीक्ष्ण पत्र वाली अस्त्रशक्ति ( अमि-

त्राणाम्-अमूः सिचः ) शत्रुओं की उन सेनाओं पर ( सम्पतनु ) सम्पतन करें-गिरें ( अमित्राणाम्-अमूः-सेनाः ) शत्रुओं की वे सेनाएं ( अद्य मुह्यन्तु ) अब मूर्छित हो जावें ॥ २० ॥

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरं वरम् । अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

( न्यर्बुदे ) हे स्फोटक अस्त्र प्रयोक्ता सेनानायक जन ! ( मूढा-अमित्राः ) शितिपदी अस्त्र से शत्रु जो मूर्छित हो गए ( एषां वरं वरम् ) इनके अच्छे अच्छे वीर (अनया सेनया जहि) सेना के द्वारा ( जहि ) मार ॥ २१ ॥

यश्च कवची यश्चाकवचोऽमित्रो यश्चाज्मनि ।
ज्यापाशैः कवचपाशैरज्मनाभिहतः शयाम् ॥ २२ ॥

( यः-कवची ) जो कवचधारी ( च ) और ( यः-अकवची ) जो कवच रहित ( च ) और ( यः ) जो ( अज्मनि ) जो गमन शील यान में-रथ में सवार ( अमित्रः ) शत्रु है, वह (ज्यापाशैः) विद्युत् से युक्त डोरी-पाशों से ( कवचपाशैः ) कवचपाशों से ( अज्मना ) रथस्थ से ( अभिहतः ) मरा हुआ ( शयाम् ) हो जावे ॥ २२ ॥

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हताञ्छ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥ २३ ॥

( ये वर्मिणः ) जो कवचवाले शत्रु प्रहार के कारण शरीर पर पहने हुए ( ये-अवर्मिणः ) जो कवचरहित ( च ) और ( ये वर्मिणः ) केवल हाथ में धारण किये हुए ( अमित्राः ) शत्रु जन

हैं ( अर्बुदे ) हे 'वैद्युत अस्त्र या उसके प्रयोक्ता' ( तान् सर्वान् हतान् ) उन सब मरे हुओं को ( भूम्यां श्वानः-अदन्तु ) पृथिवी पर नगर जङ्गल के कुत्ते गीदड़ भेड़िये खाजावें ॥ २३ ॥

ये र॒थिनो॒ ये अ॑र॒था अ॑सा॒दा ये च॑ सा॒दिन॑ः ।
सर्वा॑नदन्तु॒ तान् ह॒तान् गृध्राः॑ श्ये॒नाः प॑तत्रिणः ॥२४॥

( ये रथिनः ) जो रथ वाले ( ये-अरथाः ) जो रथरहित ( ये-असादाः ) जो अश्व आदि रहित ( च ) और ( ये सादिनः ) जो घोड़े आदि पर आरूढ ( तान् सर्वान् हतान् ) उन सब मारे हुओं को ( गृध्राः श्येनाः पतत्रिणः-अदन्तु ) गिद्ध भास-बाज पक्षी खाजावें ॥ २४ ॥

स॒हस्र॑कुणपा शेतामामि॒त्री सेना॑ सम॒रे व॒धाना॑म् ।
विवि॑द्धा ककु॒जाकृ॑ता ॥ २५ ॥

( वधानां समरे ) बधक शस्त्रों के संघर्ष-होड़ में ( आमित्री सेना ) शत्रु की सेना ( विविद्धा ) विविध प्रहारों से क्षत विक्षत हुई ( ककजाकृता ) तथा ककजा-शस्त्र प्रहारों से उत्पन्न हुई घबराहट से हिंसित-पीड़ित ( सहस्रकुणपा ) असंख्य शवों वाली ( शेताम ) पृथिवी पर सो जावे ॥ २५ ॥

म॒र्मा॒वि॒धं॒ रोरु॑वतं सुप॒र्णैर॒दन्तु॑ दु॒श्चितं॑ मृदि॒तं शया॑नम् ।
य इ॒मां प्र॒तीची॒माहु॑तिम॒मित्रो॑ नो॒ युयु॑त्सति ॥ २६ ॥

( मर्माविधं रोरुवतम् ) मर्मस्थानों में विद्ध-आघात पाए हुए अत्यन्त चिल्लाते हुए ( दुश्चितं मृदितम् ) दुःख से पूर्ण-मर्दित चूरचूर हुए ( शयानम् ) भूमि पर सोये जैसे मरे से पड़े

प्रधान शत्रु को ( सुपर्णः-अदन्तु ) पक्षी खा लेवें "सुपर्णः, सुपर्णाः-विभक्तिव्यत्ययः" ( यः अमित्रः ) जो शत्रु राजा ( नः ) हमारी ( इमाम्-आहुतिम् ) इस त्रिषन्धि स्फोटक अस्त्ररूप संग्राम यज्ञ में फेंकी आहुति को ( प्रतीचीं युयुत्सति ) उलटी करने को उलटा देने को युद्ध करना चाहता है ॥ २६ ॥

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ २७ ॥

( देवाः ) विजिगीषु कुशल जन ( याम्-अनुतिष्ठन्ति ) संग्राम यज्ञ में फेंकी जाने वाली त्रिषन्धि-वज्रास्त्ररूप आहुति को सेवन करते हैं ( यस्याः-विराधनं न-अस्ति ) जिसका विफलभाव-वैफल्य विफलता नहीं है ( तया त्रिषन्धिना वज्रेण ) उस संग्राम यज्ञ में फेंकी त्रिषन्धि स्फोटक वज्ररूप आहुति से ( वृत्रहा-इन्द्रः-हन्तु ) शत्रुघातक राजा शत्रु को मारे ॥ २७ ॥

---

## अथर्व० काण्ड १२ सूक्त १

ऋषिः—अथर्वा ( स्थिर ज्ञान वाला )

देवता—भूमिः ( पृथिवी )

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु
॥ १ ॥

(बृहत् सत्यम् ) बृहत्-महत्-सर्वदेशी सत्य–'सत्सु पृथिवी-प्रभृतिषु साधु' अव्यक्त उपादान अति सत्य। जैसे मिट्टी के विकारों में मिट्टी सत्य, स्वर्ण के विकारों में स्वर्ण सत्य ( उग्रम्-ऋतम् ) उद्गीर्ण ज्ञान–ऊंचा ज्ञान–प्रबल नियमन–अपने अक्ष पर, अपने केन्द्र पर, सूर्य के चारों ओर भ्रमणविधान [ ऋतञ्च-सत्यञ्चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ] ( दीक्षा तपः ) जीवों की कर्मफल भोग प्राप्ति सम्बन्धी योग्यता, स्वाभाविक कर्मशक्ति ( ब्रह्म ) परमात्मा ( यज्ञः ) अणुसङ्गतिकरण धर्म -पिण्डीकरण धर्म। ये छः ( पृथिवीं धारयन्ति ) पृथिवी को धारण करते हैं–पृथिवी के रचना में हेतु हैं ( सा पृथिवी नः-भूतस्य भव्यस्य पत्नी ) वह पृथिवी हमारे पिछले किये कर्मफल और भविष्य में किये जाने वाले कर्मफल की रक्षिका है ( नः–उरुं लोकं कृणोतु ) हमारे लिए कर्म करने और कर्मफल पाने को तथा निवासार्थ विस्तृत अवकाश एवं स्थान देती है ॥ १ ॥

असंबाधं मध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः प्रवतः समं बहु ।
नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति पृथिवी नः प्रथतां राध्यतां नः
॥ २ ॥

( मानवानां मध्यतः * असम्बाधम् ) मनु–प्रजापति परमात्मा की प्रजाओं मनुष्यादि प्राणियों के 'प्रजापति वै मनुः स हीदं सर्वममनुत' ( शत० ६।६।१।१९ ) मध्य में असम्बाध, सम्बाध सम्पीडन करने में आशक्त–न सम्बाध न–सम्पीडन करने योग्य अवकाश को करती हुई †( यस्याः-उद्वतः प्रवतः समं बहु ) जिस पृथिवी पर ऊंचे नीचे स्थान तथा बहुत समान स्थान है ( या पृथिवी नः-नानावीर्याः-ओषधीः-बिभर्ति ) जो पृथिवी हमारे लिए भिन्न-भिन्न गुण वाली ओषधियों को धारण करती हैं ( नः प्रथतां राध्यताम् ) पृथिवी हमारे लिए विशाल हो और सुख को सम्यक् सिद्ध करने वाली हो ॥ २ ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥ ३ ॥

( यस्यां समुद्रः-उत-सिन्धुः-आपः ) जिस पृथिवी पर समुद्र और स्यन्दशील बहने वाली नदी तथा प्रसृत जल हैं ( यस्याम्-अन्नं-कृष्टयः सम्बभूवुः ) जिस पृथिवी पर अन्न अदनीय पदार्थ तथा अत्ता मनुष्यादि प्राणी "कृष्टयः-मनुष्यनाम" ( निघं० २।३ ) यहां सामान्य से मनुष्य आदि प्राणी गृहीत हैं ( यस्याम्-इदं

---

* यह पाठ होशियारपुर सम्पादित का शुद्ध है यह अन्यत्र भी दिया है परन्तु कहीं पर 'बध्यतः' पाठ है वहां अर्थ की क्लिष्ट कल्पना करनी पड़ती है । जैसे क्षेमकरण जी के भाष्य में—'अस' में मुम्, 'बध्यत' में यकार पुनः लिङ्गव्यत्यय ।

† "नञो ... अक्षावशक्तौ" ( अष्टा० ६ । २ । १५७ ) इससे नञ् से उत्तर 'संम्बाधं' अच् प्रत्ययान्त उत्तर पद अन्तोदात्त है जैसे 'असञ्जयः' ।

प्राणत्-एजत्-जिन्वति ) जिस पृथिवी पर वह प्राण लेता हुआ या चलता हुआ जड़ जङ्गम तृप्त होता है ( सा भूमिः-पूर्वपेये नः-दधातु ) वह भूमि-भूभागवाली पूर्वपेय-प्रथम आरम्भ सृष्टि में पान करने योग्य स्वरस में हमें धारण करे-धारण करती है अथवा पूर्वपेय श्रेष्ठ पेयरस के पान में धारण करे ॥ ३ ॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः ।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु ॥ ४ ॥

( यस्याः पृथिव्याः-चतस्रः प्रदिशः ) जिस पृथिवी की चार प्रधान दिशाएं हैं ( यस्याम्-अन्नं कृष्टयः सम्बभूवुः ) जिस पृथिवी पर "अन्नाय चतुर्थ्यर्थे प्रथमा सुपां सु०" अन्न के लिये कृषियां खेतियां होती हैं ( या बहुधा प्राणत्-एजत्-बिभर्ति ) जो अन्नखेतियों से बहुत प्रकारों से प्राण धारण करते हुए गति करते हुए का पोषण करती है ( सा भूमिः-नः-गोषु-अपि-अन्ने दधातु ) वह भूमि हमें गौओं में और अन्न में धारण करें, समृद्ध करें ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन् ।
गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु ॥ ५ ॥

( यस्यां पूर्वे पूर्वजनाः-विचक्रिरे ) जिस पृथिवी पर पूर्व कालीन पूर्वजन-महर्षि या आरम्भ सृष्टि के जन विविधकर्म करते रहे हैं ( यस्यां देवाः-असुरान्-अभ्यवर्तयन् ) जिस पृथिवी पर देवों ने अपने विद्याबल से असुरों-अज्ञानान्धकार में पड़े हुए जनों को अपनी ओर अभिवर्तित कर लिया है, अपनी ओर

आकर्षित कर लिया ( गवाम्-अश्वानां-वयसः-विष्ठा ) जो गौओं घोड़ों पक्षियों की पीठस्थली है रहने-विश्राम करने की स्थली है ( पृथिवी नः-भगं-वर्चः-दधातु ) वह पृथिवी हमारे लिए ऐश्वर्य चान्दी, सोना आदि और अन्न भोजन "वर्चः अन्ननाम" ( निघं० २ । ७ ) धारण करावें ॥ ५ ॥

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ॥ ६ ॥

(विश्वम्भरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षाः-जगतः-निवेशनी) सब प्राणीमात्र का भरण करने वाली वसु-बसाने वाले धन को धारण करने वाली को अपने ऊपर प्रतिष्ठित करने वाली सुवर्ण आदि धातु हीरा आदि रत्न जिसके वक्ष में-गुहा में है ऐसी स्थावर जङ्गम को आश्रय देने वाली ( वैश्वानरम्-अग्नि बिभ्रती भूमिः ) वैश्वानर सब प्राणियों के ले जाने वाली इस पार्थिव अग्नि को धारण करती हुई भूमि ( इन्द्र ऋषभः-नः-द्रविणं दधातु ) इन्द्र-सूर्य जिसका ऋषभ है सूर्य से उत्पादनशक्ति प्राप्त किये हुए ऐसी पृथिवी हमारे लिए धन को "द्रविणं धन-नाम" ( निघ० २ । १० ) धारण करावें ॥ ६ ॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

( यां भूमिं पृथिवीं-अस्वप्नाः-विश्वदानीम्-अप्रमादं देवाः-रक्षन्ति ) जिस भूमि-होते हैं निर्वाहक पदार्थ जिसमें ऐसी पृथिवी को स्वप्न से रहित जागने वाले सावधान दिव्य देव सदा प्रमादरहित सुरक्षित रखते हैं ( सा नः-प्रियं मधु दुहाम् ) वह हमारे लिये प्रिय मधु-मीठा अन्नरस दुहे ( अथ-उ वर्चसा उक्षतु ) और वर्च-जीवन तेज से सींचे ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिसमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः । यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः । सा नो भूमिस्त्विषि बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥८॥

(या-अग्रे-अर्णवे-अधि सलिलम्-आसीत् ) जो पृथिवी प्रारंभ-काल में जल वाले समुद्र में जलरूप थी-ठोस पिण्ड न थी ( यां मनीषिणः-मायाभिः-अन्वचरन् ) जिसको मनीषी-मननशील ऋषि प्रज्ञाओं-सूक्ष्म बुद्धियों के द्वारा अनुगत करते हैं—अनुसन्धान द्वारा जानते हैं "माया प्रज्ञा नाम" ( निघं० ३ । ९ ) ( यस्याः पृथिव्याः-अमृतं हृदयं परमे व्योमन्-सत्येन-आवृतम्) जिस पृथिवी का अमृत-अस्थूल सूक्ष्म स्वरूप परम व्योम-लोकों के महान् खगोल-आकाश मण्डल में सत्यस्वरूप परमात्मा द्वारा ढका हुआ था "सत्यं ब्रह्म" ( श० १४ । ८ । ५ । १ ) ( सा भूमिः-त्विषि बलम्-उत्तमे राष्ट्रे दधातु ) वह भूमि राष्ट्र के निमित्त दीप्ति और बल को धारण करे ॥ ८ ॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति । सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥९॥

(यस्यां परिचराः समानीः-आपः-अहोरात्रे-अप्रमादं क्षरन्ति) जिस पृथिवी पर भ्रमणशील-घूमने वाले समानरूप में रहने वाले-समता बनाने वाले जलप्रवाह निरन्तर बहते हैं ( सा भूमिः-भूरिधारा पयः-दुहाम् ) वह भूमि बहुत जलधाराओंवाली हुई जल को दुहे ( अथ-उ वर्चसा-उक्षतु ) और वर्च-जीवन-तेज से सींचे ॥ ९ ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे। इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः। सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥

(याम्-अश्विनौ-अमिमाताम्) जिस पृथिवी को अश्वि-युगल-सूर्य चन्द्र ने माप लिया—मापते हैं सूर्य अपने चारों ओर इसे घुमाने से माप लेता है और चन्द्रमा इसके चारों ओर घूमने से इसे माप लेता है, दिन रात भी इसे मापते हैं-कितने काल तक यह पृथिवी आकाश में ठहरती है (यस्यां विष्णुः-विचक्रमे) जिस पर व्यापक परमात्मा ने अपना उत्पादन विक्रम प्रदर्शित किया है—करता रहता है या सूर्य तपाने का विक्रम करता है (यां शचीपतिः-इन्द्रः-आत्मने-अनमित्रां-चक्रे) जिस पृथिवी को शक्तियों के स्वामी इन्द्र-विद्युद्देव या विद्युद्देव के समान राजा ने अपने लिये शत्रुरहित कर दिया (सा नः-भूमिः-माता मे पुत्राय पयः-विसृजताम्) वह भूमि हमारी माता मुझ पुत्र के लिये दूध-दूध समान पेय जल आदि विसर्जन करे ॥१०॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु। बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम्। अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

(पृथिवि भूमि) हे प्रथनस्वरूप भूमि! (ते गिरयः पर्वताः-हिमवन्तः) तेरे गिरि उद्गीर्ण स्थल-भूमि से ऊपर उठे हुए टीले पर्वत-पर्व वाले ऊँचे नीचे होते हुए और हिमवान्-हिमालय (ते-अरण्यं स्योनम्-अस्तु) तेरा-तेरे ऊपर जङ्गल सुखरूप हो (बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपाम्-इन्द्रगुप्तां ध्रुवां पृथिवीम्)

बभ्रु-भूरे रंग वाली या ओषधियों से भरी हुई, कृष्ण रंग वाली या कृषियुक्त हुई, रोहिणी लाल रंग वाली या उगी हुई वनस्पतियों वाली, सब रंगों वाली, विद्युद्देव द्वारा यथावत् वृष्टि से सुरक्षित, ध्रुवा-अचल तुझ पृथिवी को ( अहम्-अजीतः-अहतः-अक्षतः-अध्यष्ठाम् ) मैं अजीत-जरारहित, अहत, क्षतरहित हुआ अधिष्ठित रहूँ ॥ ११ ॥

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः ।
तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः ।
पर्जन्यः पिता स उ नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

( पृथिवि ते यत्-मध्यं यत्-च नभ्यं याः-ऊर्जः-तन्वः सम्बभूवुः ) हे पृथिवी तेरा जो मध्यभाग भूगर्भीय, तेरा जो नाभिभाग-केन्द्रीय भाग तेरी जो रस भरी भक्तियां-क्यारियां हैं (तासु नः-धेहि) उनमें हमें धारण करा-लाभ का अधिकारी बना ( नः-अभिपवस्व ) हमें उनकी ओर प्रेरित कर ( माता भूमिः-अहं पुत्रः पृथिव्याः ) भूमि माता है और मैं पुत्र तुझ पृथिवी का हूँ ( पिता पर्जन्यः सः-उ नः पिपर्तु ) पर्जन्य-मेघ पिता है वह हमें पाले ॥ १२ ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः ।
यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् । सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

( यस्यां भूम्यां विश्वकर्माणः-वेदिं परिगृह्णन्ति ) जिस पृथिवी पर शिल्पीजन वेदी को परिगृहीत करते हैं—मापकर बनाते हैं-रचते हैं ( यस्यां यज्ञं तन्वते ) जिस पर यज्ञकर्म कुशल ऋत्विक्

यज्ञ का विस्तार करते हैं (यस्यां पृथिव्याम्-ऊर्ध्वाः शुक्राः स्वरवः-आहुत्याः पुरस्तात्-मीयन्ते) जिस पृथिवी के ऊपर उठे हुए शुभ्र अग्रि वाले स्तम्भ आहुति डालने से पूर्व निर्मित किये जाते हैं ( सा भूमिः-वर्धमाना न -वर्धयत् ) वह भूमि प्रवृद्ध होती हुई हमें प्रवृद्ध करे ॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन। तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

( पृथिवि यः-नः-द्वेषत्-यः पृतन्यात्-यः-अभिदासात्-यः-मनसा वधेन ) हे पृथिवी ! जो हमारे प्रति द्वेष करे जो हम पर संग्राम करना चाहे-चढाई करे "पृतना संग्रामनाम" ( निघं० २ । १७ ) जो हमें उपक्षीण करे हिंसित करे मन से या वधक साधन से ( भूमे पूर्वकृत्वरि त नः-रन्धय ) हे पूर्व ही प्रतीकार करने वाली उसको हमारे प्रति संसिद्ध कर—हमारे अधीन कर ॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः। तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

( पृथिवी त्वत्-जाताः-मर्त्याः-त्वयि चरन्ति ) हे पृथिवी ! तुझसे उत्पन्न हुए मनुष्य आदि मरणधर्मी तेरे ऊपर विचरते हैं ( त्वं द्विपद-चतुष्पदः-बिभर्षि ) तू दो पैर वाले मनुष्यों पक्षियों और चार पैर वाले पशुओं को धारण करती है ( पृथिवी तव-इमे पञ्च मानवाः ) पृथिवी तेरे ये पांच मनुष्य हैं ( येभ्यः-मर्त्येभ्यः-उद्यन्-सूर्यः-रश्मिभिः-अमृतं ज्योतिः-आतनोति )

जिन मनुष्यों के लिए उदय होता हुआ सूर्य रश्मियों से अमृत-मय ज्योति को फैलाता है ॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुंहतां समग्रा वाचो मधुं पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

( ताः प्रजाः-नः-समग्राः-वाचः-दुहताम् ) वे प्रजायें पृथिवी-धारी प्रजाएँ हमारे लिए समग्र वाणियाँ सुखस्नेह भरी दुहें ( पृथिवी-मधु-मह्यं-धेहि ) हे पृथिवी ! तू ऐसा मधुर वचन गुण मेरे लिये धारण कर सब प्राणी भी मधुर वाणियाँ मुझे दो ॥ १६ ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहां ॥ १७ ॥

( विश्वस्वं ) विश्व को उत्पन्न करने वाली—या सर्व स्वरूप ( ओषधीनां-मातरम् ) ओषधियों की माता ( ध्रुवां भूमिं पृथिवीम् ) ध्रुव भूमि उत्पत्तिस्थान पृथिवी (धर्मणा धृताम् ) धर्म नियम से सम्भाली हुई ( शिवां स्योनां विश्वहा-अनुचरेम् ) शिव—कल्याणकारी सुख रूप को हम सदा अनुष्ठित करें—सुरक्षित सेवन करें ॥ १७ ॥

महत् सधस्थं महती बंभूविथ महान् वेगं एजथुर्वेपथुष्टे ।
महास्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् । सा नो भूमे प्र रोचय
हिरण्यस्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

( महत् सधस्थम् ) पृथिवी तू सबका महान् सहस्थान है। अतः ( महती बभूविथ ) तू बड़ी है ( ते वेगः-महान् )

तेरा महान् वेग-गतिक्रम बडा है (एथुः-वेपथुः) तेरा चलना कम्पना महान् है (महान्-इन्द्रः-त्वा-अप्रमादं रक्षति) महान् इन्द्र परमात्मा प्रमादरहित रक्षा करता है (सा भूमे नः हिरण्यस्य-इव-संदृशि प्ररोचय) वह भूमि ! तू हमें सुनहरे-रूप जैसे संरक्षित होकर प्रकृष्ट रुचि करा (कः चन-नः-मा द्विक्षत) कोई भी हमसे द्वेष न करें ॥ १८ ॥

अ॒ग्निर्भूम्या॒मोष॑धीष्व॒ग्निमापो॑ बिभ्रत्य॒ग्निरश्म॑सु ।
अ॒ग्निर॒न्तः पुरु॑षेषु गोष्वश्वे॑ष्व॒ग्नयः॑ ॥ १९ ॥

(भूम्याम् अग्निः) भूमि में अग्नि है इसकी स्थिरता के लिए (ओषधीषु) ओषधियों में अग्नि है (आपः-अग्निं-बिभ्रति) जल प्रवाह जलधाराएं अग्नि को धारण करती हैं (अश्मसु-अग्निः) पत्थरों में अग्नि है (अन्तः-पुरुषेषु-अग्निः) मनुष्यों के अन्दर अग्नि है (गोषु-अश्वेषु-अग्नयः) गौ आदि दुधारी पशुओं में और घोडे आदि वाहक पशुओं में अग्नियां है ॥ १९ ॥

अ॒ग्निर्दि॒व आ त॑पत्य॒ग्नेर्दे॒वस्यो॒र्व॑न्तरि॑क्षम् ।
अ॒ग्निं मर्ता॑स इन्धते हव्य॒वाहं॑ घृ॒तप्रि॑यम् ॥ २० ॥

(अग्निः-दिवः-आतपति) द्युलोक से अग्नि तपती है सूर्य में रह कर (अग्नेः-देवस्य-उरु-अन्तरिक्षम्) अग्निदेव का महान् अन्तरिक्ष स्थान है जो कि (हव्यवाहं घृतप्रियम्-अग्निम-मर्तासः-इन्धते) हव्य को वहन करने वाले घृत प्रिय है जिसका ऐसे अग्नि को ऋत्विक जन प्रकाशित करते हैं ॥ २० ॥

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ॥ २१ ॥

( अग्निवासाः-असितज्ञूः-पृथिवी ) अग्नि है वासस्-वस्त्रावरण जिसका अग्नि तत्त्व के आवरण वाली-आग्नेय पदार्थों से भरपूर, असित-कृष्ण पदार्थ जिससे अग्नि प्रादुर्भूत होती है उस इन्धन कोयले द्रव्य वायव्य पदार्थों की जननी "जन धातोः कुः, उपधालोपश्छान्दसः पुनः ऊङ्तः स्त्रियाम् ।" यह पृथिवी ( मा त्विषीमन्तं संशितं कृणोतु ) मुझे दीप्तिमान् तीव्र शक्ति वाला बना दें ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् ।
भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः ।
सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

( भूम्यां देवेभ्यः- यज्ञं अरंकृतं हव्यं ददति ) भूमि में दिव्य शक्ति वाले वायु आदि पदार्थों के लिए यजनीय शुद्ध पुष्ट समर्थ हव्य-अदन-अन्न बीज "हव्यमदनम्" ( निरु० ११।३२ ) । को समर्पित करते हैं कृषक ( भूम्यां मनुष्याः स्वधया मर्त्याः-अन्नेन जीवन्ति ) भूमि पर रहने वाले मनुष्य स्वधा-अपने को धारण करने वाले उत्तम फल आदि और मर्त्य-साधारण जन स्थूल अन्न से जीते हैं ( सा भूमिः पृथिवी वः प्राणम्-आयुः-दधातु जरदष्टिं मा कृणोतु ) वह उपजाऊ पृथिवी हमारे लिए प्राण और आयु धारण करें मुझे जरा अवस्था तक भोक्ता बनावें ॥ २२ ॥

यस्ते गन्धः पृथिवी सं बभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः ।
यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो
द्विक्षत कश्चन ॥२३॥

( पृथिवि ते यः-गन्धः सम्बभूव ) हे पृथिवी ! जो तेरा गन्ध सम्यक् सिद्ध है ( यम्- ओषधयः-यम्-आपः-बिभ्रति) जिसे ओषधियां, जिसे जल धारण करते हैं ( यं गन्धर्वाः-अप्सरसः- च भेजिरे ) जिसे गन्धर्व और अप्सरसः-पृथिवी के अन्दर धरे हुए पदार्थों ने और पृथिवी के बाहिर विचरने वाले पदार्थ धारण करते हैं ( तेन मा सुरभिं कृणु मा नः-द्विक्षत कश्चन ) उससे मुझे अच्छी गन्ध वाला बनादे, उससे कोई हमारे प्रति द्वेष-घृणा न करे ॥ २३ ॥

यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश यं संजभ्रुः सूर्याया विवाहे ।
अमर्त्याः पृथिवि गन्धमग्रे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत
कश्चन ॥ २४ ॥

( पृथिवि ते यः-गन्धः पुष्करम्-आविवेश ) हे पृथिवी ! जो तेरा गन्ध पुष्कर में-कमल में आविष्ट है ( यं अभ्रुः सूर्यायाः-विवाहे ) जिस गन्ध को सूर्या के विवाह में नवकन्या के शृंगारार्थ ग्रहण किया ( अमर्त्याः-गन्धम्-अग्रे अमर्त्य-देवजनों ने जिस गन्ध को ग्रहण किया ( तेन——— ) पूर्ववत् ॥ २४ ॥

यस्ते गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगो रुचिः । यो अश्वेषु वीरेषु
यो मृगेषूत हस्तिषु । कन्यायां वर्चो यद् भूमे तेनास्माँ अपि
सं सृज मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २५ ॥

( भूमे ते यः-गन्धः पुरुषेषु स्त्रीषु पुंसु भगः-रुचिः ) हे भूमे ! तेरा जो शक्ति रूप अंश पुरुषों में अर्थात् पुंसु-पुरुषत्व-शक्तिवालों में भगः-ऐश्वर्यमय और स्त्रियों में रुचि-कान्तिरूप है ( यः-वीरेषु-अश्वेषु यः-मृगेषु-उत हस्तिषु ) जो वीर घोड़ों में जो और हाथियों में ( कन्यायां वर्चः-यत् तेन-अस्मान्-अपि संसृज नः-मा-कः-चन द्विक्षत ) कन्या-कुमारी में जो वर्चः-कान्तिमय तेज है उससे हमें भी संयुक्त कर, कोई हमें द्वेष न करे ॥ २५ ॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।

तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

( शिला भूमिः ) चट्टानस्तर भूमि है-पृथिवी है ( अश्मा पांसुः सा भूमिः ) पत्थर और धूलि भी वही पृथिवी है, इस प्रकार पृथिवी के तीन स्तर ऊपर हैं भूगोलविज्ञान की दृष्टि से मानव के ज्ञान के ये तीन ही स्तर हैं वैसे भूगोल के भी सात स्तर हैं जैसे खगोल-आकाशीय पिण्ड गोल के सात स्तर हैं 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' परन्तु मानवज्ञान के विषय तीन ही लोक स्तर हैं 'भू, भुवः, स्वः'-पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक' ( सन्धृता धृता ) संसक्ता-संहिता-शिला पत्थर धूलि से संसक्त मिली जुली पिण्ड बनी हुई आकाश क्षेत्र में अपने अक्ष पर धरी हुई-दृढ़ है ( तस्यै पृथिव्या हिरण्यवक्षसे नमः-अकरम् ) उस हिरण्यगर्भा-इन्हीं शिला पत्थर धूलि भागों में सुवर्ण आदि धातु हीरे आदि रत्न होते हैं अतः ऐसी पृथिवी के लिये स्वागत करता हूँ स्वागत वचन बोलता हूँ ॥ २६ ॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥

( यस्यां वृक्षाः-वानस्पत्याः-विश्वहा ध्रुवाः-तिष्ठन्ति ) जिस पृथिवी पर वृक्ष-फलवृक्ष और फूल-फल दोनों से मिश्रित एवं सब प्रकार वाले 'यहाँ 'धा' के स्थान में छान्दस 'हा' प्रत्यय है' ध्रुव-ठहरते हैं बने रहते हैं ( विश्वधायसं धृतां पृथिवीम्-अच्छ-आवदामसि ) उस सबको धारण करने वाली स्थिर पृथिवी को अच्छ-अच्छी है ऐसा प्रशंसित घोषित करते हैं ॥ २७ ॥

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः ।
पद्भ्यां दक्षिणसव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥२८॥

( भूम्याम् ) पृथिवी पर ( उदीराणाः ) उद्गमन करते हुए उठते हुए "ईर गतौ" (अदादि०) (उत) और ( आसीनाः ) बैठते हुए ( तिष्ठन्तः ) ठहरे हुए-एक स्थान पर खड़े हुए ( दक्षिणसव्याभ्यां पद्भ्यां प्रक्रामन्तः ) दक्षिण वाम पैरों से प्रक्रमण करते हुए चलते फिरते दौडते हुए ( मा व्यथिष्महि ) व्यथा-पीडा को हम न प्राप्त हों ॥ २८ ॥

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम् ।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥२९॥

( विमृग्वरीं क्षमां ब्रह्मणा वावृधानां पृथिवीं भूमिम्-आ वदामि ) विशेषरूप से अन्वेषण करने योग्या "कृतो बहुलमित्यपि, कर्मणि कर्तृप्रत्ययः क्वनिप्" सहनशीला सबको

आत्मसात् करने में समर्था अन्न अन्न धन से समय समय पर पुनः पुनः या अधिक प्रवृद्ध होती हुई प्रथिता भूमि को समन्त रूप से कथन करता हूं कि ( पुष्टम्-ऊर्जम्-अन्नभागं घृतं बिभ्रतीम्-त्वा भूमे-अभि निषीदेम ) पुष्ट करने वाले रस अन्नभाग घृत को धारण करती हुई तुझ पर हे भूमि ! हम बैठें निवास करें ॥ २९ ॥

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः ।
पवित्रेण पृथिवि मोत्पुनामि ॥३०॥

( शुद्धाः-आपः-नः-तन्वे क्षरन्तु ) शुद्ध जल हमारे शरीर के लिये बहें ( यः-नः सेदुः-तम्-अप्रिये निदध्मः ) जो हमारा पीडक मल आदि पदार्थ या व्यवहार है उसे हम अप्रिय-जहाँ प्रिय पदार्थ नहीं डालते ऐसे गड्डे-दुर्द्रव्यस्थान में कूडेदान में या त्याज्य क्षेत्र में डालें ( पृथिवि ) हे पृथिवी ( मा-उत्पुनामि ) अपने को ऊंचेरूप में पवित्र करता हूं ॥ ३० ॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात् । स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥३१॥

( भूमे ते याः प्राचीः-याः-उदीची प्रदिशः ) हे भूमि ! जो तेरी पूर्व ओ उत्तर सीमाएं हैं ( ते याः-अधरात्-याः-च-पश्चात् ) तेरी जो नीचे की स्थलियाँ जो पश्चिम सीमाएं हैं ( ताः-मह्यं चरते स्योनाः-भवन्तु ) वे मुझ-विचरण करते हुए के लिए सुखकारी होवें ( भुवने शिश्रियाणः-मा नि-पप्तम् )

तेरा अत्यन्त आश्रय लेता हुआ जीवनसंसार में न गिरूं ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत ।
स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥३२॥

( भूमे नः पश्चात् पुरस्तात्–मा नुदिष्ठाः ) हे भूमि ! तू हमें पश्चिम दिशा से पूर्व दिशा से न धकेल या प्रहृत कर ( मा–उत्तरात्–उत–अधरात् ) न उत्तर से और न नीचे से प्रहृत कर ( भूमे नः स्वस्ति भव ) भूमि ! हमारे लिये स्वस्ति–कल्याणसाधिका हो ( परिपन्थिनः–मा विदन् ) चोर डाकू न हमें प्राप्त करें ( वधं वरीयः–यावय ) वधक को हमसे बहुत ही दूर कर ॥ ३२ ॥

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥३३॥

( सूर्येण मेदिना भूमे यावत् ते–अभिविपश्यामि ) हे पृथिवी ! जब तक सूर्य तथा स्नेहवर्षक चन्द्रमा द्वारा उससे दृष्टि पाया हुआ मैं 'ते–त्वा' तुझे देखता रहूं ( तावत्–मे चक्षुः–मा:–मेष्ट–उत्तराम्–उत्तरां समाम् ) तब तक मेरा नेत्र उत्तर उत्तर वर्ष नष्ट न हो ॥ ३३ ॥

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे ।
मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥३४॥

( भूमे यत्-शयानः-दक्षिणं सव्यं पार्श्वम्-अभि पर्यावर्ते ) हे भूमि ! जब मैं सोता हुआ दक्षिण पार्श्व को वामपार्श्व की ओर या वाम-पार्श्व को दक्षिण की ओर घूमाता हूँ- करवट बदलता हूँ ( यत्-उत्तनाः-त्वा प्रतीचीं पृष्ठीभिः-अधिशेमहे ) जब उत्तान-चित्त होकर तुझे नीचे पीठ की हड्डियों से दबाये हुए हम सोते हैं-सोता हूँ 'अस्मदो द्वयोश्च बहुवचनम्' ( तत्-भूमे नः सर्वस्य प्रतिशीवरि ) शयनकाल में हे सबको सुलाने वाली पृथिवी ! ( मा हिंसीः ) हमारी हिंसा न करना ॥ ३४ ॥

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।

मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥३५॥

( यत्-भूमे ते विखनामि ) हे भूमि ! जो मैं तेरा कोई भाग खोदूं ( तत्-अपि क्षिप्रं रोहतु ) वह भी शीघ्र पूरा हो जावे-हो जाता है ( विमृग्वरि ते मर्म ) हे विशेष खोजने योग्य तेरे मर्म को ( ते हृदयं मा-अर्पिपम् ) तेरे हृदय को भी न हिंसित करूं-नष्ट न करूं ॥३५॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः ।

ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥३६॥

( भूमे-ते-हायनीः-ग्रीष्मः-वर्षाणि शरत्-हेमन्तः-शिशिरः-वसन्तः-ऋतवः-ते विहिताः ) भूमि ! तेरी प्रतिवर्ष होने वाली ग्रीष्म, वर्षा, शरद्, हेमन्त, शिशिर, वसन्त ऋतुएं कही गई हैं ( पृथिवि-अहोरात्रे नः-दुहाताम् ) वे दिन-रात्रि हमारे लिए सुख का दोहन करें ॥ ३६ ॥

यार्प॑स॒र्पं वि॒जमा॑ना विमृ॒ग्व॑री य॒स्यामास॑न्न॒ग्नयो॒ ये अ॒प्स्व॑न्तः ।
प॒रा दस्यू॑न् दद॑ती देवपी॒यूनिन्द्रं॑ वृणा॒ना पृ॑थि॒वी न वृ॒त्रम् ।
श॒क्राय॑ दध्रे वृष॒भाय॒ वृष्णे॑ ॥३७॥

( या विमृग्वरी विजमाना-अपसर्पम् ) जो विशेषरूप से खोजने योग्य पृथिवी भय सा करती हुई आकाश में अपसर्पण करती हुई विराजमान है ( यस्याम्-अग्नयः-आसन् ये अप्सु-अन्तः ) जिस पृथिवी पर अग्नियाँ हैं जो जलों के भी अन्दर हैं ( दस्यून् देवपीयून्-पराददति ) देवों-विद्वानों के नाशक दस्युओं को दूर करती हुई ( न वृत्रम् ) शत्रु को न वरती हुई ( वृषभाय-वृष्णे शक्राय दध्रे ) वीर्यवान् सुखवर्षक शक्तिमान् जन के लिए अपने को समर्पित करती है ॥ ३७ ॥

यस्यां॑ सदोहवि॒र्धाने॑ यू॒पो॒ यस्यां॑ नि॒मीय॑ते ।
ब्र॒ह्मा॒णो॒ य॒स्याम॑र्च॒न्त्यृ॒ग्भिः साम्ना॑ यजु॒र्विदः॑ ।
यु॒ज्यन्ते॒ यस्या॑मृ॒त्विजः॒ सोम॒मिन्द्रा॑य॒ पात॑वे ॥ ३८ ॥

( यस्यां सदः-हविर्धाने यस्यां यूपः-निमीयते ) जिस पृथिवी पर देव स्थान-यज्ञ मण्डप "यस्मिन् विश्वेदेवा आसीदस्तस्मात् सदः" ( शत० ३ । ५ । ३ । ५ ) और हविर्धान शकट जिस पृथिवी पर यज्ञ स्तम्भ गाडा जाता है ( यस्यां ब्रह्माणः-ऋग्भिः-साम्ना यजुर्विदः-अर्चन्ति ) जिस पृथिवी पर ब्रह्मा-ब्रह्मज्ञानी-जन ऋग्वेद मन्त्रों से सामवेद मन्त्रों से और यजुर्वेद के जानने वाले यजुर्वेद मन्त्रों से अर्चना स्तुति प्रार्थना उपासना करते हैं ( यस्याम्-ऋत्विजः-इन्द्राय सोमं पातवे युज्यन्ते ) जिस पृथिवी पर अग्निहोत्र यज्ञ में ऋत्विक् जन इन्द्र-यजमान के लिए सोम पान

कराने को युक्त होते हैं-संयुक्त होते या सोमयाग में प्रवृत्त होते हैं वह ऐसी पृथिवी है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

( यस्यां पूर्वे भूतकृतः सप्त वेधसः-ऋषयः-गाः-उदानृचुः ) जिस पृथिवी पर पूर्व-प्रारम्भ सृष्टि में होने वाले भूतकृत-भूतों को स्वाधीन करने तथा संस्कृत यथोचित उपयुक्त करने वाले सप्त-सृप्त-विद्याव्याप्त विधानकर्ता अग्नि आदि चार तथा ब्रह्मा आदि ऋषियों ने वेद वाणियों-मन्त्रों का स्तवन-जीवन में धारण किया ( सत्रेण यज्ञेन तपसा सह ) अध्यापन, प्रवचन, ब्रह्मयज्ञ "आत्मदक्षिणं वै सत्रम्" ( कौ० १५ । १ ) यज्ञ-अग्नि होत्र से और ब्रह्मचर्य तप के साथ उक्त वेदवाणियों का अर्चन स्तवन जीवन में धारण किया ऐसी यह पृथिवी है ॥ ३९ ॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥

( यत्-धनं कामयामहे ) हम जिस धन को चाहते हैं ( सा भूमिः-नः-आदिशतु ) वह यह भूमि हमारे लिए नियत करें—प्रदान करें ( इन्द्रः-पुरोगवः-एतु भगः-अनुप्रयुङ्क्ताम् ) ऐश्वर्यवान् विश्वराट् परमात्मा या ऐश्वर्यवान् राजा हमारा पुरोगन्ता प्राप्त हो तो भग-ऐश्वर्य भी अनुकूलरूप से प्रयुक्त हो जावे, काम में आवे ॥ ४० ॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः ।
युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः ।
सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

( यस्यां भूम्यां व्यैलबाः-मर्त्याः-गायन्ति नृत्यन्ति ) जिस भूमि पर विविध विलास-विनोद करने वाले [ वि पूर्वकात् ऐला विलासे कण्ड्वादि० ततः 'वप्' औणादिकः प्रत्ययो बाहुलकात् ] मनुष्य गाते हैं नाचते हैं ( यस्यां युध्यन्ते ) जिस पर युद्ध करते हैं ( यस्याम्-आक्रन्द -दुन्दुभिः-वदति ) जिस पर लम्बा शब्द करने वाला भेरी बोलता है-बजता है ( सा भूमिः-नः-सपत्नान् प्रणुदताम् ) वह भूमि हमारे शत्रुओं को ठेस पहुंचावें ( पृथिवी मा-असपत्नं कृणोतु ) पृथिवी मुझे शत्रुरहित कर दें ॥४१॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

( यस्याम्-अन्नम्-व्रीहियवौ ) जिस पृथिवी पर अन्न, अदनीयफल, धन और जौ होते हैं ( यस्याः-इमाः-पञ्च कृष्टयः ) जिसके ये पञ्च प्रकार के मनुष्य-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा वनवासी प्रजाएं पांच हैं ( पर्जन्यपत्न्यै वर्षमेदसे नमः-अस्तु ) उस मेघ की पत्नी प्रजाबीज जल सींचने योग्य वर्षा है स्नेह साधन जिसका ऐसी पृथिवी के लिए स्वागत हो ॥४२॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते ।
प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु
॥ ४३ ॥

( यस्याः-देवकृताः पुरः ) जिस पृथिवी के पृष्ठ पर विद्वान् कलाकारों के बनाये नगर नगरियाँ होती हैं ( यस्याः-क्षेत्रे विकुर्वते ) जिस पृथिवी के ऊपर खेत में कृषक विविध कृषि कर्म करते हैं ( प्रजापतिः-नः-विश्वगर्भाम्-आशाम्-आशां

रण्यां पृथिवीं कृणोतु) प्रजापति परमात्मा हमारे लिए सब जिसके गर्भ में हो सबकी उत्पति दिशा-दिशा में हो रमणीया पृथिवी को बना दें ॥ ४३ ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे ।
वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४॥

( पृथिवी गुहा बहुधा निधिं बिभ्रती ) पृथिवी अपनी गुहा में अपनी भीतरी स्थली में बहु प्रकार के निधि—कोष को धारण करती हुई ( मे वसु मणिं हिरण्यं ददातु ) मेरे लिये धन, रत्न, सुवर्ण देवे ( वसुदा वसूनि रासमाना सुमनस्यमाना नः-दधातु ) धन देने वाली धनों को देती हुई सुन्दर मनस्यमाना-उदार भावना वाली सी होती हुई हमें अपने ऊपर धारण करें ॥ ४४ ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् ।
सहस्रधारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

(विवाचसं नानाधर्माणं यथौकसं जनं बहुधा बिभ्रती) विविध बोली वाले भिन्न भिन्न स्वभाव वाले यथास्थानवाले—स्थान के अनुसार पर्वत, सम आदि में स्थान वाले जायमान उत्पन्न होने वाले प्राणी मात्र बहुत प्रकार से धारण करती हुई ( द्रविणस्य सहस्रधाराः—मे दुहाम् ) धन की सहस्र धाराएं मेरे लिये दुहे ( अनपस्फुरन्ती ध्रुवा धेनुः-इव ) न फडकती हुई स्थिर गौ की भाँति ॥ ४५ ॥

यस्ते सर्पो वृश्चिकस्तृष्टदंश्मा हेमन्तजब्धो भृमलोगुहाशये ।
क्रिमिर्जिन्वत् पृथिवि यद्यदेजति प्रावृषि तन्नः सर्पन्मोप-
सृपद् यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४६ ॥

( पृथिवी यः सर्पः-वृश्चिकः ) हे पृथिवि ! जो सर्प, बिच्छू ( तृष्टदंश्मा ) "तृष्टं तृष्णा दंश्मनि दंशनसाधने यस्य स तृष्टदंश्मा" प्यास दाह लगती है जिसके दंशन में-डसने पर-वह गोधा-गोह ( हेमन्तः-जब्धः ) "हेमन्तः शीतं शैत्यं जब्धे जम्भने-चर्वणे यस्य स हेमन्तजब्धा गोधेरः" हेमन्त अतिशीत जिसके द्वारा जब्धा-चर्बित करने पर वह हेमन्तजब्ध गोहेरा-सर्प गोह से उत्पन्न प्राणी ( भ्रमलः ) भिरड तैतय्या ( ते गुहा शये ) तेरे गुहा-गहरे स्थान में सोता है-रहता है ( यत् क्रिमिः प्रावृषि जिन्वत्-एजति ) जो कृमि क्षुद्र जन्तु वर्षा ऋतु में तृप्त प्राणित होने के हेतु शीघ्र गति करता हैं तृणजलायुका-तिन की जोक ( तत्-नः-मा-उपसर्पम् ) वह हमारे प्रति न सर्पे-आये ( यत्-शिवं तेन नः-मृडय ) जो कल्याण कर हो उससे हमें सुखी कर ॥ ४६ ॥

ये ते पन्थानो बहवो जनायना रथस्य वर्त्मानसश्च यातवे ।
यैः संचरन्त्युभये भद्रपापास्तं पन्थानं जयेमानमित्रमतस्करं
यच्छिवं तेन नो मृड ॥ ४७ ॥

( ये ते बहवः-जनायनाः पन्थानः ) जो वे बहुत से जायमान प्राणियों के चलने योग्य मार्ग हैं ( रथस्य-अनसः-च वर्त्म यातवे ) रथ और गाडी के—जाने का मार्ग है ( यैः-उभये भद्रपापाः सञ्चरन्ति ) जिनसे पुण्यात्मा और पापी दोनों चला करते हैं ( तं पन्थानम्-अनमित्रम्-अतस्करं जयेम ) उस मार्ग को भी शत्रुरहित चोर से रहित करके जीतें स्वाधीन करें ( यत्-शिवं तेन नः-मृड ) जो सुख है उससे हमें सुखी कर ॥४७॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ।
वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥४८॥

( मल्वं बिभ्रती ) मलिन-मलवाले को भी 'मलं यस्मिन्' 'अकारलोपश्छान्दसः' "व प्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते-इति वक्तव्यम्" [ अष्टा० ५ । २ । १०६ ] धारण करती हुई अर्थात् अमलिन-पवित्र को भी धारण करती हुई ( गुरुभृत् ) भारी पर्वत को भी अर्थात् हलके को भी धारण करती है (भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः ) पुण्य और पाप के निधन-प्रतिष्ठान "प्रतिष्ठा वै निधनम्" ( कौ० २७।६ ) को सहने वाली ( वराहेण पृथिवी संविदानः ) वराह-मेघ के साथ सहमत होती हुई-गीली होती हुई पृथिवी "वराहो मेघनाम" ( निघं० १ । १० ) ( सूकराय मृगाय विजिहीते ) अच्छे करों-हाथों-किरणों वाले, मार्जन करने वाले सूर्य के लिये भी ताप देते हुये सूर्य के लिये भी शीत देने वाले चन्द्रमा के लिये भी विशेष रूप से प्राप्त होती है समर्पित है ॥ ४८ ॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति । उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

( ये ते-आरण्याः पशवः-मृगाः-वने हिताः सिंहा-व्याघ्राः पुरुषादः-चरन्ति ) जो वे जङ्गल के पशु मृग नाम के वन में रहते हैं वे सिंह बाघ मनुष्यों को खाने वाले विचरते हैं ( पृथिवी-उलं वृकं दुच्छुनाम्-ऋक्षीकां रक्षः-इतः अस्मत्-अपबाधय ) हे पृथिवि तू उल —गीदड, भेड़िये, दुष्ट वायु फेंकने वाली—छुछुन्दरी "शुनो वायुः" ( नि० ६ । ४० ) रीछ जाति राक्षस को हमारे से परे हटा दे ॥ ४९ ॥

ये गन्धर्वा अप्सरसो ये चारायाः किमीदनः । पिशाचान्त्सर्वा रक्षांसि तानस्मद् भूमे यावय ॥ ५० ॥

( ये गन्धर्वाः-अप्सरसः ) जो कामी पुरुष "स्त्रीकामा वै गन्धर्वाः" ( ऐ० १ । २७ ) विलासिनी स्त्रियों "किन्तु अस्मासु-अप्सरसइति हसो मे क्रीडा मे मिथुनं मे" ( जै० उ० ३।२५।८ ) ( च ये-अरायाः ) और जो कृपण जन ( किमीदनः ) क्या इस समय मेरे लिये देगा ऐसा वञ्चना करने वाले जनों "किमिदिने-किमिदानीमिति चरते" ( निरु० ६ । ११ ) ( सर्वान् पिशाचान् ) सब मांसभक्षकों ( रक्षांसि ) घातकों को ( तान् ) उनको (भूमे-अस्मत्-यावय ) हे भूमि ! हमसे अलग करदे ॥ ५० ॥

यां द्विपादः पक्षिणः संपतन्ति हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि ।
यस्यां वातो मातरिश्वेयते रजांसि कृण्वंश्च्यावयंश्च वृक्षान् ।
वातस्य प्रवामुपवामनु वात्यर्चिः ॥ ५१ ॥

( यां द्विपादः पक्षिणः सम्पतन्ति ) जिस पृथिवी के ऊपर दो पैरवाले पक्षी उडते फिरते हैं ( हंसाः सुपर्णाः-शकुनाः-वयांसि ) जो हंस आदि जलचर, सुपर्ण-गरुड़ आदि सुन्दर पर वाले, शकुन-दूर तक ऊंचे उडने में शक्त चील आदि और छोटे पक्षी चिडिया तितली आदि उडते फिरते बैठते हैं ( यस्यां मातरिश्वा रजांसि कृण्वन् वृक्षान्-च यावयन्-ईयते ) जिस पृथिवी पर मातरिश्वा नाम का वात-झञ्झावात धूलियों को ऊपर करता हुआ और वृक्षों को छिन्न भिन्न करता हुआ गिराता हुआ गति करता है (अर्चिः-वातस्य प्रवाम्-उपवान्-अनुवाति ) और जिस पर अग्नि ज्वलनधारा-लू वात के नीचे ऊपर वृत्ति के साथ बहती है ॥ ५१ ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनि धामनि ॥ ५२ ॥

( यस्यां भूम्याम्-अधि-अरुणं कृष्णं च-अहोरात्रे संहिते विहिते ) जिस पृथिवी पर शुभ्रवर्ण और कृष्णवर्ण दिन और रात्रि मिले हुए और अलग होते हुए वर्तमान हैं ( वर्षेण सा भूमिः पृथिवी वृता-आवृता ) वह उत्पादिका पृथिवी वर्षाजल से भरी-सींची और घिरी होती हुई ( भद्रया नः प्रिये धामनि धामनि दधातु ) कल्याणी प्रवृत्ति से प्यारे मनोहर प्रत्येक धाम में हमें धारण करे ॥ ५२ ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी चान्तरिक्षं च व्यचः ।
अग्निः सूर्य आपो मेधां विश्वे देवाश्च सं ददुः ॥ ५३ ॥

( द्यौः-च मे पृथिवी च-अन्तरिक्षं च मे-इदं व्यचः सं ददुः ) द्युलोक मेरे लिए और पृथिवी तथा अन्तरिक्ष मेरे लिये मेरे जीवन के इस अवकाश को सम्यक् देते हैं ( अग्निः सूर्यः-आपः-विश्वे देवाः-च मेधां संददुः ) अग्नि, सूर्य, जल, विश्वेदेव, मरुत् आदि सब देव मेरे लिये मेधा को सम्यक् देते हैं इस पृथिवी पर यथावत् रहने से ॥ ५३ ॥

अहमस्मि सहमान उत्तरो नाम भूम्याम् ।
अभीषाडस्मि विश्वाषाडाशामाशां विषासहिः ॥ ५४ ॥

( भूम्याम्-अहम्-उत्तरः-नाम सहमानः-अस्मि ) पृथिवी पर मैं अन्यों की अपेक्षा उत्कृष्ट या ऊपर अवश्य सहन करने वाला हूँ अन्यों से दबने वाला नहीं हूँ ( अभीषाट्-अस्मि ) अपितु अन्यों पर अभिभव करने वाला-अन्यों को दबाने वाला हूँ ( विश्वाषाट् ) सब पर छा जाने वाला होता हुआ ( आशाम्-आशां विषासहिः ) दिशा दिशा पर विजय पाने वाला या चढ़ाई करने वाला हूँ ॥ ५४ ॥

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः
॥ ५५ ॥

( देवि यत्-अदः-महित्वं व्यसर्पः ) हे पृथिवी देवी ! 'यत्-यदा' जब तूने उस अपने महत्त्व-महान् स्वरूप को विशेष रूप से सर्पित-प्रथित किया-फैलाया तो ( देवैः पुरस्तात् प्रथमाना-उक्ता ) देवो-ऋषियों द्वारा पूर्व ही तू प्रथमाना-पृथिवी कही गई ( त्वा सुभूतम्-आविशत् ) त्वा-त्वयि तेरे अन्दर सुभूत-सु उत्तम होने वाली उत्पत्ति का गुण आविष्ट हो गया ( तदानीं चतस्रः प्रदिशः-अकल्पयथाः ) उस समय तूने अपनी चारों दिशाओं को वैसा ही समर्थ बना दिया ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

( भूम्याम्-अधि ये ग्रामाः-यत्-अरण्यं याः सभाः ) भूमि पर जो ग्राम हैं जो जङ्गल हैं जो सभाएं हैं-गणस्थान हैं ( ये संग्रामाः समितयः ) जो संग्राम युद्धस्थल हैं और जो शिविर हैं ( तेषु ते चारु वेदम ) उन सबमें हैं पृथिवी तेरे लिये चारु-प्रशंसावचन हम बोलें-बोलते हैं ॥ ५६ ॥

अश्व इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत । मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

( यात्-अजायत ) "यं कालमारभ्य अजायत-ल्यब्लोपे पञ्चम्युपसंख्यानम्" 'यस्मात् कालात्' "यात् सर्वनाम संज्ञाया

अमावश्छान्दस:" जिस समय से यह पृथिवी प्रादुर्भूत हुई तब से ( ये पृथिवीम्-वि-आक्षियन् ) जो मनुष्य विविध रूप से पृथिवी को घेरकर बसे सर्वाधिकार जमा बसे गर्वित राजा महाराजा बने कि यह पृथिवी सदा हमारी बनी रहेगी ( तान्-जनान् ) उन ऐसे गर्वित जनों को (अश्व -इव रज:-दुधुवे) घोडा जैसे धूल को भाड देता है वैसे उनको भाड देती है अस्त व्यस्त कर देती है ( मन्द्रा-अग्र-इत्वरी ) यह पृथिवी वैसे सब प्राणों को हर्ष देने वाली है उन्हें आगे प्रेरित करने वाली है। ( भुवनस्य गोपा ) उत्पन्न होने वाले प्राणी मात्र की रक्षिका है ( वनस्पतीनाम्-ओषधीनाम्-गृभि: ) वनस्पतियों-वृक्षों और फलपाकान्त गेहूँ आदि ओषधियों की गर्भ देने वाली है' आश्रय देने वाली है ।। ५७ ।।

यद् वदा॒मि मधु॑मत् तद् व॑दा॒मि यदी॒क्षे तद् व॑नन्ति मा ।

त्विषी॑मानस्मि जू॒तिमा॒नवा॒न्यान् ह॑न्मि॒ दोध॑तः ।। ५८ ।।

( यत्-वदामि तत्-मधुमत्-वदामि ) जो मैं बालूँ मधुमत् बोलूँ (यत्-ईक्षे तत्-मा-वनन्ति) यत्-जिससे कि मैं 'मधुमत्' मीठा देखता हूँ। तत्-तिससे मुझे भी सम्भक्ति से अपनाते हैं ( त्विषीमान् ) मैं दीप्तिमान् ( जूतिमान् ) वेग पराक्रम वाला ( अस्मि ) हूँ। ( अन्यान्-दोधत:-हन्मि ) अन्य क्रोधियों का "दोधति क्रुध्यतिकर्मा" (निघ० २।१२ ) हनन करता हूँ ।।५८।।

शा॒न्तिवा सु॑र॒भिः स्यो॒ना की॒लालो॑ध्नी॒ पय॑स्वती ।

भू॒मिरधि॑ ब्रवीतु मे पृ॒थि॒वी पय॑सा स॒ह ।। ५९ ।।

( शान्तिवा-सुरभि:-स्योना ) शान्तिवाली सुगन्धपूर्ण सुखकारी कीलालोध्नी पयस्वती ) अन्न जिसके उधस्-स्तन-

स्थान में है "कीलालम् अन्ननाम" ( निघ० २।७ ) जलवाली ( भूमिः ) पृथिवी ( मे पयसा सह-अधिब्रवीवतु ) उत्पत्ति करने वाली पृथिवी मेरे लिये अपने पयः-रस प्रदान से अधिकार वचन दे-स्वीकृति दे ॥ ५९ ॥

यामन्वैच्छंद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णव रजंसि प्रविष्टाम् ।
भुजिष्यंपात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभन्मातृमद्भ्यः
॥ ६० ॥

( विश्वकर्मा-अर्णवे-रजसि-अन्तः प्रविष्टां मां हविषा-अन्वैच्छत् ) विश्व को उत्पन्न करने वाले परमात्मा ने जलवाले अन्तरिक्ष तथा रजस्वल-धूलराशि के अन्दर प्रविष्ट जिस पृथिवी को अपनी आदान शक्ति से प्रादुर्भूत करना चाहा-प्रादुर्भूत करने को यत्न किया है-प्रादुर्भूत किया ! ( गुहा-भुजिष्यं पात्रं निहितम् ) उस पृथिवी की गुहा में भोगसम्बन्धी पात्र-साधन-भोग का बीज मात्र रखा है। ( यत्-मातृमद्भ्यः भोगे-आविः अभवत् ) जो माता का आश्रय लेने वाले जीवों के लिये भोग के निमित्त भोग देने लिये प्रकट हुआ ॥ ६० ॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना ।
यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य
॥ ६१ ॥

( त्वम्-आवपनी-असि ) तू बीज की धारण योग्य स्थली है ( जनानां-कामदुघा-अदितिः-पप्रथाना ) जायमान प्राणियों की कामनाओं कमनीय पदार्थों को दोहने वाली गौ "अदितिः-गोनाम" ( निघ० २।११ ) विस्तार को प्राप्त हुई है ( ते यत्-

ऊनंते तत्–ऋतस्य–प्रजापतिः–प्रथमजाः–आपूरयति ) तेरा जो न्यून है तेरे उस न्यून भाग को ऋत–उपादान का प्रजापति–स्वामी जो प्रथम से प्रसिद्ध है वह उसे पूरा करता है ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः
दीर्घं न आयुः प्रति बुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम
॥ ६२ ॥

( पृथिवि ते प्रसूताः–उपस्थाः–अनमीवाः–अयक्ष्माः–अस्मभ्यं सन्तु ) हे पृथिवि तेरे ऊपर प्रकट हुए उपस्थ–गोदरूप आश्रय स्थान कृमिरहित–रोगरहित हमारे लिए हों ( नः–दीर्घम्–आयुः ) हमारे लिए दीर्घ आयु हो ( वयं प्रतिबुध्यमानाः–तुभ्यं बलिहृतः स्याम ) हम सावधान होते हुए तेरे लिए ( बलि–बीजरूप अन्न की भेंट, पुनरुत्पत्ति के लिए देने वाले हों ॥ ६२ ॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥

( भूमे मातः–भद्रया सुप्रतिष्ठितं–मा निधेहि ) हे पृथिवि माता ! तू कल्याण भावना से सुप्रतिष्ठित मुझ को अपने आश्रय में धारण कर ( कवे दिवा संविदाना ) हे दूर तक पहुँची हुई–गई हुई "कवते–मतिकर्मा" ( नि० २।१४ ) द्युमण्डल–मेघ के साथ या सूर्यप्रकाश के साथ सहयोग को प्राप्त हुई ( श्रियां भूत्यामाधेहि ) लक्ष्मी शोभा सम्पत्ति में और–भूति–विभूति विशेष जीवन सिद्धि में धर स्थापित कर ॥ ६३ ॥

---

# यजुर्वेद अध्याय ३१

( ऋग्वेद मं० १० सूक्त ६० )

ऋषिः—नारायणः १—१६। उत्तरनारायणः १७—२२ (नाराः-आपः जल है आपः नर जिसके सूनु है-सन्तान हैं, ऐसे वे मानव उत्पत्ति के हेतु-भूत, अयुनं† —ज्ञान का आश्रय है जिसका वह ऐसा जीवजन्मविद्या का जानने वाला तथा जनकरूप परमात्मा का मानने वाला आस्तिक महाविद्वान् )

देवता—पुरुषः १, ३, ४, ६, ८—१६। ईशानः २। स्रष्टा ५। स्रष्टेश्वरः ७। आदित्यः १७-१६, २२। सूर्य २०। विश्वे. देवाः २१। ( पुरुष-समष्टि में पूर्ण परमात्मा )

**सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ।**
**स भूमिं सर्वतं स्पृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम् ॥ १ ॥**

( **सहस्रशीर्षा सहस्राक्षः सहस्रपात् पुरुषः** ) असंख्यात शिरों वाला-अनन्त ज्ञान शक्ति वाला, असंख्यात नेत्रों वाला-

---

† "आपो नारा वै प्रोक्ता आपो वै नरसूनवः ।
ता यदस्यायनं तेन नारायणः स्मृतः ॥ ( मनु० १ । १० )
"वेत्थ यदा पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"
छान्दो० ५ । ३ । ३
"वेत्थो यतिथ्यामाहुत्यां हुतायामापः पुरुषवाचो भूत्वा समुत्थाय वदन्ति३" ( बृहदा० ६ । २ । २ )

* "विश्वतो वृत्वा" ( इति ऋग्वेदे ) अर्थः समान एव

अनन्त दर्शन शक्ति वाला, असंख्यात पदों वाला-अनन्त गति शक्ति वाला जो समष्टि पुरुष परम पुरुष विश्व में पूर्ण हुआ परमात्मा है। (सः) वह (भूमि-सर्वतः-स्पृत्वा)* भूमि को-भुवन को-समस्त जगत् को सब ओर से व्याप्त करके। (दशाङ्गुलम्-अत्यतिष्ठत्) दशाङ्गुल परिणामवाले दश अंगुलियों से स्पष्ट गिने जाने वाले पञ्च स्थूल भूत पञ्च सूक्ष्मभूत रूप जगत् को अतिक्रमण कर स्थित हुआ है, अथवा जगत् को पदागत दशांगुल परिणाम बना उससे भी ऊपर स्थित हुआ है जैसा कि आगे यहाँ ही कहा है "पादोऽस्य विश्वभूतानि" (:) समस्त लोक समूह या जगत् उस पुरुष परम पुरुष परमात्मा का पाद मात्र है ॥ १ ॥

पुरुषऽएवेदꣳ सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति† ॥ २ ॥

(पुरुषः-एव-अमृतत्वस्य-ईशानः) परम पुरुष परमात्मा ही अमृतत्व-मोक्ष का स्वामी है-अधिष्ठाता है (उत) अपितु (इदं सर्वं यत्-भूतं-यत्-च भाव्यम्-यत्-अन्नेन-अति रोहति) यह सब वर्तमान और जो भूत तथा जो होने वाला जगत् है उसका भी और जो अन्न से-आहार से बढाता है उसका भी 'पुरुषः-ईशानः' परमात्मा स्वामी है अधिष्ठाता है‡ ॥ २ ॥

---

* विश्वतो वृत्वा 'इति ऋग्वेदे' अर्थः समान एव

† तस्य सर्वस्य पुरुष ईशानः-इत्यकाङ्क्षा

‡ ददिद जातं वर्तमान सर्वं जगत् पुरुष एव नेदं वस्तुतत्वम् (सायणः)
इत्ययुक्तम् "इदं वर्त्तमानं सर्वं यच्च भूतमतीतं यच्च भाव्यं भविष्यत् तस्य कालत्रयस्य ईशानः। न केवल कालत्रयस्य ईशानः। उत अमृतत्वस्यापि मोक्षस्यापि ईशानः (उव्वटः)
यत् जीवजातमन्नेनातिरोहति उत्पद्यते तस्य सर्वस्य चेशानः।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तो भूतग्राम उक्तः तस्याऽन्नेनैव स्थितेः (महीधरः)

एतावा॑नस्य महि॒मातो॒ ज्याया॒ꣳश्च॒ पूरु॑षः ।
पादो॑ऽस्य॒ विश्वा॑ भू॒तानि॑ त्रि॒पाद॑स्या॒मृतं॑ दि॒वि ॥ ३ ॥

( एतावान् महिमा- अस्य ) यह पूर्वोक्त जगत् या यह दृश्य-मान जगत् उस परम पुरुष परमात्मा की महिमा है—महात्म्य है—इष्टविभूति है ( च ) और ( अतः- ज्यायान्—पुरुषः ) इससे महान वह पुरुष है परमात्मा है, यतः ( विश्वा भूतानि ) काल-त्रयवर्ती—तीनों कालों से सम्बन्ध रखने वाले सब पदार्थ समस्त जीवदेह समस्त लोकलोकान्तर ( अस्य पादः ) इसका एक पाद मात्र है—एक अंश में—एक देश में रहने से पादरूप है ( अस्य ) इसका ( त्रिपात् अमृतं दिवि ) शेष त्रिपादों वाला रूप अमृत—नश्वर सम्पर्क से रहित मोक्ष—द्योतनात्मक स्वरूप में वर्तमान है ॥ ३ ॥

त्रि॒पादू॒र्ध्व उदै॒त्पुरु॑षः॒ पादो॑ऽस्ये॒हाभ॑व॒त्पुनः॑ ।
तत॒ो विष्व॒ङ् व्य॑क्राम॒त्साशनानश॒ने अ॒भि ॥ ४ ॥

(त्रिपात् पुरुषः) पूर्वोक्त तीन पादों वाला पुरुष पूर्ण परमात्मा ( ऊर्ध्वः—उदैत् ) नश्वर संसार से ऊपर उठा हुआ है—अमृत-स्वरूप मोक्षरूप है (अस्य पादः—इह पुनः—अभवत् ) इसका जो एक पाद जगद्रूप है वह पुनः पुनः होता है- सृष्टि संहाररूप-चक्र में रहता है ( ततः ) पश्चात् ( साशनानशने अभि ) सभोग-जीवात्माओं, अभोग प्रकृति के प्रति ( विश्वङ् व्यक्रामत् ) उत्पादकत्व धारकत्व नियन्तृत्व कर्मफलदातृत्व आदि विविध शक्तियों से सुगमतया या अनायास प्राप्त होने वाला परमात्मा विक्रमवान् हुआ† ॥ ४ ॥

† "देवमनुष्यतिर्यगादिरूपेण विविधः सन् व्यक्रामत् व्याप्तवान्" ( सायणः ) एषोऽन्यथार्थस्तत्स्वभावविरुद्धत्वात् कं च व्याप्तवानिति प्रश्नप्रसङ्गः ।

ततो विराडजायत विराजो अधि पूरुषः ।

स जातो* अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः ॥ ५ ॥

( ततः-विराड्-अजायत ) उस आदि पुरुष परमात्मा से विराट् विविध पदार्थों से राजमान प्रकटीभूत ब्रह्माण्ड या समष्टिरूप जगत् उत्पन्न हुआ ( विराजः-अधि-पुरुषः ) विराट् उक्त ब्रह्माण्ड विविध संसार के ऊपर‡ या उसका अधिनायक रूप में पूर्ण परमात्मा है (पश्चात्-सः-जातः) पश्चात् उस उत्पन्न हुए विराट् ब्रह्माण्ड ने पूर्ण पुरुष परमात्मा के अधिष्ठातृत्व में ( भूमिम्-अथ पुरः-अत्यरिच्यत) भूमि को-उत्पत्ति स्थान लोक को इसके अनन्तर प्राणिदेह पुरों-शरीरों को अतिशय से विरेचित किया बाहर निकाला या प्रकट किया× ॥ ५ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः सम्भृतं पृषदाज्यम् ।

पशूँस्ताँश्चक्रे वायव्यानारण्या ग्राम्याश्च ये† ॥ ६ ॥

( तस्मात्-सर्वहुतः-यज्ञात् ) समष्टि की आहुति जिसमें हुत हो उस अथवा जो सब के द्वारा हूयमान-ग्रहण करने योग्य है उस ऐसे यजनीय सङ्गमनीय परमात्मा से (पृषदाज्यं-सम्भृतम् ) अन्न-अदनीय ओषधि वनस्पति वस्तु स्थूल अन्न-दानारूप

---

* "तस्मात्" इति ऋग्वेदे ।

‡ "विराजं देहमधिकरणं कृत्वा पुरुषः-अजायत्" ( सायणः )
"अधि-उपरि अधिष्ठाता ( दयानन्दः )

× "रिचिर, विरेचने ( रुधादि० ) अत्यरिच्यत्=अतिशयेन बहिर्निःसारितवान् व्यत्ययेन श्नः स्थाने श्यन् विकरणः

† "८ ( ऋग्वेदे )

पृषत्† और रसरूप हरी वनस्पति आज्य है‡ निष्पन्न हुई (तान्-पशून्-वायव्यान् चक्रे) उन पशुओं तथा पक्षियों को भी उत्पन्न किया (च) और (ये आरण्याः-ग्राम्याः) जो वन्य ग्राम्य पशु पक्षी हैं उन्हें भी उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ॥ ७ ॥

(तस्मात्-सर्वहुतः-यज्ञात्) उस सर्वहुत-समष्टि को विकसित करने वाले तथा सबके द्वारा हूयमान-ग्रहण किये जाने वाले सङ्गमनीय परमात्मा से (ऋचः-सामानि जज्ञिरे) ऋचाएँ और साममन्त्र उत्पन्न हुए (तस्मात्-छन्दांसि जज्ञिरे) उससे अथर्ववेद के मन्त्र* उत्पन्न हुए (तस्मात्-यजुः-अजायत) उससे यजुर्वेद उत्पन्न हुआ ॥ ७ ॥

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः ।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावयः ॥ ८ ॥

(तस्मात्) उस पूर्ण पुरुष परमात्मा से (अश्वाः-अजायन्त) घोडे उत्पन्न हुए (ये के च-उभयादतः) जो कोई दोनों ओर दान्त रखने वाले हैं वे भी उत्पन्न हुए (तस्मात्-गावः-ह-जज्ञिरे) उससे गौएं उत्पन्न हुई (तस्मात्-अजावयः-जाताः) उससे बकरी भेड भी उत्पन्न हुईं ॥ ८ ॥

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन् पुरुषं जातमग्रतः ।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥ ९ ॥

---

† "अन्न हि पृषदाज्यम् (शत० १ । ८ । ४ । ८)

‡ "रस आज्यम् (शत० ३ । ७ । १ । १३)

* "यदिदं किञ्चर्चो यजूंषि सामानि च्छन्दांसि" (बृह० १ । २ । ५)

( अग्रतः-जातं तं-यज्ञं पुरुषम् ) पूर्व से प्रसिद्ध उस यजनीय सङ्गमनीय सर्वत्र पूर्ण परमात्मा को ( बर्हिषि प्रौक्षन् ) महर्षिजन हृदयाकाश में या मानस भवन में निज आर्द्रभावनाओं से सींचते हैं-प्रसन्न करते हैं ( च ) और ( तेन ) पुनः उस पूर्ण पुरुष परमात्मा के द्वारा उसे लक्ष्य बनाकर ( देवाः ) अन्य विद्वान् जन ( ये ) जो कि ( साध्याः-ऋषयः ) साधनापरायण योगी मन्त्रद्रष्टा ऋषि हैं उन्होंने ( अयजन्त ) अध्यात्म यजन किया सृष्टि के आरम्भ में वेद प्रकाशक आदि विद्वान् अथवा महर्षियों के पश्चात् अन्य साध्य-साधक ऋषियों का प्रादुर्भाव हुआ ॥ ९ ॥

यत्पुरु॑षं॒ व्यद॑धुः कति॒धा व्य॑कल्पयन् ।

मुखं॒ किम॑स्यासी॒त्किं बा॒हू किमू॒रू पादा॑ उच्येते ॥ १० ॥

( यत् पुरुषं व्यदधुः ) जो यह परमात्मा को पुरुषरूप में देहवान् की भांति आदि विद्वानों ने-ऋषियों ने माना है (कतिधा-व्यकल्पयन् ) उसे कितने विभागों में कल्पित किया है-समझा है। पुनः ( अस्य किं मुखम् ) मानव जगत् में पूर्ण पुरुष का मुख क्या है-कौन मानव है, किस प्रकार का या कैसा मानव है। ( किं बाहू ) कौन भुजाएं हैं ( किम्-उरू ) कौन जंघाएँ हैं, और ( पादौ-उच्येते ) कौन पैर कहे जाते हैं ॥ १० ॥

ब्रा॒ह्म॒णो॑ऽस्य॒ मुख॑मासीद् बा॒हू रा॑ज॒न्यः॑ कृ॒तः ।

ऊ॒रू तद॑स्य॒ यद्वैश्यः॑ प॒द्भ्याᳪ शू॒द्रो अ॑जायत ॥ ११ ॥

( अस्य मुखं ब्राह्मणः-आसीत् ) मानवों में पूर्ण पुरुष का मुख ब्राह्मण है अर्थात् मुख के समान ज्ञान तपस्या और त्याग ब्राह्मण में होना चाहिए ( बाहू राजन्यः कृतः ) भुजाएँ क्षत्रिय निश्चित किये अर्थात् भुजाओं के समान क्षत्रिय को राज्य का

शोधन, रक्षण और त्राण करना चाहिए (अस्य-ऊरू-तत्-वैश्य:) इसके जंघाएं वह जो वैश्य है। अर्थात् जंघाओं के मध्य भाग के समान संग्रह और विभाजन वैश्य का कर्त्तव्य है। (पद्भ्यां-शूद्र:-अजायत ) पैरों के समान या पादस्थानीय शूद्र हुआ है। अर्थात् पैरों के समान जनहित दौड़-धूप करना शूद्र का कर्म है ॥ ११ ॥

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्योऽअजायत ।
श्रोत्राद् वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ १२ ॥

( मनस:-चन्द्रमा:-जात: ) उस समष्टि पुरुष परमात्मा के मन अर्थात् मनन सामर्थ्य से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, चन्द्रमा को देख उसकी मननशक्ति को जानना ( चक्षो: सूर्य:-अजायत ) उस पूर्ण पुरुष परमात्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप से सूर्य उत्पन्न हुआ, सूर्य को देख कर उसके ज्योतिर्मय स्वरूप को जानना ( श्रोत्रात् प्राण:-च वायु:-च ) श्रोत्र-श्रवणअवकाश से और प्राणनशक्ति से [ 'प्राणश्च'-प्राणाच्च 'इति पञ्चमीस्थाने प्रथमा "सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्"] वायु उत्पन्न हुआ, वायु को देख कर उसके विशाल अवकाश प्रद स्वरूप को और प्राण सञ्चालन बल को जानना ( मुखात्-अग्नि:-अजायत ) मुख से "मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत" ( ऋग्वेदे ) मुख से विद्युत् और अग्नि तथा प्राणन शक्ति से वायु उत्पन्न हुआ। मुख समान तेजोमय भस्मीकरण सामर्थ्य से अग्नि उत्पन्न हुई, अग्नि को देख उसके तेजोमय भस्मीकरण सामर्थ्य को जानना।
॥ १२ ॥

नाभ्याऽआसीदन्तरिक्षꣳशीर्ष्णो द्यौः समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ२ऽअकल्पयन् ॥१३॥

( नाभ्याः–अन्तरिक्षम्–आसीत् ) उसकी नाभि–अवकाश-मय सामर्थ्य से अन्तरिक्ष प्रकट हुआ, अन्तरिक्ष को देखकर उसकी अवकाशप्रदान शक्ति को जानना (शीर्ष्णः–द्यौः समवर्तत) उसके शिरोवत् उत्कृष्ट सामर्थ्य से द्युलोक वर्तमान हुआ, द्युलोक को देखकर उत्कृष्ट शक्ति को जानना ( पद्भ्यां भूमिः ) पादस्थानीय स्थिरत्व प्रदान सामर्थ्य से भूमि उत्पन्न हुई, भूमि को देख कर उसकी पादशक्ति स्थिरत्वकरण शक्ति को जानना ( श्रोत्रात्–दिशः–तथा लोकान्–अकल्पयन् ) उसके अवकाशमय सामर्थ्य से दिशाओं और लोकों की रचना विद्वानों ने कल्पित करी, दिशाओं और लोकों को देख उसकी महती व्यापकता को जानना ॥ १३ ॥

यत् पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत ।

वसन्तोऽस्यासीदाज्यं ग्रीष्मऽइध्मः शरद्धविः ॥ १४ ॥

( यत् ) जब ( देवाः ) आरम्भ सृष्टि के वेदप्रकाशक अग्नि आदि महर्षि विद्वानों ने ( पुरुषेण हविषा यज्ञम्–अतन्वत ) पुरुष हवि अर्थात् निज आत्मा में होमने योग्य–आदान करने योग्य–धारण करने योग्य पूर्ण परमात्मा द्वारा मानस यज्ञ का अनुष्ठान किया, तब ( अस्य ) इस यज्ञ का ( वसन्तः–आज्यम्–आसीत् ) वसन्त ऋतु घृत था अर्थात् वसन्त ऋतु में ओषधियों की उत्पत्ति होने से वह अध्यात्म यज्ञ को घृत बनकर प्रबुद्ध करता है ( ग्रीष्मः–इध्मः ) ग्रीष्म ऋतु ईन्धन था—अर्थात् ग्रीष्म ऋतु में वनस्पतियों की वृद्धि होने से वह अध्यात्म यज्ञ को ईन्धन बनाकर प्रदीप्त करता है (शरत्–हविः) शरद् ऋतु हव्य द्रव्य था अर्थात् शरद् ऋतु में वनस्पतियां समृद्ध होने से वह अध्यात्म यज्ञ को हव्य द्रव्य बनकर देदीप्यमान–पूर्ण सम्पन्न करता है ॥१४॥

सप्तास्यासन् परिधयस्त्रिः सप्त समिधः कृताः ।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना ऽअबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥ १५ ॥

मानस यज्ञ का रूपक—

( अस्य ) इस मानस यज्ञ-अध्यात्म यज्ञ की ( सप्त परिधयः-आसन् ) सात परिधियां हैं । 'भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्' ये सात लोक† । इन सात लोकों में इनके विवेचन में वर्तमान हैं, इनके अन्दर प्रवेश कर यजनीय देव का साक्षात् करना है ( त्रिः सप्त समिधः कृताः ) तीन बार सात अर्थात् इक्कीस समिधाएं कल्पित की हैं, प्राण ही समिधाएं हैं‡ प्राण अपान आदि दश प्राण तथा इन्द्रियों को भी प्राण कहते हैं+ मन के साथ ग्यारह इन्द्रियां हैं एवं दोनों इक्कीस प्राण इस मानस यज्ञ या अध्यात्म यज्ञ में समिधा के रूप में होमी जाती हैं—इनकी वृत्तियों को इनके व्यवहारों को होम दिया जाता है ( यत् ) जबकि ( देवाः-यज्ञं तन्वानाः ) विद्वान् उक्त मानस यज्ञ-अध्यात्म यज्ञ का अनुष्ठान करते हुए ( पशुं पुरुषम्-अबध्नन् ) सर्व द्रष्टा पूर्ण परमात्मा को अपने अन्तरात्मा में या हृदय में बांधते हैं-धारण करते हैं† ॥ १५ ॥

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः ॥ १६ ॥

---

† "इमे वै लोकाः परिधयः" ( तै० ३ । ८ । १८ । ४ )

‡ "प्राणा वै समिधः" ( शत० ६ । २ । ३ । ४४ )

\+ "प्राणा इन्द्रियाणि" ( ता० २।१४।२ ) "अथ ह प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरे—सा वागुच्चक्राम—" ( छान्दो० ४।१।६।७ )

† "बन्ध बन्धने" ( क्र्यादि० )

परम्परा प्रदर्शनपूर्वक मानस यज्ञ वा अध्यात्म यज्ञ का फल—

( देवाः ) आदि विद्वान् महर्षि जन ( यज्ञेन यज्ञम्-अयजन्त ) मानस या अध्यात्म यज्ञ से यजनीय सङ्गमनीय परमात्मा का समागम करते रहे हैं ( तानि धर्माणि प्रथमानि-आसन् ) वे ध्यान समाधिरूप धर्म यथार्थ अनुष्ठान प्रथम के हैं-प्राथमिक हैं अथवा श्रेष्ठ हैं ( ते ह नाकं महिमानः सचन्ते ) वे ये जीवन्मुक्तात्माएं नितान्त सुख स्वरूप मोक्ष का सेवन करते हैं ( यत्र साध्याः-देवाः सन्ति ) जहां अन्य साधनसिद्ध महानुभाव आत्माएं हैं ॥ १६ ॥

अद्भ्यः सम्भृतः पृथिव्यै रसाच्च विश्वकर्मणः समवर्त्तताग्रे ।
तस्य त्वष्टा विदधद्रूपमेति तन्मर्त्यस्य देवत्वमाजानमग्रे ॥१७॥

( त्वष्टा ) त्वक्षणकर्त्ता-रचयिता ( सम्भृतः ) सम्यक् धर्ता परमात्मा 'कतरिक्तश्छान्दसः' (अद्भ्यः) अन्तरिक्ष से "आपः-अन्तरिक्ष नाम" ( निघं० १ । ३ ) ( पृथिव्यै ) पृथिवी से 'पञ्चम्यर्थे चतुर्थी छान्दसी' ( रसात् ) जल से "रस उदकनाम" ( निघ० १ । १२ ) ( च ) और ( विश्वकर्मणः ) सूर्य से ( अग्रे ) पूर्व ( समवर्तत ) वर्तमान था ( तस्य मर्त्यस्य ) उस पृथिवी आदि नश्वर जगत् के तथा ( तत्-देवत्वम् आजानं रूपम् ) दिव्य सूर्य आदि और समन्त रूप से उत्पन्न होने वाले मनुष्य आदि प्राणी तथा वनस्पति वाले स्वरूप को ( विदधत्-अग्रे-एति ) विधान करता हुआ-निर्माण करता हुआ जिज्ञासुओं के सम्मुख आता है ॥ १७ ॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥१८॥

(तमसः परस्तात्) अज्ञानान्धकार से पृथक् वर्तमान (एतम्-आदित्यवर्णं महान्तं पुरुषम्-अहं वेद) इस सूर्य समान प्रकाशमान अनन्त पूर्ण परमात्मा को मैं जानूं; क्योंकि (तं विदित्वा-एव मृत्युम्-अत्येति) उसे जानकर ही मृत्यु का अतिक्रमण कर सकता है-मृत्यु को पार कर सकता है-मृत्यु से बच सकता है* (अन्यः पन्थाः-अयनाय न विद्यते) अन्य मार्ग अपने अयन रूप-विश्रामस्थानरूपमोक्ष के लिये नहीं है।

प्रजापतिश्चरति गर्भे ऽअन्तरजायमानो बहुधा विजायते ।
तस्य योनिं परि पश्यन्ति धीरास्तस्मिन्ह तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥ १९ ॥

(प्रजापतिः) समस्त प्राणिप्रजाओं का पालक परमात्मा (गर्भे-अन्तः-चरति) गर्भ के अन्दर भी प्राप्त रहता है (अजायमानः) गर्भद्वारा गर्भ से उत्पन्न न होने वाला बाहिर न आने वाला होता हुआ (बहुधा विजायते) बहुत प्रकार से प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। (धीराः-तस्य योनिं परिपश्यन्ति) ध्यानी जन उसके स्वरूप को सर्वत्र अनुभव करते हैं (तस्मिन्-ह) और उस परमात्मा में (विश्वा भुवनानि तस्थुः) सारे लोक लोकान्तर ठहरे हुए हैं-आश्रय लिए हुए हैं ॥ १९ ॥

यो देवेभ्यऽआतपति यो देवानां पुरोहितः ।
पूर्वो यो देवेभ्यो जातो नमो रुचाय ब्राह्मये ॥ २० ॥

---

"तमः शब्देनाविद्योच्यते" (महीधरः)
"लिङ् के अर्थ में लेट् प्रयोग है"
"अतिक्रम्य मृत्युं तं पुरुषमनु प्रविशति" (उव्वटः)

( यः—देवेभ्यः—आतपति ) जो अग्नि आदि परमर्षि विद्वानों के लिये ज्ञानसूर्य वेद समन्त रूप से प्रकाशित होता है ( यः—देवानां पुरोहितः ) जो ज्ञान सूर्य वेद विद्वानों का प्रथमहित साधक है ( यः—देवेभ्यः पूर्वः—जातः ) जो ज्ञान सूर्य वेद अग्नि आदि परमर्षि विद्वानों के लिए अन्य भोग वस्तुओं से प्रथम उत्पन्न हुआ ( रुचाय ब्राह्मये नमः ) उस अन्तरात्मा में प्रकाशित होने वाले एवं अन्तरात्मा को प्रकाशित करने वाले ब्रह्म—परमात्मा से उत्पन्न हुये परमात्मा के ज्ञान सूर्य वेद के लिए स्वागत है ॥ २० ॥

रुचं ब्राह्मं जनयन्तो देवाऽअग्रे तदब्रुवन् ।
यस्त्वैवं ब्राह्मणो विद्यात् तस्य देवाऽअसन् वशे ॥ २१ ॥

( देवाः ) अग्नि आदि परमर्षियों ने ( रुचं ब्राह्मं जनयन्तः ) अन्तःकरण को प्रकाशित करने वाले वेद ज्ञान को प्रादुर्भूत—प्रसिद्ध करने के हेतु ( अग्रे तत्—अब्रुवन् ) सर्व प्रथम उसका अन्यों को उपदेश दिया ( यः ब्राह्मणः—तु—एवं विद्यात् ) जो ब्राह्मण इस प्रकार वेद ज्ञान को जान जावे ( तस्य वशे देवाः—असन् ) उसके वश में अग्नि आदि सृष्टि के दिव्य पदार्थ तथा वेदमन्त्रों में वर्णित देवता होजावें—वह यथोचित लाभ उठा सके ॥ २१ ॥

श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्न्यावहोरात्रे पार्श्वे नक्षत्राणि रूपमश्विनौ व्यात्तम् । इष्णन्निषाणामुं मऽइषाण सर्वलोकं मऽइषाण ॥ २२ ॥

( ते श्रीः—लक्ष्मीः—च पत्न्यौ ) हे वेदस्वामी परमात्मन् ! तेरी ज्ञानमयी शोभा और क्रियामयी कला ये दोनों मेरे पूर्क

पश्चिम में सहाङ्गिनी रक्षा करने वाली हो जावें ( अहोरात्रे पार्श्वे ) दिन और रात्रि ये दोनों पार्श्व भाग–पार्श्वों में स्वाधीन होजावें ( नक्षत्राणि रूपम् ) चमचमाने वाले तारे–तारों भरा गगन रूप कान्तिप्रद बन जावे ( अश्विनौ व्यात्तम् ) सूर्य चन्द्रमा मेरा खुला मुख–दोनों जबडे बन जावें ( इष्णन्–इषाण ) हे मेरा कल्याण चाहते हुए परमात्मन् ! तू मेरे लिये इस पृथिवी का कल्याण प्राप्त करा ( अमृतं मे–इषाण ) मेरे लिये द्युलोक का कल्याण प्राप्त करा ( सर्वलोकं मे–इषाण ) सब लोकों का मेरे लिये कल्याण प्राप्त करा ।। २२ ।।

# यजुर्वेद अध्याय ३२

ऋषिः-स्वयम्भु ब्रह्म १-१२। मेधाकामः १३-१५। श्रीकामः १६॥

देवताः-परमात्मा १-२, ६-८-१०, १२, १४। हिरण्यगर्भः परमात्मा ३। आत्मा ४। परमेश्वरः ५। विद्वान् ६। इन्द्रः १३। परमेश्वर विद्वांसौ १५। विद्वद्राजानौ १६॥

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑।
तदे॒व शु॒क्रं तद् ब्रह्म॒ ताऽआपः॒ स प्र॒जाप॑तिः॥ १॥

(तत्-ब्रह्म तत्-एव-अग्निः) यह वह जो ब्रह्म है वह ही अग्नि नाम वाला है, अग्नि से अतिरिक्त वस्तु अग्नि नाम से नहीं ब्रह्म ही अग्नि नाम वाला है (तत्-आदित्यः) वह आदित्य है (तत्-वायुः) वह वायु है (तत्-उ-चन्द्रमा) वही चन्द्रमा है (तत्-एव शुक्रः) वह ही शुक्र (ताः-आपः) वह जल है (सः-प्रजापतिः) वह प्रजापति संवत्सर है। क्योंकि इन अग्नि आदि का उत्पादक होने से उन जैसे धर्म धारण करने वाला होने से-स्वप्रकाश स्वरूप होने से अग्नि, आदान धर्म वाला होने से आदित्य जगत् का जीवनाधार सर्वत्र विभु गतिमान् होने से वायु सर्वह्लादक होने से चन्द्रमा, शुभ्रस्वरूप होने से शुक्र है, सर्वत्र व्याप्त होने से आपः है, वह प्राणी प्रजाओं का पालक होने से प्रजापति-संवत्सर है। १॥

सर्वे॑ नि॒मेषा॑ जज्ञि॒रे वि॒द्युतः॒ पुरु॑षा॒दधि॑।
नैन॑मू॒र्ध्वं न ति॒र्य्यञ्चं॒ न मध्ये॒ परि॑ जग्रभत्॥ २॥

(सर्वे निमेषाः) सब ही निरन्तर गति करने वाले क्षण मुहूर्त्त घडी प्रहर दिन रात पक्ष मास ऋतु अयन संवत्सर, ग्रह नक्षत्र वायु किरण आदि ( विद्युतः पुरुषात्-अधि जज्ञिरे ) विशेषतः द्योतमान पुरुष सर्वत्र पूर्ण परमात्मा से उत्पन्न हुए उसके अधीन गति करते हैं ( एनं न-ऊर्ध्वं न तिर्यंचं न मध्ये परि जग्रभत् ) इस विद्युत् पुरुष-अस्थूल पुरुष पूर्ण परमात्मा को न ऊर्ध्व भाव से न तिरछे न मध्य में होने वाले मध्यम भाव से कोई भी निरन्तर गति करने वाला सर्व भाव से ग्रहण कर सकता है, उसकी सीमा नहीं पासकता है उस असीम में एकदेशी बनकर ही गति करता है ॥ २ ॥

न तस्य॑ प्रति॒माऽअ॑स्ति॒ यस्य॒ नाम॑ म॒हद्यशः॑ ।
हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भऽइत्ये॒ष मा मा॑ हि॒ꣳसीदि॒त्ये॒षा यस्मा॒न्न जा॒तऽ
इत्ये॒षः ॥ ३ ॥

( यस्य नाम महत्-यशः ) जिस परमात्मदेव का यश-गुण-वर्णन महान् है ( तस्य प्रतिमा न अस्ति ) उसकी प्रतिमा-प्रतिरूपक नहीं है (हिरण्यगर्भः-इति-एषः) हां वह हिरण्यगर्भ-सूर्य आदि सुनहरे पिण्डों को गर्भ में अपने अन्दर रखे हुए है यह ऐसा प्रसिद्धि प्राप्त नाम वाला है (मा मा हिंसीत्-इति-एषा) मुझ जीवात्मा या उपासक को हिंसित नहीं करता है यह भी प्रसिद्धि है ( यस्मात्-एष-न जातः इति-एषः ) क्योंकि यह उत्पन्न नहीं हुआ अपितु यह उत्पादक है इससे भी परमात्मा यशोभाक: है यह प्रसिद्ध ॥ ३ ॥

ए॒षो ह॑ दे॒वः प्र॒दिशो॒ऽनु॒ सर्वाः॒ पूर्वो॑ ह जा॒तः सऽउ॒ गर्भे॑ऽअ॒न्तः ।
सऽए॒व जा॒तः स ज॑नि॒ष्यमा॑णः प्र॒त्यङ् जना॑स्तिष्ठति स॒र्वतो॑
मुखः ॥ ४ ॥

( जनाः-एषः-ह देवः सर्वाः प्रदिशः-अनु ) हे मनुष्यो ! अहो यह परमात्मदेव विश्वगोल की सारी सीमाओं को पहुंचा हुआ है ( पूर्वं ह जातः ) वह परमात्मा सीमाओं से पूर्व प्रसिद्ध है ( सः-उ गर्भे-अन्तः ) वह सीमाओं के गर्भ-मध्य में भी वर्तमान है ( सः-एव जातः सः-जनिष्यमाणः ) वह सब जगत् को उत्पन्न कर सका वह आगे उत्पन्न करेगा ( सर्वतोमुखः प्रत्यङ् तिष्ठति ) सब ओर मुखवाला-सर्वसाक्षी हुआ वस्तुमात्र को प्राप्त है ॥४॥

यस्माज्जातं न पुरा किं चनैव य आबभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया सꣳरराणस्त्रीणि ज्योतींꣳषि सचते स षोडशी ॥ ५ ॥

( किञ्च जातं यस्मात् पुरा न-एव ) कुछ भी उत्पन्न वस्तु जिससे पूर्व नहीं ( यः-विश्वा भुवनानि-आबभूव ) जो सारे लोक लोकान्तरों को छाया हुआ है ( प्रजापतिः प्रजया संरराणः-त्रीणि ज्योतींषि सचते ) प्रजायमान उत्पन्न हुई वस्तुमात्र का पालक या स्वामी परमात्मा उत्पन्न सृष्टि के साथ संसक्त संयुक्त हुआ तीन ज्योतियों को समवेत होता है उनमें प्राप्त होता है (सः-षोडशी) वह विश्व के अङ्गभूत, प्रश्नोपनिषद् में कही प्राण, श्रद्धा, आकाश, वायु आदि सोलह कलाओं वाला है या छान्दोग्योपनिषद् में कही पूर्व दिशा आदि कलाओं से युक्त चार पादों की सोलह कलाओं वाला है ॥ ५ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
योऽअन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

(येन-उग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा) जिस परमात्मा ने तेजोमय द्युलोक को और पृथिवी लोक को दृढ किया ( येन स्वः स्तभितं येन नाकः ) जिसने सुख तथा नितान्त दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है ( यः-अन्तरिक्षे रजसः-विमानः ) जो अन्तरिक्ष में लोकमात्र को सम्भालने वाला है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस सुखस्वरूप प्रजापति परमात्मा के लिए प्रेम श्रद्धा भेंट समर्पित कर स्वागत करें ॥ ६ ॥

यं क्रन्दसीऽअवसा तस्तभानेऽअभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूरऽउदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥
आपो ह यद् बृहतीर्यश्चिदापः ॥ ७ ॥

( क्रन्दसी ) रोदसी-द्यावा पृथिवी† ( तस्तभाने ) उस परमात्मा से रोके या ताने ( अवसा ) रक्षण के हेतु ( रेजमाने ) काम्पते हुए‡ ( मनसा ) मन से मान के अन्दर ही अन्दर ( यम्-अभ्यैक्षेताम् ) जिसको देखते हैं 'यह वर्णन काव्य भाषा का है । अथवा 'विभक्ति व्यत्यय से' ( यम् ) जिसने ( अवसा ) स्वरक्षण शक्ति से ( क्रन्दसी ) द्यावा पृथिवी को ( मनसा ) मनन शक्ति से ( अभ्यैक्षेतां ) 'अभ्यैक्षयेताम्' देखे हैं ( यत्र-अधि ) जिसके आधार पर ( सूरः-उदितः ) सूर्य उदय हुआ हुआ ( विभाति ) चमकता है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिए प्रेम श्रद्धा नम्रता भेंट प्रदान करें ( बृहतीः-आपः-ह यत् ) महती जल धाराएं जिस

---

† "क्रन्दसी रोदसी" "क्रदि रोदने" ( भ्वादि ) अर्थ सामान्य से यहां रोदसी द्यावापृथिवी है ।

‡ "राजमाने प्रकाशमाने ( सायणः )

ब्रह्म को आश्रय बनाती हैं और ( यः-आपः ) जो जलधाराओं को प्राप्त होता है। 'द्वितीयार्थे प्रथमा' ॥ ७ ॥

वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳसऽओतः प्रोतश्च विभूः
प्रजासु ॥ ८ ॥

( वेनः ) ध्यान से कान्तिमान् जन ( तत् सत्-गुहा निहितं-पश्यत् ) उस अविनाशी नित्य ब्रह्म को हृदय गुहा में स्थित हुआ देखता है(यत्र विश्वम्-एकनीडं भवति) जिसमें संसार एक घोंसले के समान तुच्छरूप से है ( तस्मिन् इदं सम्-एति च वि-च 'एति' च ) उस अनन्त ब्रह्म में यह संसार प्रलय काल में विलीन भी हो जाता है और सर्गकाल में प्रकट भी हो जाता है ( सः-विभूः प्रजासु-ओतः प्रोतः-च ) वह विभूः- विशेषरूप से सब में रहने वाला वस्तु में ओत प्रोत है उत्पत्ति या सर्ग की ओर चलते हुए भी और नाश या प्रलय की ओर आते हुए भी समस्त जगत् के अन्दर व्याप्त रहता है ॥ ८ ॥

प्र तद्वोचेदमृतं नु विद्वान् गन्धर्वो धाम विभृतं गुहा सत् ।
त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुः पितासत्
॥ ९ ॥

(गन्धर्वः) गौ-स्तुति-वाणी को धारण करने वाला उपासक ( गुहा विभृतं सत् ) हृदय गुहा में विशेष रूप से धृत-स्थित हुए ( तत्-अमृतं धाम विद्वान् ) उस अमृत पद को जानता हुआ ( नु प्रवोचत् ) उसका अवश्य प्रवचन करे ( अस्य त्रीणि पदानि गुहा निहितानि ) इस परमात्मा के तीन पद सूक्ष्मा-

अध्यक्षमोक्ष गत स्वरूप हृदय गुहा में गुप्त हैं ( तानि यः-वेद ) उन्हें जो जानता है ( सः-पितुः पिता-असत् ) वह अपने पिता पालक का भी पिता-पालक है अध्यात्मज्ञान वाला होने से ॥९॥

स नो बन्धुर्जनिता स विधाता धामानि वेद भुवनानि विश्वा।
यत्र देवाऽमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त ॥१०॥

( सः ) वह परमात्मा ( नः ) हमारा ( बन्धुः-जनिता ) स्नेह-सम्बन्धवान् पिता ( सः-विधाता ) वह कर्मफल विधानकर्त्ता ( विश्वा धामानि भुवनानि वेद ) समस्त जन्मों योनियों और लोकलोकान्तरों को जानता है। तथा उस धाम को भी जानता है ( यत्र तृतीये धामन् देवाः-अमृतम्-आनशानाः-अध्यैरयन्त ) जिस तृतीय धाम में अर्थात् इस जन्म और अग्रिम जन्म से भी पर धाम में-मोक्ष धाम में या जड जगत् और जङ्गम जगत् से ऊपर मोक्ष धाम में मुक्तात्माएं अमृत सुख को सम्यक् प्राप्त होते हुए स्वेच्छा से वर्तमान रहते और विचरते हैं ॥ १० ॥

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश ॥११॥

( भूतानि परीत्य ) समस्त वस्तुओं को व्याप्त करके (लोकान् परीत्य ) वस्तुओं के आश्रयभूत लोकों को व्याप्त करके ( सर्वाः प्रदिशः-दिशः-च परीत्य ) लोकों की सीमाओं और दिशाओं को भी व्याप्त करके। तथा ( ऋतस्य प्रथमजाम्-उपस्थाय ) सत्य-सत् पदार्थों में वर्तमान मूल अव्यक्त वस्तु की एवं सत्य ज्ञान की प्रथमोत्पन्न स्थिति-प्रथम प्रादुर्भूत स्थिति को स्वाश्रय में रखकर वर्तमान हुए ( आत्मानम्-आत्मना-अभि संविवेश )

विश्व के आत्मा परमात्मा को स्वात्मा से सम्प्राप्त हो उसमें प्रवेश करे ॥ ११ ॥

परि द्यावापृथिवी सद्यऽइत्वा परि लोकान् परि दिशः परिस्वः।
ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत् ॥१२॥

( द्यावापृथिवी ) द्युलोक पृथिवीलोक को-खगोल के ऊर्ध्व और अधोभाग को (सद्यः परि-इत्वा 'परीत्य') तुरन्त-उत्पत्ति-समकाल से ही परिप्राप्त होकर-स्वाधीन करके ( लोकान् परि ) लोकों को परिप्राप्त करके-स्वाधीन करके( दिशः परि) दिशाओं को परिप्राप्त करके-स्वाधीन करके (स्वः परि-) सूर्य को परिप्राप्त करके-स्वाधीन करके जो ब्रह्म विराजमान है ( ऋतस्य विततं तन्तुं विचृत्य ) पदार्थों में स्थिर अव्यक्त प्रकृतिनामक उपादान के फैले हुए तन्तु को विच्छिन्न करके-समेट कर ( तत्-अपश्यत् ) उसने देखा ( तत्-आसीत् ) वह था ( तत्-अभवत् ) वह हो गया ॥ १२ ॥

सदसस्पतिमद्भुतं प्रियमिन्द्रस्य काम्यम् ।
सनिं मेधामयासिषꣳ स्वाहा ॥१३॥

( सदसः-पतिम् ) सूर्यादि समस्त देवों के सदन-जगत्‡ के स्वामी पालक ( अद्भुतं प्रियं काम्यम्-इन्द्रस्य ) आश्चर्य गुण शक्ति वाले तृप्ति करने वाले कमनीय कामनापूरक 'इन्द्रम्' परमात्मा को ( सनिं मेधाम्-अयासिषम् ) उसकी सम्भजनीय मेधा बुद्धि को प्राप्त होऊं ( स्वाहा ) यह सत्य प्रार्थना है ॥१३॥

---

† "चृती ग्रन्थने" ( तुदादि ) विचृत्य-विश्लिष्य ।

‡ "यदस्मिन् विश्वे देवा असीदन् तत्सदो नाम" ( शत. ३।५।३।५)

यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा ॥१४॥

( अग्ने ) हे ज्ञानप्रकाश स्वरूप परमात्मन् ! (देवगणाः पितरः-च ) विद्वान् ऋषि मुनि गण और पूर्वज पालक जन ( यां मेधाम्-उपासते ) जिस धारणावती बुद्धि को सेवन करते आए हैं ( तया मेधया ) उस बुद्धि से ( अद्य ) आज इसी जीवन में ( मां मेधाविनं कुरु स्वाहा ) मुझे बुद्धिमान् कर यह कथन यह आशा सत्य हो पूरी हो ॥ १४ ॥

मेधां मे वरुणो ददातु मेधामग्निः प्रजापतिः ।
मेधामिन्द्रश्च वायुश्च मेधां धाता ददातु मे स्वाहा ॥१५॥

( वरुणः मे मेधाम् ) वरुण-जल मेरे लिए मेधा को (ददातु) देवे ( अग्निः प्रजापतिः ) अग्नि प्रजा-प्राणिप्रजा का स्वामी या पालक मेरे लिये मेधा को ( इन्द्रः-च वायुः-च मेधाम् ) विद्युत् और वायु मेरे लिये मेधा को ( धाता मे मेधाम् ) सूर्य मेरे लिये मेधा को ( ददातु ) देवे-इन देवों के विज्ञान से मेधा का विकास होता है ( स्वाहा ) यह अच्छा कथन है ॥ १५ ॥

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम् ।
मयि देवा दधतु श्रियमुत्तमां तस्यै ते स्वाहा ॥१६॥

( इदम् ) इस प्रकार ( मे ब्रह्म क्षत्रं च-उभे श्रियम्-अश्नुताम् ) मेरे ज्ञान और बल दोनों शोभा को प्राप्त हों ( देवाः-मयि-उत्तमां श्रियं दधतु ) विद्वान् जन मेरे अन्दर उत्तम श्री-आत्मविद्या को धारण करावें ( तस्यै ते स्वाहा ) उस श्री के लिये ब्रह्म और क्षत्र दोनों उपयुक्त हैं ॥ १६ ॥

# यजुर्वेद अध्याय ३६

ऋषिः—दध्यङ्ङाथर्वणः ( ध्यानशील स्थिर मन वाला ) १, २, ७–१२, १७–१६, २१–२४। विश्वामित्रः ( सर्वमित्र ) ३। वामदेवः ( भजनीय देव ) ४–६। मेधातिथिः ( मेधा से प्रगतिकर्ता ) १३। सिन्धुद्वीपः ( स्यन्दनशीलप्रवाहों के मध्य में द्वीप वाला अर्थात् विषयधारा और अध्यात्मधारा के बीच में वर्तमान जन ) १४ १६। लोपामुद्रा ( विवाह-योग्य अक्षतयोनि सुन्दरी एवं ब्रह्मचारिणी ) २०।

देवता—अग्निः १, २०। बृहस्पतिः २। सविता ३। इन्द्र ४–८। मित्रादयो लिङ्गोक्ताः ६। वातादयः १०। लिङ्गोक्ताः ११। आपः १२, १४ १६। पृथिवी १३। ईश्वरः १७–१६, २१, २२। सोमः २३। सूर्यः २४॥

ऋचं वाचं प्र पद्ये मनो यजुः प्र पद्ये सामं प्राणं
प्र पद्ये चक्षुः श्रोत्रं प्र पद्ये।
वागोजः सहौजो मयि प्राणापानौ ॥१॥

( ऋचं वचं प्रपद्ये ) ऋग्वेद वाणी को प्राप्त हो जाऊं अर्थात् मैं ऋग्वेद को वाणी पर उतार लूं—ऋग्वेद मन्त्रों का उच्चारण प्रवचन करता रहूँ। तथा 'वाचम्–ऋचं प्रपद्ये' वाणी ऋचा को प्राप्त हो जाऊं अर्थात् वाणी को ऋचा बना लूं—वाणी मेरी ऋचा का स्तुति का कार्य करे, अन्य कार्य न करे किन्तु गुण-स्तवन हो करे विशेषतः परमात्मा के गुणस्तवन में लगी रहे ( यजुः मनः प्रपद्ये ) यजुः—मन को प्राप्त होऊं अर्थात् यजुर्वेद

मन्त्रों का प्रयोग मन में धारण कर लूं बाह्य यज्ञ न करके मानसिक अध्यात्म यज्ञ रचा लूं। तथा 'मनः–यजुः प्रपद्ये' मन यजु को प्राप्त होऊं अर्थात् मन को यजु बना लूं–मन यजु का कार्य करे–स्वार्थ त्याग कर उदारता परोपकार में लगा रहे ( साम प्राणं प्रपद्ये ) साम प्राण को प्राप्त होऊं अर्थात् साम मन्त्र को प्राण में ढाल लूं प्राण में सामगान सामोपासना चलती रहे। तथा 'प्राणं साम प्रपद्ये' प्राण साम को प्राप्त होऊं अर्थात् प्राण बाह्य वायु पर आश्रय न रखे किन्तु उपासना पर आश्रित रहे–उपासना के विना प्राण का अल्प भाग भी रिक्त न जाए ( चक्षुः श्रोत्रं प्रपद्ये ) आध्यात्मिक जीवन की पञ्चाङ्गी त्रयी विद्या में वाक् प्राण मन तो आ चुके अब शेष दो चक्षु अर्थात् आँख, श्रोत्र–कान भी उक्त ऋक् यजुः साम रूप त्रयीविद्या में चलावें या त्रयी विद्या इन आँख कान में आ जावें–त्रयीविद्या के कार्य आँख कान में चरितार्थ हो जावें या आँख कान भी त्रयीविद्या में लग जावें एवं त्रयी विद्या को आँख कानरूप में प्राप्त कर लूं या आँख कान को त्रयीविद्यारूप में प्राप्त कर लूं। पुनः ( वाक्–ओजः सह–ओजः ) वाक्–रूप–वाणीरूप या वाक् इन्द्रिय शक्ति से लेकर साथ श्रोत्र पर्यन्त पञ्चाङ्ग की शक्ति ( प्राणापानौ ) प्राण और अपान ( मयि ) मेरे में स्थिर रहें ॥१॥

यन्मे छिद्रं चक्षुषो हृदयस्य मनसो वातितृण्णं
बृहस्पतिर्मे तद्दधातु ।
शं नो भवतु भुवनस्य यस्पतिः ॥२॥

( मे ) मेरे ( चक्षुषः–हृदयस्य मनसः–वा ) नेत्र हृदय या मन का ( यत्–छिद्रम्–अतितृण्णम् ) जो छिद्र अत्यन्त खुल गया ( तत्–मे बृहस्पतिः–दधातु ) उसे मेरे लिए–मुझ पर कृपा करके

बृहस्पति परमात्मा बन्द कर दे ( भुवनस्य यः–पतिः ) जो कि विश्व का स्वामी है वह इस प्रकार ( नः–शं भवतु ) हमारे लिए कल्याणकारी हो ॥ २ ॥

ओ३म् भूर्भुवः स्वः । तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥३॥

( ओ३म् ) परमात्मा का सर्वोत्कृष्ट तथा निज नाम । 'अव' धातु से बना है, 'अव' धातु के रक्षण आदि १८ अर्थ हैं प्रधान अर्थ यहाँ रक्षण है, संसार में जितने भी रक्षक हैं सबसे अधिक तथा सर्वदा और नितान्त रक्षक परमात्मा । ( भूः ) स्वयं सत्ता से वर्तमान प्राण की भांति जड जङ्गम का आधार एवं जीवन-दाता ( भुवः ) अवकल्कित करने वाला, कल्क–मल दुःख दोष से अलग करने वाला† जगदीश । अन्तरात्मा के कल्क दुर्वासना दुःसङ्कल्प मानस ताप और अशान्ति है उन्हें पृथक् कर देने वाला उसके सङ्ग से ये दूर हो जाते हैं ( स्वः ) सुखस्वरूप परमात्मा मानसकल्याण एवं आत्मशान्ति, मोक्षरूप परमानन्द का दाता है ( सवितुः–देवस्य ) उत्पादक प्रेरक ज्ञानप्रकाशक अपने इष्टदेव परमात्मा के ( तत्–वरेण्यं भर्गः ) उस प्रसिद्ध वरने योग्य जो वरा जा सके तथा अवश्य वरणीय जिसे वरना ही चाहिए बिना वरे मानव का कल्याण नहीं ऐसे पाप और अविद्यान्धकार के नाशक शुद्ध ज्ञानमय तेज को ( धीमहि ) हम धारण करें ध्यावें अपनावें ( यः ) जो ( नः–धियः ) हमारी बुद्धियों, प्रज्ञानो धारणशक्तियों–मन बुद्धि चित्त अहङ्काररूप को‡ ( प्रचोदयात् )

† "भुव;–अवकल्कने" ( चुरादि० )

‡ "धीः प्रज्ञानाम" ( निघ० ३।६ )

मानवोचित्त कर्मों में, जीवन के उत्कृष्ट क्षेत्रों में सद्गुण कर्म स्वभावों में तथा अपनी ओर प्रेरित करे ॥ ३ ॥

कया नश्चित्रऽआ भुवदूती सदावृधः सखा ।

कया शचिष्ठया वृता ॥४॥

( चित्रः ) अद्भुत गुणकर्म स्वभाव परमात्मा ( कया-ऊती ) किस कैसी अथवा विरली उत्कृष्ट इच्छाभावना से‡ तथा ( कया शचिष्ठया वृता ) कैसी या विरली उत्कृष्ट से उत्कृष्ट प्रज्ञा से+ वर्तन क्रिया से (नः-सदावृधः सखा आ भुवत्) हमारा सदावर्धक सखा-मित्र समन्त रूप से हो जावे । ४ ॥

कस्त्वा सत्यो मदानां मᳪहिष्ठो मत्सदन्धसः ।

दृढा चिदारुजे वसु ॥५॥

( कः सत्यः-मदानां मंहिष्ठः ) कोई विरले मनुष्यो से भिन्न सत्तावान् पदार्थों में-नित्य पदार्थों में साधु श्रेष्ठ वरणीय हर्षों आनन्दों का अत्यन्त दाता† जोकि परमात्मा हो सकता है ( अन्धसः-मत्सत् ) अन्न से आहारप्रदान से आनन्दित करता हे तृप्त करता है ( आरुजे दृढा चित्-वसु ) आधिभौतिक अधिदैविक आध्यात्मिक दुःख नाशन में समन्तरूप से समर्थ एवं वासनापाश का भञ्जन करने वाले मुमुक्षु के लिए दृढ धनों को देता है ॥५॥

---

‡ "अव रक्षण . इच्छा.." ( भ्वादि० ) ऊतिः... सुपां सुलुक पूर्व सवर्णः ( अष्ट० ७।१।३९ )

+ "शची प्रज्ञानाम" ( निघ० ३।९ )

† "मंहते दानकर्मा ( निघं० ३।२० ) ततस्तृचं मंहिता-अतिशये Sर्थ इष्ठन् प्रत्ययो मंहिष्ठः ।

अभीषुणः सखीनामविता जरितृणाम् ।
शतं भवास्यूतिभिः ॥६॥

( नः सखीनां जरितृणाम् ) हे परमेश्वर अपने मित्र हुए हम स्तोताओं उमासकों का ( अभि ) अभीष्ठ साधक (ऊतिभिः) विविध रक्षाओं से ( सु-अविता ) अच्छा रक्षक (शतं भवासि) बहुत प्रकार का हो ॥६॥

कया त्वं नऽऊत्याभि प्रमन्दसे वृषन् ।
कया स्तोतृभ्यऽआभर ॥७॥

(वृषन् त्वं कया-ऊत्या) हे सुखवर्षक परमात्मन् ! तू किसी भी विशेषरक्षा से ( नः प्रमन्दसे ) हमको आनन्दित करते हो तथा ( कया स्तोतृभ्यः-आ भर ) किसी भी विशेषरक्षा से स्तोताओं हम उपासको का भरण पोषण करते हो जब हम साधारण अवस्था में होते हैं तो हमें आनन्दित करने का प्रकार आपका और है और जब हम तेरे स्तोता उपासक हो जाते है तो हमारे भरण का प्रकार और होता है ॥७॥

इन्द्रो विश्वस्य राजति । शन्नोऽअस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥
॥ ८ ॥

( नः-द्विपदे शम्-नः-चतुष्पदे शम्-अस्तु ) वह हमारे सम्बन्धिजन के लिए कल्याण एवं सुखकारी तथा चार पैर वाले गौ आदि के लिए कल्याण करने एवं सुखकारी हो ॥८॥

शन्नो मित्रः शं वरुणः शन्नो भवत्वर्यमा ।
शन्नऽइन्द्रो बृहस्पतिः शन्नो विष्णुरुरुक्रमः ॥ ६ ॥

( मित्रः–नः शं–वरुणः शम् ) अग्नि† हमारे लिए कल्याणकारी हो जल भी कल्याणकारी हो (अर्यमा नः शं भवतु) सूर्य + हमारे लिए कल्याणकारी हो (इन्द्रः–बृहस्पतिः–नः शम्) विद्युत् ‡ वायु × हमारे लिए कल्याणकारी हो ( उरुक्रमः–विष्णुः–नः शम् ) बहुत पराक्रमवाला सोम-चन्द्रमा * हमारे लिए कल्याणकारी हो ॥ ६ ॥

शन्नो वातः पवताᳪशन्नस्तपतु सूर्य्यः ।

शन्नः कनिक्रदद्देवः पर्जन्योऽअभि वर्षतु ॥ १० ॥

( वातः–नः शं पवताम् ) विस्तृत वायु हमारे लिए कल्याणकारी होता हुआ चले ( सूर्यः–नः शं तपतु ) सूर्य हमारे लिए सुख कर ताप दे ( कनिक्रदत् पर्जन्यः–देवः–अभिवर्षतु ) गर्जता हुआ मेघ देव भली भांति वर्षे ॥ १० ॥

अहानि शं भवन्तु नः शᳪ रात्रीः प्रतिधीयताम् ।

शन्नऽइन्द्राग्नी भवतामवोभिः शन्नऽइन्द्रावरुणा रातहव्या ।

शन्नऽइन्द्रापूषणा वाजसातौ शमिन्द्रा सोमा सुविताय शंयोः

॥ ११ ॥

( अहानि नः शं भवन्तु ) दिन हमारे लिए कल्याणकारी हों ( रात्रीः शं प्रतिधीयताम् ) रात्रियां कल्याण को हमारे में

---

† "अग्निर्भवति मित्रः" ( शत० २ । ३ । २ । १२ )

+ "अर्यमाऽऽदित्यः" ( निरु० ११ । २३ )

‡ "यदशनिरिन्द्रः" ( कौ० ६ । ६ । )

× "बृहस्पतिर्योऽयं वायुः पवते ( शत० १४ । २ । २ । १० )

* "यो वैष्णुः सोमः सः" ( शत० ३ । ३ । ४ । २१ )

प्रतिष्ठापित करें ( इन्द्राग्नी अवोभि नः शं भवताम् ) विद्युत् और अग्नि मन्त्र-प्रयुक्त अग्नि धर्म और विद्युत्-धर्म युक्त वर्तमान रक्षाओं द्वारा कल्याणकारी हों (रातहव्या-इन्द्रावरुणा) हव्य जिनके लिए दिया जावे विद्युत् और मेघ हमारे लिए कल्याणकारी हों ( वाजसातौ-इन्द्रापूषणा नः शम् ) अन्न का सम्भजन कराने वाले हमारे लिए विद्युत् और पृथिवी= कल्याणकारी हैं ( इन्द्रासोमा शंयोः सुविताय शम् ) विद्युत् और जल कल्याणोत्पत्ति के लिए शान्ति युक्त हो ॥ ११ ।

शन्नो देवीरभिष्टयऽआपो भवतु पीतये ।
शंयोरभि स्रवन्तु नः ॥ १२ ॥

( आपः-देवीः-नः-अभिष्टये शं भवन्तु ) दिव्य गुण जल हमारी ध्यान पूर्वक स्नान क्रिया के लिए † कल्याणकारी हों ( आपः-पीतये भवन्तु ) ध्यान पूर्वक पान के लिए जल कल्याण-कारी हों ( नः शयोः-अभिस्रवन्तु ) स्नान और पान द्वारा हमारे पर दोनो ओर से सुख की वर्षा करें ॥ १२ ॥

स्योना पृथिवि नो भवानृक्षरा निवेशनी ।
यच्छा नः शर्म सप्रथाः ॥ १३ ॥

( पृथिवि ) हे पृथिवि ! तू ( नः ) हमारे लिए ( स्योना ) सुख करने वाली ‡ ( अनृक्षरा ) कष्टकादिरहित ( निवेशनी )

---

= "पूषा पृथिवी नाम" ( निघं० १ । १ )

† अभिपूर्वकात् ष्टै संघाते क्तिप्रत्ययः ।

‡ स्योनं सुखनाम ( निघ० ३ । ६ )

अपने ऊपर आश्रय देने वाली हो ( नः सप्रथाः शर्म यच्छ ) हमारे लिए सविस्तर घर + दे-बनावे ॥ १३ ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।
महे रणाय चक्षसे ॥ १४ ॥

( आपः-हि मयोभुवः-स्थ ) हे समीपता से सुगमता से सेवन करने-स्नान पान करने योग्य जलधाराओं ! तुम सुख लाने वाले हो ( ताः-नः-ऊर्जे ) वे तुम हमारे शरीर में बल के संस्थान करने के लिए तथा ( महे रणाय चक्षसे दधातन ) महान् रमणीय मनः प्रसाद के लिए और दर्शन के लिए नेत्रों में ज्योति के प्रसार के लिए धारण करो ॥ १४ ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ १५ ॥

(उशतीः-इव मातरः) हे प्रापणीय जल धाराओ ! जैसे माताएं अपना स्तन्य दूध पुत्र को देती पिलाती हैं ( वः-यः शिवतमः-रसः-तस्य-इह नः-भाजयत ) तुम्हारा जो अत्यन्त कल्याणकर रस-स्वाद पुष्टिकर है उस रस के इस मेरे शरीर में स्नान और पान से तथा खेत में सींचने से हमें प्राप्त कराओ ॥ १५ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ १६ ॥

( आपः-यस्य क्षयाय जिन्वथ ) हे जल धाराओं ! जिस रस के हमारे शरीर में निवास के लिए स्थिर करने के लिए पीए

+ शर्म गृहनाम ( निघ० ३ । ४ )

हुए तृप्त करते हो ( जनयथा च नः ) और हमें उत्पन्न करते हो= ( तस्मै वः-अरङ्गमाम ) उस रस के लिए-उस रस की प्राप्ति के लिए तुम्हें पूर्णरूप से हम प्राप्त होवें ॥ १६ ॥

**द्यौः शान्तिरन्तरिक्षꣳशान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः । वनस्पतयः शान्तिर्विश्वे देवाः शान्तिर्ब्रह्म शान्तिः सर्वꣳ शान्तिः शान्तिरेव शान्तिः सा मा शान्तिरेधि ॥१७॥**

( द्यौः शान्तिः ) सूर्य आदि ग्रहों वाला द्युलोक शान्तिकर हो दिन रात में शान्ति करने वाला प्रकाश को प्रदान करे ( अन्तरिक्षं शान्तिः ) अन्तरिक्ष-वायु मेघ का सदन शान्ति हो यथा काल वायु को चलावे मेघ बर्सावे ( पृथिवी शान्तिः ) पृथिवी शान्ति हो-समुन्नति आश्रय प्रदान करे आवश्यक भोग्य वस्तु दे ( आपः शान्तिः ) जल शान्ति करने वाले हों स्नान आदि उपयोगों से ( ओषधयः शान्तिः ) गेहूँ आदि ओषधियां सुभोज्य हों तथा सोम आदि ओषधियां रोगनिवृत्तिकर हों ( वनस्पतयः शान्तिः ) फलवान् वृक्ष शान्तिप्रद हों ( विश्वेदेवाः शान्तिः ) अन्य दिव्यगुण पदार्थ भी शान्तिकर हों ( ब्रह्म शान्तिः ) इन द्युलोकादि का स्वामी ब्रह्मात्मा भी शान्तिरूप हो ( सर्वं शान्तिः ) सब साधारण वस्तुमात्र शान्तिप्रद हो ( शान्तिः-एव शान्तिः ) सब ओर से शान्ति ही शान्ति हो शान्तिप्रद हो ( सा शान्तिः-मा-एधि ) वह सर्वविषयक शान्ति प्रार्थना से या वैसे हमारी उत्कृष्ट कर्म-प्रवृत्ति से हमें प्राप्त हो ॥ १७ ॥

---

= "वेत्थ पञ्चम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति"

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम् । मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे । मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥ १८ ॥

( दृते मा दृंह ) हे आदरणीय एवं आदर में रखने वाले परमात्मदेव ! मुझे आदर में-स्नेह में दृढ़ कर ( सर्वाणि भूतानि ) सारे प्राणी ( मा मित्रस्य चक्षुषा समीक्षन्ताम् ) मुझे मित्र की दृष्टि से देखें ( अहं मित्रस्य चक्षुषा ) मैं मित्र की दृष्टि से ( सर्वाणि भूतानि समीक्षे ) सब प्राणियों को देखूं । पुनः ( मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ) हम परस्पर मित्र की दृष्टि से देख सकें ॥ १८ ॥

दृते दृंह मा । ज्योक्ते संदृशि जीव्यासं ज्योक्ते संदृशि जीव्यासम् ॥ १९ ॥

( दृते मा दृंह ) हे मेघसमान† आनन्ददायक सम्पूर्ण परमात्मन् ! मुझे अपने में दृढ़ कर ( ते संदृशि ज्योक्-जीव्यासम् ) जिससे कि तेरे साक्ष्य-साक्षात् दर्शन में चिर तक जीवित रहूं ( ते संदृशि ज्योक्-जीव्यासम् ) तेरे सम्यक् दर्शनरूप मोक्ष में निरन्तर अमर जीवन धारण करता रहूं ॥ १९ ॥

नमस्ते हरसे शोचिषे नमस्ते अस्त्वर्चिषे । अन्याँस्तेऽअस्मत्तपन्तु हेतयः पावकोऽअस्मभ्यं शिवो भव ॥ २० ॥

---

† दृतिः-मेघनाम ( निघ० १।१० )

( पावकः-ते हरसे शोचिषे नमः ) हे पवित्रकर्ता परमात्मन्! तेरे अज्ञान हरने वाले गुण के लिए स्वागत तथा ज्ञान प्रकाशक गुण के लिए स्वागत ( ते-अर्चिषे नमः-अस्तु ) तेरे अर्चनीय-स्तुत्य स्वरूप के लिए स्वागत ( ते हेतयः-अस्मत्-अन्यान् तपन्तु ) तेरे वज्रास्त्र× हम से भिन्न पापियों को पीड़ित करें—करते हैं ( अस्मभ्यं शिवः-भव ) हमारे लिए शिव कल्याणकारी हो ॥ २० ॥

नमस्तेऽअस्तु विद्युते नमस्ते स्तनयित्नवे ।
नमस्ते भगवन्नस्तु यतः स्वः समीहसे ॥ २१ ॥

( भगवन् ते विद्युते नमः ) हे परमात्मन्! तेरे रचे मेघों में वर्तमान विद्युत् के लिये स्वागत है ( ते स्तनयित्नवे नमः ) तेरे रचे मेघों में वर्तमान स्तनयित्नु नामक गर्जन करने वाले पदार्थ के लिए स्वागत हो ( यतः स्वः समीहसे ) जिससे कि इन विद्युत् और स्तनयित्नु के द्वारा तू मेघजल को‡ हम तक प्रेरित करता है ( ते नमः-अस्तु ) अतः तेरे लिए स्वागत है ॥ २१ ॥

यतो यतः समीहसे ततो नोऽअभयं कुरु ।
शं नः कुरु प्रजाभ्योऽभयं नः पशुभ्यः ॥ २२ ॥

( यतः-यतः समीहसे ) परमात्मन्! जिस जिस स्थान से तू सृष्टिक्रमार्थ सम्यक् चेष्टा करता है ( ततः-नः-अभयं कुरु )

---

×हेतिः—वज्रनाम ( निघ० २।२० )

‡स्वः—मेघनाम ( निघ० १।१२ )

वहां से हमारे लिए अभय कर ( नः-शं कुरु ) तथा हमारे लिए कल्याण कर ( नः प्रजाभ्यः पशुभ्यः-अभयं कुरु ) हमारे सन्तानों और गौ आदि पशुओं के लिए भी उसी रचना स्थान से अभय कर ॥ २२ ॥

सुमित्रिया नऽआपऽओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु । योऽस्मान् द्वेष्टि यं च वय द्विष्मः ॥ २३ ॥

( आपः ओषधयः-नः सुमित्रियाः सन्तु ) जल ओषधियां हमारे लिए अच्छे मित्रभूत* हितकर हों ( दुर्मित्रियाः-तस्मै सन्तु ) दुर्मित्रभूत-शत्रुभूत उसके लिए हों ( यः-अस्मान् द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ) जो पापी हमसे द्वेष करता है और जिस पापी के प्रति हम द्वेष करते हैं ॥ २३ ॥

तच्चक्षुर्देवहितं पुरस्ताच्छुक्रमुच्चरत् । पश्येम शरदः शतं जीवेम शरदः शतꣳ शृणुयाम शरदः शतं प्र ब्रवाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतं भूयश्च शरदः शतात् ॥२४॥

( देवहितं तत्-शुक्रं चक्षुः पुरस्तात्-उच्चरत् ) विद्वानों के हितकर वह शुभ्र ब्रह्म ज्योति सृष्टि के पूर्व से वर्तमान मेरे मन में प्रकाशित हुआ—हो रहा है या सूर्य ज्योति पूर्व दिशा से उदय हुआ-होता है ( शतं शरदः पश्येम ) सौ शरद् ऋतुओं—वर्षों तक उस ब्रह्म ज्योति को देखें अध्यात्म दृष्टि से या सूर्य ज्योति को नेत्रदृष्टि से देखें ( शतं शरदः जीवेम )

---

*"सुपां सु······डियाच्······" ( अष्टा० ७।१।३६ ) इति डियाच प्रत्ययो जसः स्थाने ।

उसे देखते हुए सौ वर्षों तक जीवें ( शतं शरदः-शृणुयाम ) सौ वर्षों तक सुनें ( शतं शरदः प्रब्रवाम ) सौ वर्षों तक प्रकृष्ट बोलें-प्रवचन करें ( शतं शरदः-अदीनाः स्याम ) सौ वर्षों तक दीनतारहित हों-रहें ( शतात्-शरदः-भूयः ) सौ वर्षों से भी अधिक वैसे ही देखते हुए प्राणों को धारण करते हुए सुनते हुए बोलते हुए दीनतारहित होते हुए रहें ॥ २४ ॥

---

# यजुर्वेद अध्याय ४०

ऋषिः—दीर्घतमाः (दीर्घ अन्धकार वाला—दीर्घ काल से अज्ञानान्धकार से युक्त तथा दीर्घ अर्थात् जीवन की† आकांक्षा करने वाला‡ पुनः पुनः मृत्यु से छूट कर अमृतत्व का इच्छुक मुमुक्षु जन)

देवता—२-३, ५-१७ आत्मा (जडजङ्गमरूप विश्व का आत्मा विश्वात्मा परमात्मा) ४ ब्रह्म।

ई॒शा वा॒स्य॑मि॒द५ँ सर्वं॒ यत्किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त्।
तेन॑ त्य॒क्तेन॑ भुञ्जीथा॒ मा गृ॑धः॒ कस्य॑ स्वि॒द्धन॑म्॥१॥

(जगत्याम्) जगती में—जगतों के समूहरूप समष्टि सृष्टि में (यत् किम्-च) जो कुछ भी (इदं सर्वं जगत्) यह सब जगत्—चलपरिणामयुक्त कार्य वस्तु-प्रत्येक कार्य वस्तु है—जड जङ्गम वस्तु मात्र है। वह (ईशा वास्यम्) ईश्वर द्वारा वास अर्थात् निवास और आवास में अधिकरणीय अवश्य अधिकार करने योग्य+ अवश्य अधीन करने योग्य है—साधिकार वासित और आच्छादित है (तेन) तिस से—ऐसा होने पर—इस

---

† "आयुर्वै दीर्घम्" (तां० १३।११।१२)

‡ 'तमु आकांक्षायाम्,' (दिवादि०)

+ "वस निवासे" (भ्वादि०) "वस आच्छादने" (अदादि०) श्लेषालङ्कार से दोनों अभीष्ट हैं। आवश्यके ण्यत् "कृत्याश्च" (अष्टा० ३।३।१७१)

हेतु ( त्यक्तेन भुञ्जीथाः ) हे नर * हे मानव ! तू त्याग से-वर्जन और निर्लेप भाव से उक्त जगत् को भोग। अतः ( मा गृधः ) मत स्पृहा कर-मत ललचा । क्योंकि ( धनं कस्य स्वित् ) धन-भोग पदार्थ किसका है ? सोच क्या किसी का है ? अर्थात् किसी का न हुआ न है न होगा ॥१॥

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

( इह ) इस संसार में ( कर्माणि ) कर्मों को ( कुर्वन्-एव ) करता हुआ ही तथा करने के हेतु ही† ( शतं समाः-जिजीविषेत् ) मनुष्य सौ वर्षों या बहुत‡ वर्षों तक+ जीने की इच्छा करे तथा जीवित रहना चाहिये ( एवं त्वयि नरे ) इस प्रकार तुझ मनुष्य के निमित्त ( इतः-अन्यथा न-अस्ति ) इससे भिन्न प्रकार या मार्ग जीवन का अन्य कोई नहीं है-मानव जीवन का मार्ग तो यही है अन्य नहीं है। और ( न कर्म लिप्यिते ) तुझ मनुष्य में इस प्रकार जीनन बिताने से न कर्म लिप्त होता है-नहीं लिप्त हो सकता है ॥२॥

असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्यापिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

---

* "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः । एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" ॥२॥ इस उत्तर मन्त्र से 'नर' शब्द सम्बद्ध है ।

† "लक्षणहेत्वोः क्रियायाः" ( अष्टा० ३।२।१२६ ) से लक्षण और हेतु अर्थ में शतृ प्रत्यय श्लेषालङ्कार से दोनों अर्थ है ।

‡ "शतं बहुनाम" ( निघं० ३।१ )

\+ "समानां संवत्सराणाम्" ( निरु० ११।१५ )

( असुर्याः–नाम ते लोकाः ) हां ! असुर सम्बन्धी वे स्थान या जन्म हैं ? जो ( अन्धेन तमसा–आवृताः ) घने अन्धकार से आच्छादित हैं ( तान् ) उन जन्मों दशाओं–स्थानों को ( ते प्रेत्य–अपि गच्छन्ति ) वे मर कर भी तथा जीते भी प्राप्त होते हैं ( ये के च ) जो कोई× ( आत्महनः–जनाः ) आत्मघाती मनुष्य हैं जो कि त्याग से भोगविधान और निष्काम कर्म तथा कर्मार्थ जीवन लक्ष्यका उल्लंघन करते हैं ॥३॥

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवाऽआप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

( अनेजत् ) ब्रह्म† अचलायमान–एकरस–निर्विकार है ( एकम् ) संख्या में एक तथा केवल है और अनवयव है ( मनसः– जवीयः ) मन से वेगवान् है ( देवाः–एनत्–न–आप्नु–वन् ) इन्द्रियां इसे प्राप्त नहीं कर सकतीं । क्योंकि ( पूर्वम्-अर्षत् ) वह ब्रह्म पूर्व से ही प्राप्त है–प्रथम से ही विद्यमान है ( तत् तिष्ठत् ) वह सर्वत्र स्थित हुआ स्थूल एवं एकदेशी गति से रहित हुआ भी ( अन्यान् धावतः ) अन्य दौडते हुए पदार्थों को ( अत्येति ) अतिक्रमण कर जाता है-पीछे डाल देता है ( तस्मिन् ) उसके आधार पर ( मातरिश्वा ) माता के गर्भ में जाने वाला जीवात्मा ( अपः ) कर्म को ‡ ( दधाति ) धारण करता है ॥४॥

तदेजति तन्नैजति तद् दूरे तद्वन्तिके ।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥५॥

---

× ये के च = ये केचन = ये के चित् । यहां 'च ''चन' के अर्थ में है ।

† इस मन्त्र का देवता ब्रह्म होने से मन्त्र में अभीष्ट ब्रह्म है ।

‡ "अपः कर्मनाम" ( निघं० २।१ )

( तत्-एजति ) वह ब्रह्म गति करता है-विभु गति करता है ( तत्-न-एजति ) वह गति नहीं करता है-एकदेशी गति नहीं करता है ( तत्-दूरे ) वह दूर है विभु होने से (तत्-उ-अन्तिके) वह ही समीप है, (तत्-अस्य सर्वस्य-अन्त:) वह इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के अन्दर है ( तत्-उ-अस्य सर्वस्य बाह्यत: ) वह ही इस सब प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष जगत् के बाहिर भी है ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विचिकित्सति ॥ ६ ॥

( य:-तु ) जो तो ( सर्वाणि भूतानि ) समस्त वस्तुओं को ( आत्मन् एव ) विश्व के आत्मा-परमात्मा में 'स्थित' ही ( अनुपश्यति ) देखता है-अनुभव करता है ( च ) और ( सर्व-भूतेषु ) समस्त वस्तुओं में 'व्याप्त' ( आत्मानम् ) परमात्मा को देखता है अनुभव करता है ( तत् ) फिर, वह (न विचिकित्सति) संशय को प्राप्त नहीं होता-वह सूर्य आदि को देख उसे ईश्वर नहीं समझता है चलित नहीं होता है ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोकऽएकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

( विजानत: ) परमात्मा के विभुत्वदर्शी ज्ञानी के ( यस्मिन् ) जिस दर्शन-ज्ञान या मन में ( सर्वाणि भूतानि ) सब प्राणी ( आत्मा-एव-अभूत् ) केवल आत्मा ही हैं-स्त्री, पुरुष, बालक, गौ, हरिण, मोर आदि मोहक प्राणी तथा कुरूप जन, सिंह, सर्प

† 'ङि' विभक्तेर्लुक् "सुपां सुलुक्०" ( अष्टा० ७।१।३९ )

आदि भयङ्कर प्राणी उसके सम्मुख अपना मोहक या विकराल-भयानक व्यक्तित्व नहीं दिखलाते या वह उन मोहक और विकराल भयानक रूपों में उन्हें नहीं देखता किन्तु उसके सम्मुख आत्मभाव में सब मेरे जैसे आत्मा है ऐसा निश्चय या अनुभव हो गया शरीरभेद तो परमात्मा की रचनाकला है, पुनः उस ऐसे ( एकत्वम्-अनुपश्यतः ) एक आत्ममात्र दृष्टि से देखते हुए के ( तत् ) उस दर्शन-ज्ञान या मन में ( कः-मोहः कः-शोकः ) कौन मोह कौन शोक है ? अर्थात् कोई नहीं ॥ ७ ॥

स पर्य॑गाच्छु॒क्रम॑का॒यम॑व्र॒णम॑स्ना॒विर॑ꣳ शु॒द्धमपा॑पविद्धम् ।
क॒विर्म॑नी॒षी प॑रि॒भूः स्व॑य॒म्भूर्या॑थातथ्य॒तोऽर्था॒न् व्यद॑धा-
च्छाश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥ ८ ॥

( सः-पर्यगात् ) वह परमात्मा सर्वत्र परिपूर्ण है-अनन्त है ( शुक्रम् ) वह ब्रह्म शुभ्र-अतुल भासमान है ( अकायम् ) कायरहित नेत्रादि इन्द्रियों के निकायरहित-जीवशरीररहित ( अव्रणम् ) व्रणरहित अवकाशरहित-अवकाश वाले काष्ठ पाषाण स्वर्ण आदि ठोस धातु एवं पृथिवी चन्द्र सूर्य आदि पिण्ड जैसे व्यक्तिरूप से रहित ( अस्नाविरम् ) धारारहित-धारामय विद्युत् किरण और वायु जैसी जडसत्ता से रहित ( शुद्धम् ) निर्मल-अनावरण निःसङ्ग ( अपापविद्धम् ) पाप-सम्पर्क से अलग ( कविः ) क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ ( मनीषी ) मनोवृत्तियों का ज्ञाता ( परिभूः ) सब पर स्वामित्व रखनेवाला ( स्वयम्भूः ) स्वयं सत्ता से विराजमान ( शाश्वतीभ्यः समाभ्यः ) सदा से साथ रहनेवाली जीवरूप प्रजाओं के लिये ( अर्थान् ) विद्याविषयों तथा जगत्पदार्थों को ( याथातथ्यतः ) यथावत्-ठीक-ठीक ( व्यदधात् ) प्रकाश करता तथा रचता है ॥ ८ ॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूयऽइव ते तमो यऽउ सम्भूत्याᳪ रताः ॥९॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदोभयᳪ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥११॥

( ये-असम्भूतिम्-उपासते ) जो जन असम्भूति अर्थात् प्रकृति† की उपासना करते है। वे ( अन्धन्तमः प्रविशन्ति ) घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं। ( ये-उ ) जो ही ( सम्भूत्यां रतः ) सम्भूति अर्थात् सृष्टि में रत हैं-फंसे हैं ( ते ) वे ( ततः-भूयः-इव तमः ) उससे भी अधिक जैसे घने अन्धकार में प्रवेश करते हैं ॥ ९ ॥

( सम्भवात् ) सम्भव-सम्भूति-सृष्टि से ( अन्यत्-एव-आहुः ) और ही फल कहते हैं ( असम्भवात् ) असम्भव-असम्भूति-प्रकृति से ( अन्यत्-आहुः ) अन्य फल कहते है

---

† असम्भूति=न सम्भूति सम्भूति मिलकर बनने वाली सृष्टि। सम्भूय गच्छत' अर्थात् मिलकर चलो तथा "सम्भवामि युगे युगे" ( गीता० ४ । ८ ) मैं युग युग में उत्पन्न होता हूँ। अतः सम्भूति उत्पन्न होने वाली सृष्टि। सम्भूति सृष्टि और असम्भूति सृष्टि से भिन्न सृष्टि जैसी जड प्रकृति। "नञिवयुक्तमन्यसदृशाधिकरणे तथाह्यर्थगतिः। अब्राह्मण-मानयेत्युक्ते ब्राह्मणसदृशः पुरुष आनीयते न लोष्टमानीय कृती भवति" ( महाभाष्यम् ) जैसे अब्राह्मण अर्थात् ब्राह्मण से भिन्न ब्राह्मण जैसा क्षत्रियादि मनुष्य है।

( इति ) ऐसा कथन ( धीराणाम् ) धीर-ध्यानी महापुरुषों का ( शुश्रुम ) सुनते हैं ( ये ) जो ( नः ) हमें ( तत्-विचचक्षिरे ) उसका व्याख्यान करते थे ॥ १० ॥

( यः ) जो (सम्भूतिं च विनाशं च तत्-उभयं सह) सम्भूति सृष्टि और विनाश‡ असम्भूति अर्थात् प्रकृति, इन दोनो को साथ साथ ( वेद ) जानता है। वह ( विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा ) विनाश अर्थात् सृष्टि के अव्यक्त रूप प्रकृति से मृत्यु को तर कर ( सम्भूत्याऽमृतम्-अश्नुते ) सृष्टि से अमृत को प्राप्त करता है ॥ ११ ॥

यहां ६ वें मन्त्र में जो असम्भूति की उपासना से घने अन्धेरे में प्रवेश होना और सम्भूति की उपासना से उससे भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश होना कहा गया है वह अकेले सेवन करने का फल कहा गया है क्योंकि ११ वें मन्त्र में दोनों को साथ साथ जानने का फल गिरना नहीं किन्तु मृत्यु को तरना और अमृत को पाना उत्कृष्ट फल बताया है। इनके अलग अलग सेवन से उत्कृष्ट फल नहीं मिलता किन्तु गिरना ही होता है। एक मनुष्य के पास केवल प्रकृति-कारण रूप गेहूँ आदि शुष्क अन्न मात्र है वह नहीं जानता कि इसकी रोटी आदि भोजन कैसे बनता है वह उसे कच्चा ही खाता रहता है तो अनेक रोगों का ग्रास बन जाता है, अतः घने अन्धेरे में प्रवेश करता है अन्य मनुष्य के पास सृष्टि रोटी आदि बना हुआ भोजन है वह नहीं जानता कि यह किससे बना है पर खाता चला जाता है, बना भोजन धीरे धीरे बिगड अखाद्य हो

‡ "णश अदर्शने" ( दिवादि० ) दृष्ट का अदृष्ट हो जाना विनाश-प्रकृति बन जाना।

जाता है या समाप्त हो जाता है अधिक काल तक न ठहरने से तो पुनः यह मृत्यु को प्राप्त हो जाता है इस प्रकार पूर्व की अपेक्षा उससे भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश होता है। फल दोनों का भिन्न भिन्न है अलग अलग सेवन करने पर भी और मिलाकर सेवन करने पर भी, यह गत १० वें मन्त्र में कहा है। ११ वें मन्त्र में फल दोनों का साथ साथ सेवन करने का उठना दर्शाया कि प्रकृति के सेवन का फल मृत्यु को तरना और सृष्टि के सेवन का फल अमृत का पाना है। यह फल अध्यात्म जीवन के होने से यहां सृष्टि और प्रकृति भी अध्यात्मरूप में हैं। अतः यहां सृष्टि–अध्यात्म सृष्टि है इन्द्रियादि संघातरूप शरीर और प्रकृति है उसका कारणरूप मन कहा भी है "मनोऽधिकृतेनायात्यस्मिन् शरीरे" (प्रश्नो० ३। ३) मन के कारण जीव शरीर में आता है। जैसा-जैसा होता है मन वैसा-वैसा बनता है। अतः दोनों मन और शरीर को साथ जानने से अध्यात्म प्रकृति अर्थात् मन के निरोध संयम से मृत्यु पुनः पुनः मरण को तर कर अध्यात्म सृष्टि अर्थात् इन्द्रियादि संघातरूप शरीर से परमात्मा की ओर प्रवृत करके उसका श्रवण करने से अमृत को पाना होता है ॥

अन्धंतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांरताः ॥१२॥

अन्यदेवाहुर्विद्याया अन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

विद्यां चाविद्यां च यस्तद् वेदोभयंसह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥१४॥

( ये-अविद्याम्-उपासते ) जो जन अविद्या अर्थात् कर्म ‡ केवल कर्म ज्ञानशून्य कर्म की उपासना करते हैं। वे ( अन्ध-न्तमः प्रविशन्ति ) घने अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ( ये-उ विद्यायां रताः ) जो ही विद्या-ज्ञान केवल ज्ञान कर्म शून्य ज्ञान में ही रत हैं-लगे रहते हैं ( ते ) वे ( ततः भूयः-इव तमः ) उससे भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश करते हैं ॥ १२ ॥

( विद्यायाः ) ज्ञान से ( अन्यत्-एव ) अन्य ही फल (आहुः) कहते है ( अविद्यायाः ) कर्म से ( अन्यत्-एव ) अन्य ही फल ( आहुः ) कहते हैं ( इति ) ऐसा कथन ( धीराणां शुश्रुम ) धीर-ध्यानी विद्वानों का सुनते हैं ( ये ) जो ( नः ) हमें ( तत् ) उस कथन का ( विचचक्षिरे ) व्याख्यान करते थे ॥ १३ ॥

( यः ) जो मनुष्य ( विद्यां च अविद्या च तत्-उभयं सह वेद ) ज्ञान और कर्म दोनों को साथ साथ जानता है। वह ( अविद्यया ) कर्म से ( मृत्युं तीर्त्वा ) मृत्यु को तर कर ( विद्यया ) ज्ञान से ( अमृतम्-अश्नुते ) अमृत को प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

यहां १२ वें मन्त्र में जो अविद्या-कर्म की उपासना से घने अन्धेरे में प्रवेश होता और विद्या-ज्ञान की उपासना से उससे भी अधिक घने अन्धेरे में प्रवेश करना कहा गया है वह अकेले अकेले के सेवन करने का फल कहा गया है क्योंकि १४वें मन्त्र में दोनों को साथ साथ जानने का फल गिरना नहीं किन्तु

---

‡ अविद्या न विद्या, विद्या-ज्ञान, पूर्व की भांति ज्ञान से भिन्न ज्ञान जैसा अर्थ हुआ। ज्ञान है आत्मा का गुण "इच्छा द्वेषप्रयत्न सुख दुख ज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम्" (न्याय १ । १ । १०) ज्ञान का सहयोगी प्रयत्न है लोक में कर्म हुआ। उपनिषद् में भी ज्ञान कर्म का सहयोग दर्शाया है "विद्याकर्मणी समन्वारमेत" ( बृहदारण्यक ४ । ४ । २ )

मृत्यु को तरना और अमृत को पाना उत्कृष्ट फल बताया है इसके अलग अलग सेवन से उत्कृष्ट फल नहीं मिलता किन्तु गिरना ही होता है। एक मनुष्य केवल कर्म-ज्ञानशून्य कर्म कर रहा है विना सोचे समझे चल रहा है-कहां जाना है क्यों जाना है और किस मार्ग से तथा किन साधनों से जाना चाहिए इत्यादि ज्ञान से रहित हो चला जा रहा है तब निःसन्देह वह घने अन्धकार में प्रवेश करेगा अवश्य ही कहीं न कहीं किसी न किसी दुर्गन्ध स्थान वन जगल में गर्त में खड में जा गिरता ही है और दूसरा मनुष्य कर्मशून्य ज्ञान में रत है घर में बैठा बैठा मन में तर्क वितर्क करता, सोचता ही रहता है कर्म कुछ भी नहीं करता है धीरे धीरे प्रकृति उसके मस्तिष्क को निर्वल निःसत्व बना देती है-सोचते सोचते उसका मस्तिष्क जड बन जाता है चिरकालीन चेतना रहित या उन्मत बन जाता है इस प्रकार यह पहिले से भी अधिक घने अन्धकार में प्रवेश कर जाता है। फल दोनों का भिन्न-भिन्न हैं, अलग अलग सेवन करने पर भी और मिला कर सेवन करने पर भी यह बात १३ वें मन्त्र में कही है १४ वें मन्त्र में फल दोनों का साथ साथ सेवन करने का उठना दर्शाया है कि अविद्या-कर्म के सेवन का फल तो मृत्यु का तरना और विद्या-ज्ञान के सेवन का फल अमृत का पाना है। यह फल अध्यात्म जीवन के होने से यहा विद्या-ज्ञान भी अध्यात्म ज्ञान-परमात्म ज्ञान है। इस प्रकार अध्यात्म कर्म अष्टाङ्ग योगाभ्यास से मृत्यु को तरना मरण प्रबन्ध बन्धन को तरना और अध्यात्म ज्ञान-परमात्म ज्ञान से अमृत अमर पद-मोक्ष को पाना बनता है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳशरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥ १५ ॥

( वायुः ) बाह्य वायु ( अनिलम् ) आन्तरिक वायु अर्थात् प्राणशक्ति को धारण करता है। और वह: ( अमृतम् ) मरण धर्म रहित अमर जीवात्मा को धारण करता है ( अथ ) अनन्तर ऐसा संगठन न रहने पर किसी एक का भी अभाव हो जाने पर ( शरीरं भस्मान्तम् ) शरीर भस्मान्त है—भस्म अर्थात् नाश हो जाना है अन्त में जिसका ऐसा नश्वर है। अतः ( क्रतो ) हे क्रियाशील एवं प्रज्ञावान्† जीव ! तू ( ओ३म् स्मर ) ओ३म् का स्मरण कर ( क्लिवे स्मर ) अपने सामर्थ्य के निमित स्मरण कर–अपने को समझ ( कृतं स्मर ) किए हुए और कर्त्तव्य का भी स्मरण कर‡ ॥ १५ ॥

अग्ने नयं सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् । युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठां ते नम उक्तिं विधेम ॥ १६ ॥

( अग्ने देव ) हे अग्रणायक ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! तू ( विश्वानि वयुनानि विद्वान् ) समस्त प्रज्ञानों–चलने के उपायो मार्गदिशाओं को जानने वाला है। अतः ( अस्मान् ) हमें ( राये ) जीवनैश्वर्य एवं मोक्ष–सम्पत्ति के लिए ( सुपथा ) सुमार्ग से ( नय ) ले चल, तथा ( अस्मत् ) हमारे से ( जुहुराणम्–एनः ) कुटिल या अनुचित पाप एवं त्रुटि को

---

† "क्रतुः कर्मनाम" (निघं० २।१) "क्रतुः प्रज्ञाननाम" (निघ० ३ ९) छान्दसो मतुब्लोपः ।

‡ इसका विशेष अर्थ और विवरण देखो हमारी "उपनिषद् सुधासार" पुस्तक के अन्तर्गत कठोपनिषद् की भूमिका में, यह मन्त्र कठोपनिषद् का मूल है अतः एव विस्तृत अर्थ वहां किया है।

( युयोधि ) अलग करदे ( ते ) तेरे लिए ( भूयिष्ठां नमः-उक्तिं विधेम ) बहुत बहुत नमन उक्ति-नम्र स्तुति समर्पित करते हैं ॥ १६ ॥

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
योऽसावादित्ये पुरुषः सोऽसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म ॥ १७ ॥

( हिरण्मयेन पात्रेण ) सुनहरे चमकीले पात्रसमान सूर्य जो संसार को स्वप्रकाश देने से मार्ग दर्शक बना हुआ है इसके द्वारा ( सत्यस्य मुखम्-अपिहितम् ) सत्य स्वरूप सत्य ज्ञानप्रकाश स्वरूप सत्यमार्गदर्शक का स्वरूप ढका गया है इसके बाह्यरूप से वह ढका गया है। परन्तु ( आदित्ये-यः-असौ पुरुषः ) सूर्य में जो वह पूर्ण पुरुष है उसे पूरित किए हुए उसमें व्यापे हुए हैं जिसके व्यापने से वह प्रकाश-मान तथा संसार का मार्गदर्शक बना हुआ है ( सः-असौ-अहम्-ओ३म् खं ब्रह्म ) सो वह पुरुष मैं ओ३म् नाम से प्रसिद्ध व्यापक ब्रह्म हूँ तू यह जान ॥ १७ ॥

---

# ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १९

ऋषिः—काण्वो मेधातिथिः ["कण्वः—मेधाविनाम" ( निघं० ३।१५ ) "कण शब्दे" ( भ्वादि० ) "कण गतौ" ( भ्वादि० ) मेधावी वक्ता ज्ञानी प्रगतिशील का पुत्र शिष्य अधिक मेधावी वक्ता ज्ञानी प्रगतिशील जो मेधा से प्रचार करने वाला "मेधृ मेधायाम्" ( भ्वादि० ) मेध+अच् मेधश्चासौ अतिथिश्च ]

देवता—अग्निर्मरुतश्च ( अग्नि और मरुत्तर )

इस सूत्र के प्रथम और नवम मन्त्र निरुक्त में व्याख्यात हैं। वहां इस सूक्त में आए अग्नि को मध्यस्थानी देवों में पढ कर मध्यम देव बतलाया है पार्थिव अग्नि नहीं किन्तु विद्युत्-अग्नि "कमन्यं मध्यमाद्देवमवक्ष्यन्" ( निरु० १०।३६ ) अतः सूक्त-व्याख्या विद्युत् सम्बन्धी वृष्टिविज्ञानपरक "वर्षकामेष्टिः कारीरी" ( विनियोगः ) तथा "मनुष्यवद्देवताभिधानम्" ( निरु० ११२ ) के अनुसार द्युस्थान देवताओं के गुणवर्णन ब्राह्मणों-विद्वानों के लिए मध्यस्थानी देवताओं के गुणवर्णन क्षत्रियों के लिए होने से राजनैतिक वर्णन राज्यशासनविधान युद्धविज्ञान का है।

प्रति त्यं चारुमध्वरं गोपीथाय प्र हूयसे ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥१॥

( अग्ने त्यं चारुम्-अध्वरं प्रति ) हे मध्यस्थानीय विद्युत् ! उस मध्यस्थानीय [ न कि इस पृथिवीस्थानीय ] चरणशील†

---

† "चारुः अङ्गवैकल्यरहितः" [ सायणः ]

वृष्टिरूप यज्ञ को लक्षित कर "प्रति-लक्ष्यीकृत्य-लक्षणेत्थम्भूत० इति लक्षणार्थेऽत्र प्रति"‡ ( गोपीथाय प्र हूयसे ) सोमपान के लिए "गोपीथाय सोमपानाय" [ निरु० १०।३६]+ तू भी सोम-वृत्र-मेघ के पान करने के लिए 'वृत्रो वै सोमः" [ श० ३।४।३।१३ ] उस सोम्य रस जल का पान करना हम मनुष्यों को भी कराना-इस लिए प्रशंसित की जाती है या मध्यस्थान में प्रकट की जाती है ( मरुद्भिः-आ गहि ) मरुतों-वातस्तरों के साथ प्राप्त हो ॥ १ ॥

नहि देवो न मर्त्यो महस्तव क्रतुं परः ।
मरुद्भिरग्न आ गहि ॥२॥

( अग्ने महः-तव क्रतुं परः-न हि देवः- न मर्त्यः ) हे मध्यस्थानीय विद्युत् ! तेरे महान् महत्त्वपूर्ण कर्म-वृष्टिकर्म "क्रतुः कर्मनाम" [ निघं० २।१ ] को करने वाला या बाधने वाला† न ही देव - द्युस्थान का पदार्थ पर - अन्य× सूर्य है और न मर्त्यः-पृथिवीस्थान का पदार्थ पार्थिव अग्नि है ( मरुद्भिः-आ गहि ) मध्यस्थानीय वातस्तरों के साथ प्राप्त हो ॥ २ ॥

ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥३॥

---

‡ "प्रतिलभ्य" [ सायणः ]

+ "स एष सोमोऽजस्रो यद् गौः" ( श० ७।५।२।१९ )

† "कर्मविशेषमुल्लङ्घ्य" [ सायणः ]

× "उत्कृष्टः" सायणः

( ये-अद्रुहः-विश्वे देवासः महः-रजसः-विदुः ) जो परस्पर द्रोह न करने वाले-परस्पर शृङ्खलित रहने वाले विश्व देव-ऋतुएं हैं वर्षा ऋतु के अवयव हैं "ऋतवो वै विश्वे देवाः" [ शत ७।१।१।४३ ] ऋतु रूप वातस्तर हैं महान् अन्तरिक्ष को प्राप्त किए हुए हैं उन ( मरुद्भिः-अग्ने-आगहि )† महान् जल को प्राप्त हुए हैं मध्य स्थानीय विद्युत् वातस्तरों के साथ प्राप्त हो ॥ ३ ॥

य उग्रा अर्कमानृचुरनाधृष्टास ओजसा ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥४॥

( ये-उग्राः-अनाधृष्टासः-ओजसा-अकर्म-आनृचुः ) जिन तीक्ष्ण ग्रीष्मकालीन न दबाई जाने वाले मरुतों में-वातस्तरो में बल से अर्क-सूक्ष्म जलों का अर्चित किया है "आपो वै अर्कः" ( शत० १०।६।५।२ ) ( अग्ने मरुद्भि आगहि ) विद्युत् उन मरुतों-वातस्तरो के साथ प्राप्त हो ॥ ४ ॥

ये शुभ्रा घोरवर्पसः सुक्षत्रासो रिशादसः ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥५॥

( ये शुभ्राः-घोरवर्पसः सुक्षत्रासः-रिशादसः ) जो मरुत वातस्तर निर्मल-घोररूप वाले-ग्रीष्मकालीन वायु स्तर "वर्पः रूपनाम" ( निघ० ३।७ ) अच्छे जल वालें" "क्षत्रमुदकनाम ( निघ० १।१२ ) ( रिशादसः ) हिंसक दुष्काल आदि

---

† जैसा अन्यत्र वेद में कहा है "उदीरयथा मरुतः' समुद्रतो यूयं वृष्टिं वर्षयथा पुरीषिणः" ( ऋ० ५ । ५५ । ५ ) वृष्टि वाले मांसून समुद्र से जल वाली होकर वृष्टि वर्षाती हैं ।

को नष्ट करने वाले हैं उन मरुतो वातस्तरों के साथ प्राप्त हो ॥ ५ ॥

ये नाकस्याधि रोचने दिवि देवास आसते ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥६॥

( ये नाकस्य रोचने-अधि दिवि देवासः-आसते ) जो द्युलोक-नक्षत्र मण्डल के प्रकाशमान ग्रहतारों के समीप देव मरुत वातस्तर हैं ( मरुद्भिरग्नआगहि ) उन मरुतोंवातस्तरों के साथ अग्नि प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

य ईङ्खयन्ति पर्वतान् तिरः समुद्रमर्णवम् ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥७॥

( ये पर्वतान्-ईङ्खयन्ति ) जो मरुत वातस्तर मेघो को "पर्वत मेघनाम" ( निघ० १।१० ) आन्दोलित कर देते हैं । ( अर्णवं समुद्रं तिरः ) जल वाले सूक्ष्म जलमय "अर्ण उदक-नाम" ( निघ० १।१२ ) अन्तरिक्ष को "समुद्रः अन्तरिक्ष नाम" ( निघ० १।३ ) ( तिरः ) परिभूत करते हैं स्वाधीन करते है "तिर॰ परिभवे" ( अव्ययार्थनिबन्धनम् ) उन ( मरुद्भिरग्ने-आगहि ) वातस्तरों के साथ प्राप्त हो ॥७॥

आ ये तन्वन्ति रश्मिभिस्तिरः समुद्रमोजसा ।
मरुद्भिरग्न आगहि ॥८॥

( अग्ने ये रश्मिभिः-आतन्वन्ति ) हे विद्युत् जो वातस्तर सूर्य रश्मियों द्वारा प्राप्त जलांशों से अपने को पूरित कर लेते हैं ( ओजसा समुद्रं तिरः ) जो सूर्य रश्मियों से

अपने प्रखर ताप से समुद्र को परिभव करता है (अग्ने मरुद्भिः-आगहि ) हे विद्युत्: तू उन वातस्तरों के साथ प्राप्त हो ॥८॥

अभि त्वा पूर्वपीतये सृजामि सोम्यं मधु ।

मरुद्भिरग्न आगहि ॥९॥

( पूर्वपीतये सोम्यं मधु त्वा-अभि सृजामि ) हे विद्युत् प्रथम पान के लिए सोममय मधु-मधुर रस-मेघ सम्पादित करता हूँ ( अग्नेः मरुद्भिः-आगहि ) विद्युत् तू वातस्तरों के साथ प्राप्त हो ॥९॥

विद्युत् और मरुतों-वातस्तरो के द्वारा वृष्टि होती है जब विद्युत् वातस्तरों से युक्त हो, तो अकेली विद्युत् से नहीं जब वातस्तर विद्युत् से युक्त हों, अकेले वातस्तरो से नहीं विद्युत् और वातस्तरों का मेल होता है सूक्ष्म जल कणों द्वारा, सूक्ष्म जल कण आकाश में सम्पन्न होते हैं यहां सूक्त में बतलाए विद्युत् , और वातस्तरों के योग से तथा सोम आदि ओषधियां मिष्ट पुष्ट मधुर आदि पदार्थों के होम से "दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वम्" ( ऋ० ५।८३।६ ) "मरुतो वै वर्षस्येशते" ( शत० ९।१।२।५। "विद्युद्धीदं वृष्टिमन्नाद्यं सम्प्रयच्छति" ( ऐत २।४१ )

आधिभौतिक अर्थ—

राजा और राजपुरुषों के मेल से राष्ट्रसंचालन सुख-वृष्टि होना सम्भव है मरुत राजपुरुष हैं "असौ या सेना मरुतः परेषाम-स्मानेत्यभ्योजसा स्पर्द्धमाना । तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्योऽन्यं न जानात्" ॥ ( अथर्व० ३।२।६ )

( अग्ने त्वं चारुमध्वरं प्रति ) हे अग्रणायक भावी राजन् राजकुमार ! उस आगे प्रवर्तमान होने वाले सुखपूर्ण राज्य

शासनरूप राजसूय यज्ञ को लक्षित कर ( गोपीथाय प्रहूयसे ) सोमपान के लिए प्रशंसित किया जाता है सम्मान पूर्वक आमन्त्रित किया जाता है राजा का पान सोम है सुरा नहीं अन्यत्र भी वेद में कहा है "विशां पतिः सोमपा अभयङ्करः" ( मरुद्भिः-आगहि ) निजी राज पुरुषों सभ्यों और रक्षकों के साथ-सैनिकों के साथ यहां राजसूय यज्ञ में प्राप्त हो ॥१॥

( अग्ने तव महः क्रतुं परः-देवाः-नहि मर्त्यः ) हे युवराज ! तुझ महान् महत्वपूर्ण गुणवान् के क्रतु-राजशासन कर्म को न पर-अन्य देव ऊँचा विद्वान् ऋषि महात्मा और न साधारण मनुष्य "मर्त्यः मनुष्यनाम" ( निघ० २ । ३ ) करने या वाधित करने वाला अप्रशंसित करने वाला किन्तु प्रत्येक विद्वान् और जन साधारण बढावा देने वाला और प्रशंसा करने वाला है ( मरुद्भिः-आगहि ) अपने सभ्यों अङ्गरक्षकों सैनिकों के साथ इस शासनपद को प्राप्त हो ॥२॥

( ये अद्रुहः-विश्वे देवासः-महः-रजसः-विदुः ) जो द्रोह न करने वाले ऐसे प्रजा के प्रति तथा परस्पर भी द्रोह न करने वाले सारे विद्वान् सभी वर्गों के विद्वान् सभी प्रजाओं से लिए जन "विशो विश्वेदेवाः" ( शत० ५।५।१।१०। राजपुरुष जो इस महान् रञ्जन कारक लोक राष्ट्र को राष्ट्र निर्माण को जानते हैं इसमें प्राप्त हैं, उन (अग्ने मरुद्भिः-आगहि) युवराज ! राजपुरुषों के साथ शासन पद को प्राप्त हो ॥३॥

( अग्ने-ये-उग्राः-अनाधृष्टाः-ओजसा-अर्कम्-आनृचुः ) हे राजन् ! जिन तेजस्वी न दवाए जाने वाले अपने बल से अर्क-वज्र-शस्त्रास्त्र की "अर्कः-वज्रनाम" ( निघ० २।२०। ) साधा हुआ धारण किया हुआ है उन ( मरुद्भिः-आगहि )

राज पुरुषों सैनिकों के साथ इस राजपद पर तू प्राप्त हो ॥४॥

( ये शुभ्राः–घोरवर्पसः सुक्षत्रासः–रिशादसः ) जो प्रकाशमान प्रतापी घोररूप वाले प्रभावशाली उत्तम उचित त्राण करने वाले क्षत्रियत्व के अभिमानी पीडकों का मर्दन करने वाले हैं, उन (अग्ने मरुद्भिः–आगहि) राजन्! राजपुरुषों सैनिकों के साथ राज पद को प्राप्त हों ॥५॥

( अग्ने ये नाकस्य रोचने दिवि देवासः–आसते ) जो सांसारिक दुःख से रहित सर्वदा सुखपूर्ण स्थान के ज्ञान प्रकाशक ज्ञान सदन में विद्वान् बैठते हैं, उन ( मरुद्भिः–आगहि ) राजगुरुओं राजपुरोहितो के साथ इस राज पद को प्राप्त हो ॥६॥

( ये पर्वतान्–ईङ्खयन्ति ) जो सैनिक पर्वतों को झुला देते हैं आवश्यकता पडने पर मार्ग बना कर पार कर लेते हैं ( अर्णवं समुद्रं तिरः ) जलवाले समुद्र अन्तरिक्ष को परिभूत करलेते हैं यथावसर उसमें भी गमन करते तथा वर्षा करा रिक्त कर देते हैं ( अग्ने मरुद्भिः–आगहि ) राजन्! उन ऐसे मरुतें वैज्ञानिक सैनिकों के साथ प्राप्त हो ॥७॥

( ये ओजसा ) जो मस्तिष्कशक्ति से–विज्ञान से ( समुद्रं तिरः ) समुद्र पार्थिव जल समुद्र को परिभूत कर ( रश्मिभिः–आतन्वन्ति ) सूर्यकिरणों से सौर अस्त्रों से ऊपर फैला देते हैं'–भाप बना देते हैं, उन (अग्ने मरुद्भिः–आगहि) हे राजन् अस्त्रचालक सैनिको के साथ राज पद को प्राप्त हो ॥८॥

( अग्ने पूर्वपीतये सोम्यं मधु–अभि सृजामि ) हे युवराज! प्रथम सोमपान सोम आदि ओषधियों का रस मधु मिष्ट

पुष्ट पदार्थों से मिला तेरे पीने को मैं पुरोहित तैयार करता हूँ पीकर राजशासक पदका अभिमान कर ( मरुद्भिः-आगहि ) राज पुरुषों के साथ राज पद को प्राप्त हो ॥९॥

सोम आदि ओषधियों का प्रत्यग्र रसपान मधु दूध घृत से संस्कृत राजा को पान करने से इस में आत्मिक ओज मानसिक तेज शारीरिक बल प्राप्त होता है राजपुरुषों के साथ राज्य शासन करने में पूर्ण समर्थ होता है ।

---

# ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त २५

ऋषिः—आजीगर्तः शुनः शेपः ( इन्द्रियभोगों की दौड में शरीर-गर्त में गिरा हुआ विषयलोलुप महानुभाव )

देवता—वरुणः ( वरने योग्य और वरने वाला परमात्मा )

यच्चिद्धि ते विशो यथा प्र देव वरुण व्रतम् ।
मिनीमसि द्यविद्यवि ॥ १ ॥

( वरुण देव ते व्रतं यत्-चित्-हि विशः-यथा ) हे वरुण वरने वाले वरने योग्य परमात्मदेव ! तेरे व्रत-सदाचरणविधान को 'यत्-चित्' यदाचित्-जब कभी अज्ञान से या जानबूझ कर प्रजाओं की भांति 'जैसे किसी राजा की प्रजाएं अज्ञान या जानबूझ कर राजशासन-राजविधान को' ( द्यवि द्यवि प्रमिनीमसि ) दिन-दिन-आये दिन "द्यविद्यवि-अहर्नाम" ( निघ० १ । ६ ) हम हिंसित करते हैं-भङ्ग करते हैं या करें तो उस विषय में राजा के समान अज्ञानवश नियमभङ्गी पर करुणा करने और जानबूझ कर नियमभङ्गी को दण्ड देने का तेरा अधिकार है यह यहाँ आकांक्षा है ॥ १ ॥

हाँ यह प्रार्थना है—

मा नो वधाय हत्नवे जिहीळानस्य रीरधः ।
मा हृणानस्य मन्यवे ॥ २ ॥

( जिहीडानस्य वधाय हत्नवे नः-मा रीरधः ) अनादर करने वाले के वधार्थ घातार्थ 'कृहनिभ्यां क्त्नुः' ( उणा० ३ । २६ )

भाव में क्त्तु "हत्नवे हननकरणाय" [दयानन्दः] हमें मत संसिद्ध करो-तैयार करो-प्रेरित करो ( हृणानस्य मन्यवे मा ) हमारे प्रति अपराध पर लज्जित होते हुए पर क्रोध के लिये हमें मत प्रेरित करो। मनुष्य में यह त्रुटि है कि अपने अनादर पर अन्यों को मारने आघात पहुँचाने पर तैयार हो जाता है परन्तु अनादर कोई गहन पाप या अपराध नहीं विद्वान् जन तो अनादर को अमृत मानते हैं "सम्मानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येन चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा ॥" [ मनु० २।१२] फिर उसके वधकरनेघातकरने का विचार तुच्छ है-इस प्रकार पाप या अपराध पर लज्जित होने वाले पश्चात्ताप करने वाले पर क्रोध करना भी अच्छा नहीं है ॥ २ ॥

यह ठीक है अज्ञानकृत पापों के कारण हम पर करुणा करना और जानबूझ कर पापकर्मों के कारण हमें दण्ड देना तेरा अधिकार है साथ ही किसी के द्वारा किये गये अनादर पर वध की भावना तथा स्वकृत पाप-अपराध पर लज्जित हुए के ऊपर क्रोध करना हमारा काम नहीं है हम इन सब दोषों से बचें इन्हें करने के लिये मन को हम अवसर न दें अपितु हम अपने मन को—

वि मृ॒ळी॒काय॑ ते॒ मनो॑ र॒थीरश्वं॒ न सन्दि॑तम् ।
गी॒र्भिर्व॑रुण सीमहि ॥ ३ ॥

( वरुण ते मृलीकाय ) हे वरने योग्य वरने वाले परमात्मन् ! तुझ सुखस्वरूप आनन्दरूप के लिये-तुझे पाने के लिये तेरी ओर चलने के लिये ( रथीः सन्दितम्-अश्वं न ) रथस्वामी से खण्डित थकान से चूर चूर हुये-घबराये हुए चञ्चल घोड़े को "सन्दितं सम्यग्बलावखण्डितम्" [ दयानन्दः ] अनेक उपचारों

से बान्धता है ऐसे ही ( मनः-गीर्भिः-विसीमहि ) हम अपने चञ्चल मन को तेरी गुणस्तुतियों के द्वारा विशेष रूप से बान्धते हैं जिससे तेरे व्रत सदाचरणविधान का उल्लङ्घन और अन्यों के प्रति अन्यथाचरण का सेवन न कर सकें अपितु तेरे गुण-स्तवन में संलग्न रहें ।। ३ ।।

परा हि मे विमन्यवः पतन्ति वस्यइष्टये ।
वयो न वसतीरुप ।। ४ ।।

( मे विमन्यवः ) वरुण परमात्मन् ! मेरी विविध मान्यताएं-मेरे विविध विचार† ( वस्यः-इष्टये ) अतिशयित धन की इष्टि-प्राप्ति तथा अतिशयित वास की इष्टि-प्राप्ति के लिये ( हि ) निश्चय ( परा-उप पतन्ति ) 'परा पतन्ति, उप पतन्ति' तुझ से परे संसार में धन प्राप्ति के लिये भी पतन करती हैं और तुझ अपने घर की ओर भी वास प्राप्ति के लिये पतन करते हैं ( वयः-न वसतीः ) जैसे पक्षी अपने घर से परे वन जङ्गल गगन में अन्न भोजन की प्राप्ति के लिये पतन करते हैं उडान करते हैं और वासप्राप्ति के लिये अपने वासस्थलियों घोसलों की ओर भी पतन करते हैं-उडान लेते हैं अतः वरुण परमात्मन् ! मेरे विचारों का वास स्थान तू ही है तेरे प्रति मेरे विचार गमन करें-उडान भरें यह यहां आकांक्षा है ।। ४ ।।

कदा क्षत्रश्रियं नरमा वरुणं करामहे ।
मृळीकायोरुचक्षसम् ।। ५ ।।

( मृलीकाय-उरुचक्षसं वरुणम् ) सुख तथा आनन्द के लिये लौकिक सुखप्राप्ति और मोक्षानन्द की प्राप्ति के लिये महान्

† "विमन्यवः क्रोधरहिता बुद्धयः" [ सायणः ]

द्रष्टा–उदार द्रष्टा सर्वज्ञ वरुण परमात्मा को (कदा क्षत्रश्रियं नरम्-आकरामहे ) कब हम क्षत्र–राष्ट्र का श्रयण कर्ता क्षत्रपति "क्षत्रं श्रयति क्षत्रश्रीः-तम्" "क्षत्रं हि राष्ट्रम्" [ऐ० ७।२२] राष्ट्रपति नर–नेता को अङ्गीकार करें या समन्त रूप से करें–बनावें ऐसा सुअवसर जीवन में कब आवेगा शीघ्र आवे -अभी आवे जिसके आश्रय लौकिक सुख–अभ्युदय और निःश्रेयस–अध्यात्म आनन्द–मोक्षानन्द प्राप्त कर सकें ॥ ५ ॥

तदित्समानमाशाते वेनन्ता न प्र युच्छतः ।
धृतव्रताय दाशुषे ॥ ६ ॥

( धृतव्रताय दाशुषे ) धारण कर लिया व्रत–सदाचरण जिसने ऐसे सदाचारानुष्ठानी तथा उस वरुण परमात्मा के प्रति अपना प्रदान समर्पण कर चुके हुए उपासक के लिये ( वेनन्ता तत्–इत् समानम्–आशाते ) वरुण परमात्मा के राष्ट्रपतित्व में दोनों कमनीय यह लोक और मोक्षधाम अभ्युदय और निःश्रेयस "वेनति कान्तिकर्मा"[निघ० २।६] "कर्मणि कर्तृप्रत्ययश्छान्दसः-कृतो बहुलमिति वा" समान भाव से 'आशयतः' [ अन्तर्गत-णिजर्थः ] भोग कराते हैं ( न प्रयुच्छतः ) कभी भी अपने अपने फल प्रदान से प्रमाद नहीं करते हैं ॥ ६ ॥

वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम् ।
वेद नावः समुद्रियः ॥ ७ ॥

( यः-वीनाम्–अन्तरिक्षेण पतताम् पदं वेद ) जो आकाश में से गमन करते हुए सूर्य चन्द्र मङ्गल बुध आदि गतिशील पिण्डों के गमन योग्य स्थान मार्ग को जानता है ( समुद्रियः-नावः-वेद) समुद्र में होने वाली नावों–नाव सदृश प्राणियों मछली आदियों

को जानता है वह सर्वज्ञाता सर्वाधिकर्ता वरुण परमात्मा है। तथा ( यः-अन्तरिक्षेण पततां वीनां पदं वेद ) जो आकाश में से उडान करते हुए पक्षी समान विमानों के स्वरूप को जानता है ( समुद्रियः-नावः-वेद ) और समुद्र में चलने वाली नौकाओं को जानता है अधिकार किये हुए है वह नृअर्थी-राष्ट्रपति हुआ करता है। तथा ( यः-अन्तरिक्षेण पततां वीनां पदं वेद ) जो आकाश में उडते हुए पक्षियों के स्वरूप को जानता है वह ( समुद्रियः-नावः-वेद ) समुद्र अन्तरिक्ष सम्बन्धी "समुद्रम्-अन्तरिक्षम्" [ निघ० १। ३ ] नाना विमानों-आकाशयानों हवाई जहाजों के स्वरूप को जानता है वह ऐसा शिल्पी-मनीषी वरण करने योग्य है ॥ ७ ॥

वेद मासो धृतव्रतो द्वादश प्रजावतः।
वेदा य उपजायते ॥ ८ ॥

( यः-धृतव्रतः ) जो धारण किये संसार नियमों को है वह वरुण परमात्मा या ज्योतिर्वित् राष्ट्रपति है ( प्रजावतः-द्वादश-मासः-वेद ) प्रजावाले-प्राणि प्रजाओं के उत्पादक जीवन के आधार बारह मास चैत्र आदि को जानता है (यः-उपजायते वेद) जो ऊपर तेरहवां मास-अधिमास है उसे भी जानता है अपने अधिकार में रखता है वह वरुण परमात्मा है वह ज्योतिर्वित् भी वरने योग्य है ॥ ८ ॥

वेद वातस्य वर्तनिमुरोर्ऋष्वस्य बृहतः।
वेदा ये अध्यासते ॥ ९ ॥

( उरोः-ऋष्वस्य बृहतः-वातस्य वर्तनि वेद ) वरुण परमात्मा विस्तृत गतिशील महान् व्योमचारी वायु के मार्ग को जानता है

स्वाधीन रखता है ( ये-अध्यास ते वेद ) जो गगन चारी वायु के आधीन होकर ग्रह नक्षत्र रहते हैं उन्हें भी वह जानता है अपने अधिकार में रखता है ऐसा वह वरुण परमात्मा है जानने वाला ज्योतिर्वित् और राष्ट्रपति वरने योग्य है ॥ ६ ॥

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्याऽस्वा ।

साम्राज्याय सुक्रतुः ॥ १० ॥

( धृतव्रतः सुक्रतुः ) वरुण धारण सेवन किये हुए है व्रत-सृष्टि-नियम एवं राष्ट्र सञ्चालन नियम, ऐसा यथावत् कर्ता वरुण परमात्मा या राष्ट्रपति ( साम्राज्याय पस्त्यासु—आनिषसाद ) वह वरुण परमात्मा जीवरूप प्रजाओं में नियतरूप राजपद पर "विशो वै पस्त्याः" ( शत० ५ । ३ । ५ । १६ ) प्रजाओं में समान रूप से विराजमान है तथा राष्ट्रपति भी ऐसा होने पर मनुष्य प्रजाओं में विराजमान होता है ॥ १० ॥

अतोविश्वान्यद्भुता चिकित्वाँ अभिपश्यति ।

कृतानि या च कर्त्वा ॥ ११ ॥

( अतः—या कृतानि कर्त्वा च विश्वा अद्भुता चिकित्वान्—अभिपश्यति ) अतः वरुण परमात्मा समस्त अद्भुतो अवर्तमानों को जानने वाला जो कृत हो चुके हैं और जो कर्तव्य किये जाने वाले हैं उन सबको साक्षात् देखता है वरुण परमात्मा सर्वत्र है। वरण करने योग्य राष्ट्रपति भी भूत भविष्य पर दृष्टिपात रखने वाला होना चाहिए ॥ ११ ॥

स नो विश्वाहा सुक्रतुरादित्यः सुपथा करत् ।

प्रण आयूंषि तारिषत् ॥ १२ ॥

( सः–आदित्यः ) वह अदिति–अखण्डसुख सम्पति का स्वामी वरुण परमात्मा ( नः–विश्वाहा सुपथा करत् ) हमारे जीवन के समस्त दिनों को अच्छे मार्ग वाले करे–कुमार्गों से बचावे (नः–आयूंषि प्रतारिषत् ) हमारी आयुओं को जीवनीय शक्ति को बढ़ावें ॥ १२ ॥

बिभ्रद्द्रापिं हिरण्ययं वरुणो वस्त निर्णिजम् ।
परि स्पशो नि षेदिरे ॥ १३ ॥

( वरुणः–हिरण्यं द्रापिं बिभ्रत् ) वरुण परमात्मा सुनहरे चमकीले जगद्रूप कवच को धारण करता हुआ सा (निर्णिजं वस्त ) जिसके अन्दर अपने रूप को आच्छादित करता है "निर्णिग्रूपनाम" ( निघ० ३ । ७ ) ( स्पशः परिनिषेदिरे ) "हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्" उसके स्पर्श करने वाले उपासक सर्वत्र समीपता से विराजमान होते हैं ॥ १३ ॥

न यं दिप्सन्ति दिप्सवो न द्रुह्वाणो जनानाम् ।
न देवमभिमातयः ॥ १४ ॥

( यं दिप्सवः–न दिप्सन्ति ) दम्भन–हिंसन के इच्छुक जन जिस वरुण परमात्मा को दम्भित करने की इच्छा नहीं कर सकते हैं ( जनानां द्रुह्वाणः–न ) और जनों के प्रति द्रोह करने वाले भी जिसके प्रति द्रोह नहीं कर सकते ( देवम्–अभिमातयः–न ) उस दिव्य शक्तिमान् को अभिमानी जन भी विरोध नहीं कर सकते हैं वह सबका वरुण वरने योग्य परमात्मा है ऐसा राजा भी वरने योग्य है ॥ १४ ॥

उत यो मानुषेष्वा यशश्चक्रे असाम्या ।
अस्माकमुदरेष्वा ॥ १५ ॥

( उत-यः-मानुषेषु-आसमि यशः-आचक्रे ) अपितु जो वरुण परमात्मा मनुष्यों के उपयोगी पशुओं के निमित्त यशः-अन्नभोजन घास असामि-पूर्ण भरपूर समन्त रूप से उत्पन्न करता है "यशः-अन्न नाम" ( निघ० २ । ७ ) ( अस्माकं-उदरेषु-आ ) हमारे उदरों के निमित्त भी पूर्ण अन्न समन्त रूप से उत्पन्न करता है वह हमारा वरुण परमात्मा है तथा हमारे लिये हमारे पशुओं के लिये अन्नव्यवस्था करने वाला वरणीय राष्ट्रपति है ॥१५॥

परा मे यन्ति धीतयो गावो न गव्यूतीरनु ।
इच्छन्तीरुरुचक्षसम् ॥ १६ ॥

( मे धीतयः-उरुचक्षसम्-इच्छन्तीः परायन्ति ) मेरी ध्यान वृत्तियां महान् द्रष्टा अथवा बहुदर्शनीय वरुण परमात्मा को चाहती हुई अन्य विषयों से पराङ्मुख होती जाती हैं किन्तु उसी वरुण परमात्मा में विश्राम पाती हैं (गावः-गव्यूतीः-अनु) गौएं जैसे अपने गोस्थलियों की ओर चली जाती हैं विश्रामार्थ अन्य भ्रमण चरण से पराङ्मुख होकर वह ऐसा वरुण परमात्मा है ॥ १६ ॥

सं नु वोचावहै पुनर्यतो मे मध्वाभृतम् ।
होतेव क्षदसे प्रियम् ॥ १७ ॥

(यतः-मे मधु-आभृतम्) जिस कारण वरुण परमात्मा ! तूने मेरे लिये अपना मधु-मधुर दर्शनामृत आभरित किया है । ( नु पुनः संवोचावहै ) अतः हम दोनों तू मेरा वरुण परमात्मा और मैं तेरा उपासक परस्पर संवाद करें तू मुझे ज्ञानामृत दे-सुना, मै तेरा ज्ञानामृत लूँ-सुनूं ( होता-इव क्षदसे प्रियम् ) जैसे होता ऋत्विक् पुरोहित 'सदसे वर्णव्यत्ययेन' यज्ञ में

बैठने वाले यजमान के लिए † प्रिय वचन हित वचन बोलता-प्रदान करता है यजमान सुनता है जो होता है, ऐसे ही अध्यात्म में वरुण परमात्मा ज्ञानामृत देता है उपासक लेता है मानो दोनों का देन लेन संवाद चलता है ॥१७॥

दर्शं नु विश्वदर्शतं दर्शं रथमधि क्षमि ।
एता जुषत मे गिरः ॥ १८ ॥

( विश्वदर्शतं नु दर्शम् ) सब के दर्शन करने योग्य वरुण परमात्मा को हां कभी मोक्ष में मैं देख चुका हूं ( क्षमि रथम्-अधि दर्शम् ) क्षमा-पृथिवी पर भी शरीर-रथ को अधिकृत करके उपासनाद्वारा उसे देख चुका हूँ "दर्शम्, बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि" [ अष्टा० ६।४।७५। ] अडभावो लुङि" ( मे-एताः-गिरः-जुषत ) मेरी इन स्तुतियों को वरुण परमात्मा ने सेवक कर लिया अतः मैंने उसका दर्शन कर लिया है ॥१८॥

इमं मे वरुण श्रुधी हवमद्या च मृळय ।
त्वामवस्युरा चके ॥ १९ ॥

( वरुण मे-इमं हवं श्रुधी ) हे वरुण परमात्मन् ! मेरे इस हव-अभिप्राय को सुन ( अद्य च मृडय ) आज-अभी मुझे अपने दर्शनामृत से सुखी कर ( अवस्युः-त्वाम्-आचके ) रक्षण चाहने वाला तुझे चाहता हूं "आचके कान्तिकर्मा" [ निघ० २।६ ] ॥१९॥

---

† "क्षदसे-अश्नासि" [ सायणः ] इति भ्रान्त्या क्रियापदं मतम् । "अविद्यारोगान्धकार- विनाशकाय बलाय" [ दयानन्दः ]

त्वं विश्वस्य मेधिर दिवश्च ग्मश्च राजसि ।
स यामनि प्रति श्रुधि ॥ २० ॥

( मेधिर त्वं विश्वस्य दिवः-च ग्मः-च राजसि ) हे मेधावी वरुण परमात्मन् ! तू समस्त द्युलोक का पृथिवी का स्वामित्व करता है "अधीगर्थदयेशां कर्मणि-षष्ठी" ( सः-यामनि प्रति श्रुधि ) वह तू समय पर हमारी प्रार्थना को स्वीकार कर ॥२०॥

उदुत्तमं मुमुग्धि नो वि पाशं मध्यमं चृत ।
अवाधमानि जीवसे ॥ २१ ॥

( नः-उत्तमं पाशम्-उद्-मुमुग्धि ) वरुण परमात्मन् ! हमारे कर्मों के कारण जो पाशबन्धन हमारा उत्तम-ऊपर कठिनतम या सात्त्विक कर्म का है अज्ञान से हुआ कारण शरीर का बन्धन उत्तम ढंग से खोल दे ( मध्यमं विचृत ) मध्यम पाश वासनाकृत सूक्ष्म शरीर का बन्धन उसे विशेष ढंग से छेद दे-चीर दे ढीला करके खोल दे ( अधमानि-अव- ) नीच बन्धनों भोगों से स्थूल शरीर के बन्धनों को नीचे से फाड दे उधेड दे ( जीवसे ) आत्मा के यथार्थ जीवन-अमृत जीवन मोक्ष के लिए ॥२१॥

---

## ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त ११५

ऋषिः—कुत्स आङ्गिरसः ( स्तोमों लोकस्तरों का ज्ञान कर्ता अग्नि तत्त्व वेत्ता )

देवता—सूर्यः ।

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्रा द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥१॥

( जगतः-तस्थुषः-आत्मा सूर्यः ) जङ्गम-चर, स्थावर-अचर का आत्मा आत्मभूत सूर्य ( देवानां चित्रम्-अनीकम् ) रश्मियों-किरणों का "देवा उदिता सूर्यस्य" [ ऋ० १ । ११५ । ६ ] चायनीय दर्शनीय समूहरूप पिण्ड ( मित्रस्य वरुणस्य-अग्नेः-चक्षुः ) मित्र-अपने प्रेरण धर्म, वरुण-आकर्षण धर्म "दक्षस्य वादिते जन्मनि मित्रावरुणा विवससि" [ ऋ० १०।६४।५ ] और अग्नि-तापक तत्त्व का ख्यान-द्योतक सूर्य ( उदगात् ) आकाश में उदित होता है ( द्यावापृथिवी अन्तरिक्षम्-आप्राः ) द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष को महत्त्व-महान् प्रकाश गुण से भर देता है ।

जङ्गम स्थावर का आत्मा जड जङ्गम में प्रगतिदायक किरणों का पिण्डित आधार, प्रेरण आकर्षण तापक धर्मों का द्योतक-प्रेरण आकर्षण तापक धर्मयुक्त आकाश में उदय होने वाला आकाशीय पदार्थ सूर्य है यह सूर्य का लक्षण प्रथम मन्त्र में प्रदर्शित है ॥ १ ॥

तथा—

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑माना॒ं मर्यो॒ न योषा॑म॒भ्ये॑ति प॒श्चात् ।
यत्रा॒ नरो॑ देव॒यन्तो॑ यु॒गानि॑ वितन्व॒ते प्रति॑ भ॒द्राय॑ भ॒द्रम् ॥२॥

(सूर्यः-रोचमानाम् उषसं देवीम् अभि एति पश्चात् मर्यः-न योषाम्) वह सूर्य जो कि सुभ्रा उषा देवी प्रातःकाल में आने वाली के पीछे पीछे गति करता है प्राप्त होता है जैसे मनुष्य स्त्री के पीछे पीछे गति करता है (यत्र देवयन्तः नरः-युगानि वितन्वते) जिन विवाह अवसरों पर दिव्य पुत्र चाहते हुए मनुष्य अपने जीवन के युगों कालों का विस्तार करते हैं (भद्राय प्रति भद्रम्) पति पत्नी परस्पर कल्याण के बदले कल्याण को प्राप्त करते हैं। अथवा (यत्र देवयन्तः नरः-युगानि वितन्वते) उषा के पश्चात् जिस सूर्य के प्रतिदिन गमन होने में या सूर्य के आधार पर देवों द्युस्थान के ग्रह नक्षत्रों को चाहते हुए-उनका ज्ञान ज्योतिर्विद्या से चाहते हुए ज्योतिषी जन प्रत्येक ग्रह के युगों कालमानों का विस्तार करते हैं (भद्राय प्रति भद्रम्) इस प्रकार युग काल गणना से परस्परजन एक दूसरे के कल्याण के प्रतीकार में कल्याण करें अर्थात् कल जिसने कल्याण किया उसके लिये आज कल्याण करना चाहिये तथा इस पृथिवी पर अन्न का वपन करे भविष्य में ऋतु पर अन्न प्राप्ति के लिए कालगणना से "अन्नं वै भद्रम्" [तै० १।३।३।६]

सूर्य वह है जो उषा के पीछे आकाश में गति करता आता हुआ दृष्ट होता है तथा जिससे कालमान माना या जाना जाता है तथा ग्रह नक्षत्रों का ज्ञान होता है ऋतु क्रम से अन्नादि की प्राप्ति होती है ॥ २ ॥

भ॒द्रा अश्वा॑ ह॒रितः॒ सूर्य॑स्य चि॒त्रा एत॑ग्वा अनु॒माद्या॑सः ।
नम॒स्यन्तो॑ दि॒व आ पृ॒ष्ठम॑स्थुः॒ परि॒ द्यावा॑पृथि॒वी य॑न्ति स॒द्यः ॥३॥

( सूर्यस्य भद्राः अश्वाः हरितः ) सूर्य के भद्र संसार हित-साधक घोडे हरणशील दोषों रोगों का हरण—अपहरण नाश करने वाले और गुणों लाभों का हरण आहरण करने लाने वाले किरणें हैं "हरितः हरणानादित्यरश्मीन्" [निरु० ४ । १०] ( चित्राः एतग्वाः अनुमाद्यासः ) वे भिन्न भिन्न रङ्ग वाले इस समस्त जगत् को प्राप्त होने वाले अनुमोदन करने वाले और अनुमोदनीय प्रशंसनीय हैं (नमस्यन्तः दिवः पृष्ठम्—आ—अस्थुः) नमते हुए द्युलोक आकाश के ऊपर वर्तमान रहते हैं, परन्तु ( द्यावापृथिवी सद्यः परियन्ति ) द्यावापृथिवीमय द्युलोक से पृथिवीलोक तक के समस्त जगत् को तुरन्त सब ओर पहुँच जाते हैं ।

सूर्य वह है जिसके किरण, दोष हरने गुण लाने वाले भिन्न भिन्न रङ्ग वाले अनेक रङ्ग वाले ऊपर से नीचे सारे संसार या पिण्डमात्र पर तुरन्त पहुंच जाते हैं ॥ ३ ॥

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥४॥

( सूर्यस्य तत् देवत्वं तत् महित्वम् ) सूर्य का वह देवत्व प्रकाश प्रदातृता है वह महित्व शक्तिमत्ता भी है कि ( कर्तोः मध्ये विततं सञ्जभार ) कृषक आदि मनुष्यों के द्वारा क्रियमाण किये जाते हुए कर्मों के मध्य में अपूर्ण कर्म होते हुए अपने फैले रश्मिप्रकाश को संहृत कर लेता है समेट लेता है यह उसकी महत्ता है अन्यथा क्रियमाण कर्म के लोभ में अविश्राम से मनुष्य कर्म करने में असमर्थ हो जावें । पश्चात् ( यदा इत् सधस्थात् हरितः—अयुक्त ) जब ही सब जनों के समान स्थान कर्मस्थान से हटा कर किरणरूप घोडों को अपने मण्डल में युक्त कर लेता

है ( रात्री सिमस्मै वासः-तनुते ) रात्री सबके लिये ढकने वाले अन्धकाररूप वस्त्र को तान देती है ।

सूर्य वह है जो प्रकाश को फैलाता है जिसका प्रकाश न रहने पर रात्रि हो जाती है, दिन रात्रि का प्रवर्तक सूर्य है ॥४॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद्रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति॥५॥

( सूर्यः द्योः उपस्थे ) सूर्य द्युलोक के उपस्थ अञ्चल में-क्षेत्र में ( मित्रस्य वरुणस्य रूपम् अभिचक्षे कृणुते ) मित्र अपने प्रेरण और वरुण आकर्षण धर्म को अभिव्यक्त करने के लिये अपने स्वरूप को आविष्कृत करता है प्रकट करता है। समस्त लोकों का प्रेरण और आकर्षण सूर्य करता है द्युस्थान में रहता हुआ ( अस्य अनन्तम् अन्यत् रुशत् पाजः कृष्णम् अन्यत् ) इस सूर्य का अन्यत् पृथक् प्रकाशमान बल अनन्त है विस्तृत है संसार में फैलने वाला है। अन्य दूसरा बल कृष्ण है जो अनन्त नहीं जो सूर्य के अन्दर ही कृष्ण रङ्ग में जलने योग्य पदार्थ है "असितो रक्षिता" ( हरितः सम्भरन्ति ) जिन दोनों को किरणें सम्भरण करते है-धारण करते हैं ।

सूर्य वह पदार्थ है जिसके अन्दर लोकों को प्रेरण और अपनी ओर आकर्षण करने का धर्म है तथा जिसके अन्दर ज्वलन धर्म शुभ्ररूप लोकों को प्रकाशित करने का भारी बल है और कृष्ण पदार्थ भी जिसमें जलने को स्थिर है ॥ ५ ॥

अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहसः पिपृता निरवद्यात् ।
तन्नो मित्रो वरुणो मामहन्तामदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः ॥ ६ ॥

( सूर्यस्य-उदिता देवाः-अद्य-अंहसः-निः-पिपृत-अवद्यात्-निः ) सूर्य के 'उदितौ' उदय वेला में किरणें आज पाप रोग से अंहस् जैसे कृमिरोग से रक्षा करो तथा न बताने योग्य मानस दोष उन्माद जैसे से रक्षा करो ( तत्-मित्रः-वरुणः-अदितिः सिन्धुः पृथिवी-उत द्यौः-मामहन्ताम् ) मित्र-सूर्य का प्रेरणधर्म वरुण-आकर्षण धर्म, उषा, स्यन्दनशील जलप्रवाह, पृथिवी और द्युलोक-मेघमण्डल मुझे महत्त्वपूर्ण बनावें सुरक्षित रखें।

सूर्य वह है जिसके साथ किरणें प्रेरणधर्म, आकर्षणधर्म, उषा, जलप्रवाह, पृथिवी और द्युलोक का सम्बद्ध है ॥६॥

परमात्मपरकार्थ—

( जगतः-तस्थुषः-च-आत्मा ) समस्त जङ्गम-चर और स्थावर-जड जगत् का आत्मा विश्वात्मा परमात्मा ( सूर्य ) स्वतः ज्ञानप्रकाशस्वरूप ज्ञानसूर्य है ( देवानाम्-अनीकम् ) देवों-जीवन्मुक्तों मुमुक्षुओं का प्राण 'अन प्राणने-ईकन् प्रत्ययः' विद्वानों का अग्रगन्ता मुख-प्रमुख "सेनाया वै सेनानीरनीकम्" [ शत० ५ । ३ । १ । १ ] दिव्यगुणों का पुञ्ज ( मित्रस्य वरुणस्य-अग्नेः-चक्षुः ) जगत् में प्रेरण-प्रदान, सर्जन, प्राणन तथा आकर्षण-अपान-संहार अपान धर्मों का प्रख्यापक-प्रकाशक ( उदगात् ) उपासक ध्यानी मनस्वी के अन्दर उदित होता है सांसारिक वस्तु में भी स्पष्ट प्रकट हुआ मनस्वी के सम्मुख आता है ( द्यावापृथिवी-अन्तरिक्षम्-आप्राः ) वह द्युलोक पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष को आपूर भरपूर करता है ॥१॥

( रोचमानाम्-उषसं देवीम्-अभि-एति पश्चात्-मर्यः-न योषाम् ) वह परमात्मा अभ्यास और वैराग्य से निर्मला प्रसन्ना कान्ता दिव्यसमाधि बुद्धि के पीछे जाता है उसे प्राप्त होता है

( यत्र नरः-देवयन्तः-युगानि वितन्वते ) जिस परमात्मा के आश्रय में जीवन्मुक्त या मुमुक्षु जन अपने देव परमात्मा को चाहते हुए या अपने को देव मुक्तात्मा बनाना चाहते हुए मुक्तावस्था के युगों कालों का विस्तार करते हैं (भद्राय प्रति भद्रम्) जो भद्र-कल्याण आदि श्रेष्ठ कर्म पुरुषार्थ के लिये प्रतीकार-रूप भद्र मोक्ष-मोक्षानन्द है उसे प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

( सूर्यस्य भद्राः अश्वाः हरितः ) जगत् में सूर्यरूप परमात्मा के कल्याण प्रसारक व्यापने वाले-अज्ञान हरण करने वाले वेद एवं वेदप्रकाशक-वेदप्रचारक हैं ( चित्राः-एतग्वाः-अनुमाद्यासः ) अद्भुत ज्ञानशक्ति वाले इस समस्त जगत् को अपने ज्ञानस्वरूप से प्राप्त होने वाले सुखदायक और अनुमोदनीय हैं ( नमस्यन्तः-दिवः पृष्ठम्-आ-अस्थुः ) ज्ञान प्रदानार्थ नमते हुए ज्ञान के पृष्ठ महान् आचार्य उस परमात्मा में आस्था रखते हैं ( सद्यः-द्यावापृथिवी परियन्ति ) वेद आरम्भ सृष्टि में उत्पन्न पिता माता-पुरुष स्त्री वर्ग में तत्काल फैल जाते हैं ॥ ३ ॥

( सूर्यस्य तत्-देवत्वं तत्-महित्वम् ) जगत्प्रकाशक परमात्मा का वह यह देवत्व-प्रकाशकत्व और वह यह महत्त्व-शक्तिमत्ता है कि ( कर्तोः मध्या विततं संजभार ) कर्म करते हुए के मध्य में इस फैले जगत् का संहार कर देता है उनके विश्राम और नूतन शक्ति की प्राप्ति के लिए यह उसकी महती शक्ति है और महती कृपा है ( यदा इत् सधस्थात् हरितः-अयुक्त ) जब वह परमात्मा सहस्थान जहां कि जीवात्माएं साथ परस्पर कर्म करते हैं उस इस जगत् से अपने हरणशील धर्मों को युक्त करता है तो फिर ( रात्री सिमस्मै वासः-तनुते ) प्रलय सब के लिए सो जाने के लिए सुषुप्त हो जाने के वस्त्र तान देती है ॥४॥

( सूर्यः–द्योः उपस्थे ) जगत्प्रकाशक सूर्य परमात्मा द्योतनात्मक मोक्ष धाम के आश्रय में (मित्रस्य वरुणस्य अभिचक्षे रूपं कृणुते ) मित्र प्रेरण-दान सर्जन, वरुण आकर्षण प्रदान–संहार धर्मों को प्रकट करने के लिए अपने रूप–स्वरूप को आविष्कृत करता है ( अस्य अनन्तम् रुशत् पाजः कृष्णम् अन्यत् हतरितः संभरन्ति ) इस अन्य भिन्न एक अनन्त महान् प्रकाशमान बल जिससे जगत् प्रकाशित है अन्य एक कृष्ण बल जिससे प्रलय होता है इन दोनों बलों को हरणशील आहरणशील और संहरणशील शक्ति धाराएं सम्भालती हैं ॥५॥

( सूर्यस्य उदिता देवाः अद्य अंहसः निःपिपृत–अवद्यात्-निः ) जगत्प्रकाशक सूर्य परमात्मा ध्यानी मनस्वी के अन्दर उदित प्रकाशमान हो जाने पर अद्य इसी जीवन में उसका ज्ञानधाराएं पाप से बचाती हैं अवद्य अकथनीय अज्ञान से भी रक्षा करती हैं ( मित्रः वरुणः अदितिः सिन्धुः पृथिवी उत द्यौः मामहन्ताम् ) मित्र प्रेरणा प्रदान सर्जन और वरुण आकर्षण आदान संहार ज्ञानदीप्ति सिन्धु स्यन्दमान कर्म-प्रवाह, पृथिवी माता द्युलोक पिता मुझे महत्त्व प्रदान करें सुरक्षित रखें ॥६॥

---

## ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १५४

ऋषिः–दीर्घतमाः (दीर्घकाल से अज्ञानआन्धकारयुक्त या दीर्घ अर्थात् आयु को चहानेवाला "आयुर्वैदीर्घम्" (तां० १३।११।१२) "तमु आकांक्षायाम्" (दिवादि०) ततो-असुन् प्रत्ययः–औणादिकः

देवता–विष्णुः (व्यापक परमात्मा)

विष्णोर्नुकं वीर्याणि प्रवोचं यः पार्थिवानि विममे रजांसि ।
यो अस्कभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥१॥

(विष्णोः-वीर्याणि नुकं प्रवोचम्) मैं व्यापक परमात्मा के पराक्रमों का हां अवश्य जहां तहां प्रवचन करु' (यः पार्थिवानि रजांसि विममे) जिसने पृथिवीजाति के लोकों–पिण्डों को 'लोका रजांस्युच्यन्ते" (निरु० ४।१८) विशेष कला से बना कर रखा है (यः–उत्तरं सधस्थम्–अस्कभायत्) जो पृथिवी पिण्डों के ऊर्ध्व नक्षत्रतारों के सहस्थान–द्युमण्डल को सम्भाले हुए है वह ऐसा (त्रेधा विचक्रमाणः) तीन स्थानों– पृथिवी लोक द्युलोक तथा मध्यवर्ती अन्तरिक्ष लोक में व्याप्तिरूप शक्ति से विक्रम करता हुआ (उरुगायः) बहुत प्रकार से गाने योग्य प्रशंसा करने योग्य स्तुति योग्य है ॥ १ ॥

प्र तद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥२॥

( तत्-विष्णुः-वीर्येण प्रस्तवते ) वह "लिङ्व्यत्ययः" व्यापक परमात्मा अपने वीर्य बल पराक्रम से स्तुत किया जाता है स्तुति करने योग्य है 'कर्मणि कर्तृप्रत्ययश्छान्दसः' ( मृगः-न भीमः ) मृग-सिंह की भांति भयङ्कर ( गिरिष्ठाः ) पर्वत स्थायी-उत्पाद विनाश पर्व वाले जगत् में रहने वाला ( कुचरः ) कहां यह नहीं चरता है। अर्थात् व्यापक होने से सर्वत्र चरता है-उपलब्ध है ( यस्य-उरुषु त्रिषु विक्रमणेषु ) जिसके विस्तृत तीन विक्रमणों में विक्रमणशील पादों में ( विश्वा भुवनानि-अधिक्षियन्ति ) सारे लोकलोकान्तर निवास करते हैं रहते-हैं ॥ २ ॥

प्र विष्ण॑वे शू॒षमे॑तु॒ मन्म॑ गिरि॒क्षित॑ उरुगा॒याय॒ वृष्णे॑ ।

य इ॒दं दी॒र्घं प्रय॑तं स॒धस्थ॒मेको॑ विम॒मे त्रि॒भिरित्प॒देभिः॑ ॥३॥

( गिरिक्षिते ) उद्गीर्ण-व्यक्त जगत् में बसे हुए ( उरुगायाय ) बहुत प्रकार से गाने प्रशंसित करने योग्य। ( विष्णवे ) अनन्त वीर्यवान् वृषमरूप व्यापक परमात्मा के लिए (शूषं मन्म प्र-एतु ) बल-जगत् का रचनबल "शूषं बलनाम" ( निघ० २।६ ) तथा मन्म-सबको मनाने योग्य ज्ञान सर्व जड जङ्गम का ज्ञान प्राप्त है "वर्तमानकालेऽत्र लोट्" क्योंकि ( यः-एकः ) जो एक अकेला ( इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थम् ) इस विस्तृत प्रयत्न साध्य तथा प्रकृष्टरूप से व्यवस्थित नियन्त्रित शृंखलित सहस्थान सम्मिश्रित जगत् को ( त्रिभिः पदेभिः-इत्-विममे ) तीन पदों अपने जागृत स्वप्न सुषुप्त नामक स्वरूपों से जो कि स्थूल सूक्ष्म अव्यक्त वर्तमान शक्ति पादों से ही विविध रूप से निर्माण करता है सम्भालता है ॥ ३ ॥

यस्य त्री पूर्णा मधुना पदान्यक्षीयमाणा स्वधया मदन्ति ।
ये उ त्रिधातु पृथिवीमुत द्यामेको दाधार भुवनानि विश्वा ॥४॥

(यस्य त्री पदानि मधुना पूर्णा-अक्षीयमाणा) जिस विष्णु-व्यापक परमात्मा के तीन पद मधु से-प्राण स्वरूप रस से पूर्ण "प्राणो वै मधु" (शत० १४।१।३।३०) अक्षीयमाण हैं (स्वधया मदन्ति) अन्न रस दीप्ति से जड जङ्गम को आनन्दित करते हैं-जीवन देते हैं (यः-उ-एकः-त्रिधातु) जो ही अकेला परमात्मा तीन धातुओं को सत्त्व, रजः, तम-गुण विशिष्ट उपादान अव्यक्त प्रकृति को † (पृथिवीम्-उत द्यां विश्वा भुवनानि दाधार) एवं उस अव्यक्त के कार्यरूप पृथिवी और द्युलोक सब लोक लोकान्तर को धारण करता है ॥ ४ ॥

तदस्य प्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति ।
उरुक्रमस्य स हि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः
॥ ५ ॥

(अस्य-उरुक्रमस्य विष्णोः) इस महापराक्रमी विष्णु व्यापक परमात्मा के (तत् प्रियं पाथः-अभ्यश्याम्) उस प्रिय अवकाश-मुक्तों के विशाल सदन को "पाथः-अन्तरिक्षम्" [निरु० ६।६] प्राप्त करूं (यत्र देवयवः-नरः मदन्ति) जहां उस परमात्मदेव को चाहने वाले प्राप्त करने वाले आनन्दित होते हैं (परमे पदे मध्वः-उत्सः) उस परम पद मोक्ष सदन में मधुर रस का उत्स्रवण स्रोत है कूप है

---

† "त्रयः सत्त्वरजस्तमांसि धातवो येषु तानि" (दयानन्दः) पृथिव्यप्तेजो रूपधातु त्रयविशिष्टम् (सायणः)

( सः-हि इत्था बन्धुः ) वह विष्णु परमात्मा ही सच्चा बन्धु है ॥ ५ ॥

ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि ॥६॥

( वां ता वास्तूनि गमध्यै उश्मसि ) हे विद्यास्नातक संसार के नर और नारी ! तुम दोनों के लिए उन वास स्थानों को प्राप्त करना चाहते हैं हम हितचिन्तक पढ़ाने वाले ( यत्र भूरिशृङ्गाः-गावः अयासः ) जहां बहुज्वलन तेज प्रकाशवाले "भूरि-बहुनाम" [ निघ० ३।१ ] "शृङ्गाणि ज्वलतो नाम" [ निघ० १।१७ ] रश्मियां किरणें प्रकाश किरणें अज्ञानान्धकार से परे ज्ञानानन्दप्रकाशपूर्ण किरणें अयन-गमन करने-निरन्तर प्राप्त होने वाले हैं ( अत्र-अह-उरुगायस्य वृष्णः तत् परम पदं भूरि अवभाति ) यहां-यहां निश्चय महागतिवाले विभुगति-शक्तिवाले तथा बहुत गुण गान योग्य बहुत प्रशंसित आनन्दवर्षक विष्णु-व्यापक परमात्मा का वह परम पद पराकाष्ठा को प्राप्त मोक्षपद मोक्षधाम वा परम-स्वरूप केवल स्वरूप बहुत ही प्रकाशित हो रहा है उसे भी हम तुम्हारे लिये चाहते हैं ॥ ६ ॥

---

# ऋग्वेद मण्डल २ सूक्त १२

ऋषिः—गृत्समदः (मेधावी प्रसन्न जन "गृत्सः-मेधाविनाम" [निघ० ३।१५])

देवताः—इन्द्रः (अध्यात्म में व्यापक परमात्मा आधिदैविक क्षेत्र में सर्वत्र प्राप्त विद्युत)

वक्तव्य—इस सूक्त का देवता इन्द्र है। जो अध्यात्म में परमात्मा और आधिदैविक क्षेत्र में सर्वत्र व्याप्त विद्युद्देव है। जैसे अन्यत्र वेद में कहा है—'यदिन्द्र दिवि पार्ये यदृधग्यद्वा स्वे सदने यत्र वासि।" (ऋ० ६।४०।५) "(यस्य) विद्युदाख्यस्य (यः) कारणाख्यो विद्युदग्निः" ऋ० २।१२।७ पदार्थे दयानन्दः)†

**यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।**
**यस्य शुष्माद्रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य मह्ना स जनास इन्द्रः**
**॥ १ ॥**

---

† इस सूक्त पर 'बृहद्देवता' आदि इतिहासप्रदर्शक ग्रन्थों में कहीं यह लिखा है कि (१) गृत्समद ऋषि तप के प्रभाव से इन्द्र का रूप धारण कर मुहूर्त्त भर द्युलोक में आकाश में और इस लोक में दिखलाई दिया, उस पर धुनि और चुमुरि दैत्य टूट पड़े इन्द्र समझ कर, तब अपने को बचाने के लिए ऋषि ने "यो जात एव प्रथमो मनस्वान्" इस सूक्त से इन्द्र का स्वरूप बताया [इस कल्पना में यह दोष कि दैत्य दो हैं और मन्त्रों में 'जनासः' बहुवचन है—ब्रह्ममुनि] कहीं पर कहा है कि (२) इन्द्र आदि देवता वैन्य के यज्ञ में गये वहां गृत्समद ऋषि भी आकर बैठा था तब इन्द्र को मारने की इच्छा से दैत्य भी आए

( यः-जातः-एव ) जो प्रसिद्धि को प्राप्त या प्रादुर्भूत होता हुआ ही ( प्रथमः-मनस्वान् ) प्रथम-सर्वप्रथम मन जैसे वेगपूर्ण बल वाला ( देवः-देवान् क्रतुना पर्यभूषत् ) ऐसा देव अन्य देवों को अपने बल कर्म से परिभूत करता है-परिगृहीत करता है-स्वाधीन करता है-घेर लेता है-अतिक्रान्त कर लेता है 'भूधातोः क्सो लुङि' ( यस्य शुष्मात्-रोदसी-अभ्यसेताम् ) जिसके बल से "शुष्मं बलम्" [ निघं० २ । ९ ) द्युलोक पृथिवीलोक-ऊपर नीचे के दोनों लोक "रोदसी द्यावापृथिवी नाम" [नि०घं ३ । ३०] भय कर जाते हैं, डरे जाते से हैं "भ्यस भये" [भ्वादि०] ( नृम्णस्य मह्ना ) एवं जिसके बल के महत्त्व से "नृम्णं बलनाम्" [ निघं० २ । ९ ] ऐसे सब कृत्य होते हैं ( जनासः सः-इन्द्रः )

---

उन्हें देख इन्द्र गृत्समद का रूप धारण कर यज्ञ से निकल गया पुनः गृत्समद को यज्ञ बाडे से निकलते देख दैत्यों-असुरों ने उसे इन्द्र समझ कर घेर लिया, उसने इस सूक्त द्वारा इन्द्र का स्वरूप बताया मैं इन्द्र नहीं हूँ। तथा कहीं पर कहा कि (३) गृत्समद के यज्ञ में अकेले इन्द्र को जान कर असुरों ने घेर लिया वह इन्द्र गृत्समद का रूप धारण कर यज्ञमण्डप से निकल स्वर्ग को चला गया, परन्तु असुरों ने 'इन्द्र ने बाहिर आने में देर की अन्दर ही है' ऐसा समझ अन्दर प्रविष्ट हो गृत्समद को पकड लिया कि यही इन्द्र है भय से गृत्समद के रूप में बैठा है उसने इस सूक्त के द्वारा इन्द्र का स्वरूप बताया मैं इन्द्र नहीं हूं [दूसरी और तीसरी कल्पना भी अन्यथा है भला जब कि सूक्त में इन्द्र का स्वरूप अत्यन्त शक्तिमान् बतलाया पर्वतों समुद्रों को छिन्न भिन्न करदे द्युलोक पृथिवी लोक को भी कम्पा देता है वज्रधारी महान् बलवान् है इत्यादि ऐसे इन्द्र का असुरों से डरने का क्या प्रसङ्ग और असुर भी ऐसे शक्तिशाली का कुछ भी नहीं बिगाड सकते, अतः सब अयुक्त कल्पना है—ब्रह्ममुनि]

हे जनो ! वह इन्द्र देव है विश्वाकाश में व्याप्त विद्युत् तत्त्व है अध्यात्म में परमात्मा है ॥ १ ॥

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपिताँ अरम्णात् ।
यो अन्तरिक्षं विममे वरीयो यो द्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः ॥ २ ॥

( यः-व्यथमानां पृथिवीम्-अदृंहत् ) जिसने व्यथमाना-हिल जुल करती हुई-तरलरूप में हुई पृथिवी को दृढ-स्थिर कर दिया-करता है (यः प्रकुपितान् पर्वतान्-अरम्णात् ) जिसने प्रारम्भ में उद्विग्न से अस्थिर हुए पर्वतों को संयमित किया-ठहरा दिया-ठहरा देता है‡ "रम्णाति संयमनकर्मा" [ निरु० १० । ६ ] ( यः-वरीयः-अन्तरिक्षं विममे ) जिसने उरुतर-महान् अन्तरिक्ष को विमान वाला सबको अवकाश देने वाला बनाया ( यः-द्याम्-अस्तभ्नात् ) जिसने द्युलोक को स्तम्भित किया-थामा-थामता है ( जनासः सः-इन्द्रः ) हे जनो ! वह इन्द्र है इन्द्र सर्वत्र व्याप्त विद्युद् देव या परमात्मा है ॥ २ ॥

यो हत्वाहिमरिणात् सप्त सिन्धून् यो गा उदाजदपधा बलस्य ।
यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक्समत्सु स जनास इन्द्रः ॥ ३ ॥

( यः-अहिं हत्वा सप्त सिन्धून्-अरिणात् ) जो मेघ का "अहिर्मेघनाम" [ निघं० १ । १० ] हनन करके सात स्यन्दनशील नदियों जलधाराओं को सिन्धवः-नदीनाम" [ निघं० १ । १३ ] चलाता है-बहाता है "रिणाति गतिकर्मा" [ निघं० २ । १४ ] ( यः-बलस्य-अपधा गाः-उदाजत् ) जो मेघ "बलः-मेघनाम"

‡ "पक्षयुक्तान् पर्वतान्" (सायणः)

[ निघं० १ । १० ] को 'अपधायाः' भित्ति घेराबन्दी से सूर्य-किरणों को "गावः-रश्मिनाम" [निघं० १ । १५] बाहिर निकाल देता है* ( यः अश्मनोः-अन्तः-अग्नि जजान ) जो दो मेघों के अन्दर उनके संघर्ष पर "अश्मा मेघनाम" [ निघं० १ । १० ] ज्वलनरूप अग्नितत्त्व को उत्पन्न कर देता है ( समत्सु संवृक् ) संग्रामों में अस्त्रप्रयुक्त होकर या मेघ के साथ संघर्षों में "समत्सु संग्राम नाम" [ निघ० २ । १७ ] सम्यक् वधकर्ता है "वृणक्ति वधकर्मा" निघ० २ । २६ ] ( जनासः सः-इन्द्रः ) हे जनो ! वह इन्द्र-विश्व में व्यापनशील विद्युद्देव है या परमात्म-देव है ॥ ३ ॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः
॥ ४ ॥

( येन इमा विश्वा च्यवना कृतानि ) जिसने इन सब लोक लोकान्तरों को गतिशील किया है ‡ ( यः-दासं वर्णम् अधरं गुहा अकः ) जिसने कर्मों का उपक्षय करने वाले आकाश को आवृत करने वाले मेघ को नीचे पृथिवी की गुहा गहरे में नीचे कर दिया पहुंचा दिया ( यः-श्वघ्नी-इव ) 'शुनो हन्ति यद्वा श्वभिर्हन्ति सिंहादीन् श्वपूर्वकात्-हनधातोश्छान्दसः किनि-प्रत्ययः' जैसे व्याध कुत्तों-भेडियों को या कुत्तों से सिंह आदि लक्ष्य को जीतने वाला ( अर्यः पुष्टानि-आदत् ) स्वामी हो पुष्टों को प्राप्त करता है ऐसे उन मेघ और लोकों का स्वामी बन

---

* "बलनामकस्यासुरस्य" ( सायणः )

‡ "च्यवना नश्वराणि" ( सायणः )

स्वाधीन करता है (जनासः सः-इन्द्रः) हे जनो ! वह इन्द्र सर्वत्र व्याप्त विद्युद्देव या परमात्मा है ॥ ४ ॥

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम् ।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः
॥ ५ ॥

( यं पृच्छन्ति स्म कुह स-इति ) जिस को वैज्ञानिक एवं आध्यात्मिक जिज्ञासु जन पूछा करते हैं वह कहां है 'सः सु विभक्ते लुक्-छान्दसः'-"सुपा सुलुक्" ( अष्टा ७।१।३९ ) उसके अदृश्य होने से सर्वत्र व्याप्त विद्युततत्त्व अदृश्य है, अग्नि जैसा दृश्य नहीं। परमात्मा भी अदृश्य है नेत्रों से दीखने वाला न होने से ( एनं घोरम्-ईम्-आहुः ) इसे घोर-भयङ्कर विनाशकारी या पुण्य कर्म न करके पाप कर्म का दुःख भुगाने पर परमात्मा को क्रूर दयाहीन कुछ जन कहते हैं, उसे मानते हुए भी ( न-एषः-अस्ति-इति-एनम् ) यह इन्द्र नाम से अदृश्य पदार्थ व्याप्त विद्युत् या परमात्मा है ही नहीं ऐसा भी इसे कुछ अज्ञानी या नास्तिक जन कहते हैं (सः-विजः-इव-अर्यः-पुष्टीः-मिनाति ) वह जैसे भयानक व्याध स्वामी अधिकर्ता पुष्ट वन-प्राणी व्यक्तियों को हिंसित करता है ऐसे जल से पुष्ट मेघ-पंक्तियों का तथा पाप की कमाई से पुष्ट व्यक्तियों का लोक-हितार्थ विनाश करता है ( जनासः सः-इन्द्रः ) हे जनो ! वह इन्द्र व्याप्त विद्युद्देव या परमात्मा है ॥ ५ ॥

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः ।
युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः ॥ ६ ॥

( यः-रध्रस्य यः कृशस्य यः ब्रह्मणः-नाधमानस्य कीरेः-चोदिता ) जो समृद्ध का "रध संराध्ये" [ दिवादि० ] जो कृश-दरिद्र का जो ब्राह्मण-वैज्ञानिक या वेदवेत्ता का और याचना करते हुए का स्तोता प्रशंसक या उपासक का "कीरिःस्तोतृनाम" [ निघं० ३ । १६ ] प्रेरक है (यः-युक्तग्राव्णः-अविता) जो युक्त प्रयुक्त किए हैं ग्राव मेघ जिसने या जिसमें ऐसे मेघसम्पादन वर्षणसमर्थ वैज्ञानिक का "ग्रावा मेघनाम" [ निघं० १ । १० ] युक्त है उपयुक्त किए हैं ग्राव विद्वान् जन जिसने अध्ययन द्वारा ऐसे नव ब्रह्मचारी जन का रक्षक है ( सुतसोमस्य च ) मेघजलों से सोम आदि ओषधियां जिसने उत्पन्न करी उसका उपासित किया सोम उत्पादक देव जिसने ऐसे जन का भी रक्षक है (सुशिप्रः) अच्छा शिप्र-सृप सर्पणशील या व्यापनशील "सुशिप्रः -एतेन सृपः 'सर्पणशीलः' इत्येतेन व्याख्यातम्"[ निरु० ६ । १६ ] ( जनासः सः-इन्द्रः ) हे जनो वह इन्द्र है ॥ ६ ॥

यस्याश्वा॑सः प्र॒दिशि॒ यस्य॒ गावो॒ यस्य॒ ग्रामा॒ यस्य॒ विश्वे॒ रथा॑सः ।
यः सूर्यं॒ य उ॒षसं॑ ज॒जान॒ यो अ॒पां नेता॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥७॥

( यस्य प्रदिशि ) जिसके संकेत प्रेरण या शासननियम में† ( अश्वासः ) घोड़े घोड़े आदि वाहक पशु ( यस्य-गावः ) जिसके प्रेरण या शासन में नियम में गोएं गवादि दुधारू पशु ( यस्य ग्रामाः ) जिसके प्रेरण में या शासन में-नियम में जनग्राम-जनवर्ग हैं ( यस्य विश्वे रथासः ) जिसके प्रेरण में सब रथ यान भूयान, जलयान, वायुयान चल सकते हैं या जिसके शासन में नियम में रमणस्थान सब सूर्य आदि लोक हैं "असौ वा आदित्य एष रथः" [ शत० ६ । ४ । १ । १५ ] (यः सूर्यम्- उषसं जजान)

† "अन्तर्यामितया" ( सायणः )

जिसने‡ सूर्य को और उषा को उत्पन्न किया ( यः अपां नेता ) जो जलों का नेता-नायक गतिप्रद है ( जनासः सः-इन्द्रः ) हे लोगों वह इन्द्र व्याप्त विद्युद्देव या परमात्मा है ॥ ७ ॥

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः।
समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः॥ ८॥

( यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते ) जिसको आह्वान करती हुई या स्वरक्षार्थ रोदन सा करती हुई सामुख्य में प्राप्त पृथिवीलोक और द्युलोक प्रकाशरहित और प्रकाशक लोक विविध रूप आहूत करते हैं ( परे अवरे उभयाः-अमित्राः ) और पर-द्युलोकस्थ पदार्थ अवर-पृथिवी लोकस्थ पदार्थ दोनों परस्पर अमित्र-विरोधि रूपों वाले होकर आहूत करते हैं ( समानं रथ चित्-आतस्थिवांसा ) मानो समान रथ-इन्द्र के नियमन पर आस्थान करते हुए-आश्रय रहते हुए (नाना हवेते) पृथक् पृथक् आहूत करते हैं ( जनासः सः-इन्द्रः ) हे लोगो वह इन्द्र व्याप्त विद्युद्देव या परमात्मा है ॥ ८ ॥

कस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास इन्द्रः
॥ ९ ॥

( यस्मात्-ऋते जनासः न विजयन्ते ) जिसके बिना मनुष्य विजय-लाभ नहीं ले सकते ( युध्यमानाः अवसे यं हवन्ते ) युद्ध करते हुए अपनी रक्षा के लिये जिसको आहूत करते हैं ( यः-विश्वस्य प्रतिमानं बभूव ) जो विश्व-जड जङ्गम जगत् का सम्भालने वाला या सहारा है ( यः-अच्युतच्युत् ) जो अच्युतों

---

‡ "वृत्र हत्वा" ( सायणः )

अचलों पर्वत ग्रह आदि को भी चलायमान करने वाला है (जनासः—सः इन्द्रः) हे जनो ! वह इन्द्र—व्याप्त विद्युद्देव या परमात्मा है ॥ ९ ॥

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान ।
यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

(यः—महि—एनः दधानान् अमन्यमानान् शर्वा जघान) जो बड़े भारी पाप को धारण करने वाले अज्ञानी अपने ऊपर किसी को न मानने वाले अहङ्कारी या नास्तिकों को शरु—हिंसक वज्र से हत कर देता है (यः शर्धते शृध्यां न—अनुददाति) जो निन्दित शब्द करते हुए के लिए शृध्या निन्दित वाणी को अनुदान सहारा नहीं देता है सफल नहीं होने देता (यः दस्योः हन्ता) जो दस्यु—कर्मों को उपक्षय करने वाले मेघ का हन्ता है (जनासः—सः—इन्द्रः) हे जनो ! वह व्याप्त विद्युद्देव या परमात्मा है ॥ १० ॥

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥ ११ ॥

(यः पर्वतेषु क्षियन्तं शम्बरम्) जो मेघों में "पर्वतः—मेघनाम" [ निघं० १।१० ] निवास करते हुए—रहते हुए शम्बर उदक जल को † "शम्बरम्—उदकनाम" [ निघं०

† "इन्द्रभिया बहून् संवत्सरान् प्रच्छन्नं भूतं शम्बरं मायाविनम सुरं चत्वारिंशे संवत्सरे ——दानुं दानवं शम्बरं सुरं जघान" (सायणः)

१।१२ ] ( चत्वारिंश्यां शरदि-अन्वविन्दत् ) चालीसवीं शरद् तक अनुकूलरूप से प्राप्त किया रहता है बरसाता रहता है बरसा कर छोडता है अर्थात् साधारण वर्षा ऋतु से होकर शरद्-शीत काल हिमपात की चालीसवें दिन लोक भाषा चालीस दिन के चिल्ले तक मेघ से जल को बरसा कर छोडता है अथवा "स्वधा वै शरद्" ( शत० १३।८।१।१४ ) और "स्वाधा वै पितृणामन्नम्" ( तै० १।६।६।४ ) स्वधा पितरो के लिए अन्न है "ऋतवः पितरः" ( शत० २।३।२।२४ ) इस प्रकार ऋतुओं के लिए चालीसवीं स्वधा अन्नादि की आहुति वर्षा काल में चालीस दिन तक होने से मेघो का जल इन्द्र के आधीन हो जाता है यह भी लक्षित होता है ( य.-ओजायमानं दानुं शयानम् अहिं जघान ) जिसने बलवान् होते हुए खण्ड खण्ड करने योग्य या जल को देने वाले फैले हुए मेघ का हनन कर दिया-कर देता है । ( जनासः सः-इन्द्रः ) हे जनो ! वह इन्द्र व्याप्त विद्युद् देव या परमात्मा है ॥ ११ ॥

यः सप्तरश्मिर्वृषभस्तुविष्मानवासृजत् सर्तवे सप्त सिन्धून् ।
यो रौहिणमस्फुरद्वज्रबाहुर्द्यामारोहन्तं स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

( यः सप्तरश्मिः वृषभः तुविष्मान् ) इन्द्र विद्युद् देव "वाताय कपिला विद्युदातपायातिलोहिनी दुर्भिक्षाय सिता भवेत्" (महाभाष्य व्याकरण ) कपिला आदि सात तरङ्ग-वाला इन्द्र विद्युत्-तथा परमात्मा कर्तृत्व, धर्तृत्व, संहर्तृत्व, कर्मफल-दातृत्व, नियन्तृत्व, व्यापकत्व, सर्वज्ञत्व सात शक्तियोंवाला वृषभ सुख वृष्टि कर्त्ता प्रवृद्धिमान् शक्तिमान् ( सप्त सिन्धून् सर्तवे अवासृजत् † आकाश में सप्त-सृप्त फैले हुए स्यन्दनशील

† सर्पणस्वभावान् सिन्धूनपः यद्वा गङ्गाद्याः सप्त मुख्यानदीः ( सायणः )

नदियों जलप्रवाहों को बहने को सर्जन करता है पृथिवी पर छोडता है बरसाता है ( यः वज्रबाहुः द्याम् आरोहन्तम् ) जो वज्र हाथ में लिये हुए जैसा होकर द्युलोक–आकाश में चलते हुए ( रौहिणम् अस्फुरत् ) रौहिण "रोहतीति रोही–इन्द्रस्तत्सम्बद्धं रौहिणम्" मेघ को संचालित कर देता है ( जनासः सः–इन्द्रः ) लोगो ! वह इन्द्र व्याप्त विद्युत् देव या परमात्मा है ॥ १२ ॥

द्यावा॑चिदस्मै पृथि॒वी न॑मेते॒ शुष्मा॑च्चिदस्य॒ पर्व॑ता भयन्ते ।
यः सो॑म॒पा नि॑चि॒तो वज्र॑बाहु॒र्यो वज्र॑हस्तः॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ १३ ॥

( अस्मै द्यावापृथिवी चित् नमेते ) इसके लिये‡ द्युलोक पृथिवीलोक भी नमन करते हैं मानो स्वागत करते हैं इसके संकेत या आदेश को मानते हैं ( अस्य शुष्मात् चित् पर्वताः-भयन्ते ) अपितु इसके बल से मेघ भय करते हैं। ( यः सोमपाः-निचितः ) जो सोम-मेघ जलों का पान करता या सोम उपासना स्वभाव का पान कर्त्ता अन्तर्हित ( यः-वज्रबाहुः वज्रहस्तः ) जो वज्र समान बाहुओं वाला वज्र हाथों में रखनेवाला ( जनासः सः–इन्द्रः ) हे जनों ! वह इन्द्र व्याप्त विद्युत् देव या परमात्मा है ॥ १३ ॥

यः सु॒न्वन्त॒मव॑ति॒ यः पच॑न्तं॒ यः शंस॑न्तं॒ यः शशमा॒नमू॒ती ।
यस्य॒ ब्रह्म॒ वर्ध॑नं॒ यस्य॒ सोमो॒ यस्येदं राधः॒ स ज॑नास॒ इन्द्रः॑ ॥ १४ ॥

---

‡ इतरेतरापेक्षया द्विवचनम् मित्रयो र्वरुणयोः ( सायणः ) ऋ० ४।५।८

( यः सुन्वन्त यः पचन्तं यः-शंसन्तं यः-शशमानम्-ऊती-अवति ) जो ज्ञान के निष्पादन करते हुए की जो उस ज्ञान को अपने अन्दर पचाते हुए-सात्म्य करते हुए की जो दूसरों के लिये उस ज्ञान का शंसन अपने लिये प्रशंसा करते हुए की जो शशमान-अन्यों में शंसन-उपदेश-करने वाले "शशमानः शंसमानः" ( निरु० ६ । ८ ) या आगे गये हुए पूर्ण कुशल बने हुए की अपनी रक्षणशक्ति से रक्षा करता है ( यस्य ब्रह्म यस्य सोमः-यस्य-इदं राधः-वर्धनम् ) महत्त्वपूर्ण ज्ञान जिसका सोम आदि ओषधिगण जिसका यह विविध चान्दी सोना आदि धन जिसका वर्धन गुण यशो वर्धन-गुण यश बढाने वाला है-उससे सम्पन्न उसको दिया ज्ञान-उस सम्पन्न या उसका दिया ओषधि-अन्नसमूह, उससे सम्पन्न या उसका दिया विविध आवश्यक धन उसको गुण यशोगान से बढाने वाला है (जनासः सः-इन्द्र) हे जनो ! वह इन्द्र व्याप्त विद्युद्देव और परमात्मा है ॥ १४ ॥

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१५॥

( यः-दुध्रः ) जो दुर्धर-दुःख से धरने-सहने योग्य-जिसके प्रहार या दण्ड को सहना सुगम नहीं वह ऐसा 'दुध्र-दुर्ध्र-छान्दसो वर्णलोपः' (सुन्वते पचते चित् ) अपने ज्ञान के निष्पादन करने वाले के लिये तथा पचाने सात्म्य करने वाले के लिये भी ( वाजम् आदर्दर्षि ) बल तथा भोज्य अन्न को "वाज बलनाम" [ निघ० २।६ ] "वाजः-अन्ननाम" [ निघ० २।७ ] का आदारण-निष्कासन निष्पादन करता है जैसे खनि या खेत से धन अन्न का आदारण निष्कासन किया जाता है 'आङ्पूर्वकात् दृधातोः

श्लुश्छान्दसः' (सः किल सत्यः असि) वह तू हां सत्य है अवाध्य है ( इन्द्र वयं प्रियासः सुवीरासः-विश्वह ते विदथम् आ वदेम) हे इन्द्र व्याप्त विद्युद्देव या परमात्मन्! हम प्रिय और अच्छे वीर्यवान् बलवान् होते हुए सब दिन 'विश्वह विश्वाहः, अकारसुलोपौ छान्दसौ' तेरे विज्ञान या ज्ञान घोषित करते रहें उसका प्रयोग और प्रचार करते रहें ॥ १५ ॥

---

ऋषि;—भौमोऽत्रिः ( पृथिवी के बाहिरी स्तरों का वेत्ता विद्वान् )
देवता—पर्जन्यः ।

**अच्छा वद तवसं गीर्भिराभिः स्तुहि पर्जन्यं नमसा विवास ।**
**कनिक्रदद् वृषभो जीरदानू रेतो दधात्योषधीषु गर्भम् ॥ १ ॥**

( तवसं पर्जन्यम् ) बलवान् मेघ को "तवसं बलनाम" [ निघ० २।६ ] 'अकारो मत्वर्थीयश्छान्दसः' ( अच्छा वद ) प्राप्त करने को गति प्रगति कर "अच्छ–आप्तुम्" [ निरु० ५।२८ ] "वदति गतिकर्मा" [ निघ० २।१४ ] ( आभिः–गीर्भिः–स्तुहि ) इन वैज्ञानिक उक्तियों द्वारा प्रशंसित कर ( नमसा विवास ) अन्नादि से–यज्ञ में अन्नादि की आहुति से परिचरण कर विवासित कर–उपयुक्त कर ( कनिक्रदत्–वृषभः ) शब्द करता हुआ–गर्जता हुआ वर्षणशील मेघ ( जीरदानुः ) शीघ्र फलदाता "जीराः क्षिप्रनाम" [ निघ० २।१५ ) या जीवनदाता "जीवेरदानुकः" [ महाभाष्य ] ( ओषधीषु रेतः–गर्भं दधाति ) ओषधियों के निमित्त पृथिवी में रेतः–जलरूप रेतः पुनः उन ओषधियों में प्राणियों की गर्भशक्ति को धारण करता है † ॥ १ ॥

**वि वृक्षान् हन्त्युत हन्ति रक्षसो विश्वं बिभाय भुवनं महावधात् ।**
**उतानागा ईषते वृष्ण्यावतो यत्पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति दुष्कृतः ॥ २ ॥**

† "ओषधीषु गर्भं गर्भस्थानीयं रेतः–उदकं दधाति" ( सायणः )
"ओषधीषु रेतः–उदकं गर्भं दधाति" ( दयानन्दः )

( पर्जन्यः ) मेघ ( वृक्षान् विहन्ति ) वेग से बरसता हुआ वृक्षों को विहत कर देता है—विविध रूप से गिरा देता है ( उत रक्षसः-हन्ति ) रक्षा जिनसे की जाती है उन चोर आदि दुष्ट जनों को भी हत कर देता है—दुष्काल के अभाव हो जाने अर्थात् दुष्काल के नष्ट होजाने से सुकाल की प्रवृत्ति हो जाने पर चोरी आदि न कर सकने से ( महावधात्-विश्वं भुवनं बिभाय ) इसके महा वधकारक प्रहार से सारा प्राणि-जगत् डरता है ( वृष्ण्यावतः-अनागाः-उत-ईषते ) वर्षणशील धाराओं वाले मेघ से अनपराधी जन भी दौड़ जाता है "इषति गतिकर्मा" [ निघ० २,१४ ] पुनः ( दुष्कृतः-यत् पर्जन्यः स्तनयन् हन्ति ) दुष्कर्म करने वाले जनों को उनके पाप-कारण से भीत होने पर यह मेघ गरजता हुआ मार देता है ॥ २ ॥

रथीव कशयाश्वाँ अभिक्षिपन्नाविर्दूतान् कृणुते वर्ष्याँ अह ।
दूरात् सिंहस्य स्तनथा उदीरते यत्पर्जन्यः कृणुते वर्ष्यं नभः
॥ ३ ॥

( यत् पर्जन्यः ) जब मेघ ( वर्ष्यं नभः कृणुते ) वर्षा योग्य नभमण्डल को कर देता है ( रथी-इव कशया ) जैसे रथवान् ताडनसाधनी रज्जु-हण्टर से ( अश्वान्-अभिक्षिपन् ) घोड़ों को आगे प्रेरित करता है ऐसे † ( दूतान् वर्ष्यान्-अह-आविष्कृणुते ) दूतरूप मरुतों वातस्तरों को प्रेरित करता हुआ वर्षावाले बना देता है ‡ ( दूरात् सिंहस्य स्तनथाः-उदीरते ) सिंहसदृश मेघ के शब्द उच्च स्वर उठते हैं ॥ ३ ॥

---

† "अश्वान् मेघान्" ( सायणः )

‡ "दूतान् दूतवद् वृष्टिप्रेरकान्—मरुतो वा" ( सायणः )

प्र वाता वान्ति पतयन्ति विद्युत उदोषधीर्जिहते पिन्वते स्वः।
इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते यत्पर्जन्यः पृथिवीं रेतसावति
॥ ४ ॥

( यत् पर्जन्यः पृथिवीं रेतसा-अवति ) जब मेघ अपने जल से "रेतः-उदकनाम" [ निघ० १।१२ ] पृथिवी को तृप्त करता है "अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्ति......." [ भ्वादि० ] तब ( वाताः प्रवान्ति ) हवाएं चलती हैं ( विद्युतः पतयन्ति ) बिजलियां गिरती हैं चमकती हैं ( स्वः पिन्वते ) अन्तरिक्ष जल झिराता है ( ओषधीः-उज्जिहते ) ओषधियां उभरती हैं—उगती हैं ( इरा विश्वस्मै भुवनाय जायते ) अन्न "इरा-अन्ननाम" [ निघ० २।७ ] सब होने वाले प्राणि-समूह के लिए उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

यस्य व्रते पृथिवी नन्नमीति यस्य व्रते शफवज्जर्भुरीति ।
यस्य व्रत ओषधीर्विश्वरूपाः स नः पर्जन्यः महि शर्म यच्छ
॥ ५ ॥

( यस्य व्रते ) जिस मेघ के वर्षण कर्म हो जाने पर-बरस जाने पर "व्रतं कर्मनाम" [ निघ० २।१ ] ( पृथिवी नन्नमीति ) पृथिवी-भूमि अत्यन्त नम्र-नरम-गीली हो जाती है-ओष-धियों के गर्भधारण योग्य हो जाती है ( यस्य व्रते ) जिस मेघ के वर्षण कर्म में-बरसने पर ( शफवत्-जर्भुरीति ) खुरवाला गण-पशुमात्र अत्यन्त पोषित पालित होता है घास की उत्पत्ति से ( यस्य व्रते ) जिस मेघ के वर्षण कर्म में-बरसने पर ( विश्वरूपाः-ओषधीः ) सब रूपों वाली-सब

प्रकार वाली ओषधियां उत्पन्न होती हैं बढती हैं (सः पर्जन्यः-नः-महि शर्म यच्छ) वह तू हे मेघ! हमारे लिए महत्-बहुत सुख दे "शर्म सुखनाम" [ निघ० ३।६ ] ॥ ५ ॥

दिवो नो वृष्टिं मरुतो ररीध्वं प्रपिन्वत वृष्णो अश्वस्य धाराः ।
अर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेह्यपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः ॥६॥

( मरुतः-नः-दिवः वृष्टिं ररीध्वम् ) हे मरुतो-वातस्तरो ! हमारे लिए मेघमण्डल से वृष्टि को देवो-देते रहो ( वृष्णः-अश्वस्य धाराः प्रपिन्वत ) वर्षक-बरसने वाले तथा व्यापन शील मेघ की धाराओं को सींचो "पिवि सेचने सेवने च" [ भ्वादि० ] ( असुरः-न-पिता-अपः-निषिञ्चन् ) मेघ "असुरो मेघनाम" ( निघ० १।१० ) हमारा पालक जलों को सींचने के हेतु ( एतेन स्तनयित्नुना-अर्वाङ्-एहि ) इस कडक ध्वनि करने वाले विद्युद् देव के साथ "एहि-एतु पुरुषव्यत्ययः" इधर-नीचे आवे ॥ ६ ॥

अभि क्रन्द स्तनय गर्भमा धा उदन्वता परि दीया रथेन ।
दृतिं सु कर्ष विषितं न्यञ्चं समा भवन्तूद्वतो निपादाः ॥ ७ ॥

( अभिक्रन्द ) हे मेघ ! तू पृथिवी पर बरसने को अभिमुख गमन कर "क्रदि वैक्लव्ये वैकल्ये च" ( भ्वादि० ) ( स्तनय ) गरज करके "स्तन देवशब्दे" ( चुरादि ) ( गर्भम् आधाः ) पृथिवी में वनस्पतियों का गर्भ धारण करा ( उदन्वता रथेन परिदीया ) जलवाले रथ-रमणक्रम से सब ओर से पृथिवी पर परिभ्रमण कर-घूम वरसता चला जा "दीयति गतिकर्मा" (निघ० २।१४ ) ( विषितं दृतिम् ) जल पूर्ण खुली मशक समान

अपने जल पूर्ण अङ्ग को ( न्यञ्च सुकर्ष ) नीचे की ओर सम्यक् सरका दे-छोड़ दे ( उद्वतः-निपादाः समाः-भवन्तु ) ऊंचे स्थान निम्न प्रदेश सब समान स्थान वर्षाजल से हो जावें ऊंचे नीचे प्रदेशों पर वर्षाएं हो जावें हरियाले हो जावें+ "शस्यं च समा च" ( निरु० ६.३५,३६ )॥ ७ ॥

महान्तं कोशमुदचा निषिञ्च स्यन्दन्तां कुल्याः विषिताः पुरस्तात् । घृतेन द्यावापृथिवी व्युन्धि सुप्रपाणं भवत्वघ्न्याभ्यः ॥ ८ ॥

( महान्तं कोशम्-उदञ्च निषिञ्च ) हे मेघ ! तू अपने जल-पूर्ण महान् कोश को ऊपर से खोल और नीचे सींच दे ( पुरस्तात्-विषिताः कुल्याः स्यन्दन्ताम् ) प्रथम से विशेष बंधी हुई रुकी हुई कुल्याएँ पृथिवी पर बहने लगें ( घृतेन द्यावा-पृथिवी व्युन्धि ) जल से द्युलोक और पृथिवी लोक को गीला कर दे "घृतमुदकनाम" ( निघ० १।१२ ) ( अघ्न्याभ्यः सुप्रपाणं भवतु ) गौ आदि पशुओं के लिए भली प्रकार पान करने योग्य वृष्टि से तडाग आदि हो जावें-भर जावें ॥ ८ ॥

यत्पर्जन्य कनिक्रदत्स्तनयन् हंसि दुष्कृतः ।
प्रतीदं विश्वं मोदते यत्किं च पृथिव्यामधि ॥ ९ ॥

( पर्जन्य ) हे मेघ ! ( यत् ) जब ( कनिक्रदत् ) शब्द करता हुआ-गर्जता हुआ ( स्तनयन् ) कडकता हुआ ( दुष्कृतः-हंसि ) बुरा करने वाले दुर्भिक्ष रोगादि का हनन करता है ( पृथिव्याम्-अधियत् किञ्च-इद विश्वम् ) पृथिवी पर जो

---

× समा समानाः ( सायणः )
समाः वर्षाणि ( दयानन्द )

कुछ भी यह सब प्राणी मात्र ( प्रतिमोदते ) प्रतिमोदन करता है-हर्ष को प्रतीत करता है ॥ ६ ॥

अवर्षीर्वर्षमुदु षू गृभायाकर्धन्वान्यत्येतवा उ ।
अजीजन ओषधीर्भोजनाय कमुत प्रजाभ्योऽविदो मनीषाम्
॥ १० ॥

( अवर्षीः ) पर्जन्य-मेघ ! तू बरसता है ( वर्षं सु-उद्गृभाय ) वर्षा का सम्यक् उद्ग्रहण भी करता है-रोक देता है ( धन्वनि-अति एतवे-उ ) मरुप्रदेशों के प्राप्त करने को-जाने को ( भोजनाय-ओषधीः-अजीजनः ) भोजन के लिए ओषधियों को उत्पन्न करता है ( कम् उत ) अपितु ( प्रजाभ्यः-मनीषाम्-अविदः ) प्रजायमान प्राणियों में जीवन की इच्छा को तू प्राप्त कराता है ॥ १० ॥

---

# ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ५४

ऋषिः—वसिष्ठः ( अत्यधिक वसने वाला-बहुत काल तक घर में रहने वाला जन )

देवता—वास्तोष्पतिः ( घर का पालक रक्षक सुव्यवस्थित वातावरण )

**वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्त्स्वावेशो अनमीवो भवा नः ।**

**यत्त्वेमहे प्रति तन्नो जुषस्व शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥१॥**

( वास्तोष्पते ) हे वास्तु—वासस्थान—घर के पालक रक्षक घर के अन्दर सब ऋतुओं में प्राप्त होने वाले वायु "निरुक्तानुसार मध्यस्थानीय देव"† ( अस्मान् प्रति जानीहि ) हमें सावधान रख (नः स्वावेशः-अनमीवः—भव) हमारे लिए अच्छा आश्रय देने देनेवाला और अरोग—रोगरहित हो ( यत् त्वा—ईमहे ) जब हम तुझे श्वास द्वारा लेना चाहते हैं "ईमहे याञ्चाकर्मा" ( निघं० ३।१६ ) ( तत्—नः प्रति जुषस्व ) तब तू हमें प्रतिसेवित करता है—या तृप्त करता है 'लडर्थे लोट्' ) ( नः—शं द्विपदे चतुष्पदे शं भव ) हमारे लिए कल्याणकारी हमारे अन्य दोपैर वाले और चार पैर वाले के लिए कल्याणकारी हो ॥

आधिभौतिक दृष्टि से—

हे घर के वृद्ध पालक जन ! तू हमें सावधान करता रह, हमारा अच्छा आश्रय हो और हमें रोगों से रहित रहने का उपदेश देने वाला हो, जब हम कल्याणवचनश्रवणार्थ तुझे

---

† "गृहस्य पालयितर्देव" ( सायणः )

प्रार्थित करें तो तू भी हमें अपने वचनामृत सुना कर तृप्त कर, इस प्रकार हमारा कल्याणकारी हो और हमारे दो पैर वाले तथा चार पैर वाले पशु के लिए भी कल्याण करने वाला सिद्ध होता रह ॥ १ ॥

वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो ।
अजरासस्ते सख्ये स्याम पितेव पुत्रान् प्रति नो जुषस्व ॥२॥

( इन्दो वास्तोष्पते ) हे सुखैश्वर्यसम्पादक ! ऋतुओं के अनुसार प्राप्त घर के पालक वायु ! ( नः प्रतरणः-गयस्फानः-एधि ) तू हमारे लिए जीवन-वर्धक और प्राणपोषक हो-बन "प्राणा वै गयाः" [ श० १४।८।१५।७ ]+ ( ते सख्ये गोभिः-अश्वेभिः-अजरासः स्याम ) तेरी मित्रता में गौओं सहित घोडों सहित हम जरा के कष्ट से रहित हों ( पिता-इव पुत्रान् नः प्रतिजुषस्व ) पिता जैसे पुत्रों को तृप्त करता है ऐसे हमें तृप्त कर ॥

अधिभौतिक दृष्टि से—

हे सुखैश्वर्यसम्पादक ! घर के वृद्ध पालक रक्षक जन ! तू हमारा उन्नतिकर्त्ता, घर परिवार का विस्तारक है "गृहस्य वर्धकः" [ दयानन्दः ] "गयः-गृहनाम" [ निघ० ३।४ ] तेरे स्नेह में हम गौओं घोडों सहित जरा के कष्ट से रहित हो सकें ऐसा कुछ करें समझावें, तू पिता है या पिता के समान पितामह होता हुआ हम पुत्रों को तृप्त कर ॥ २ ॥

वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या ।
पाहि क्षेम उत योगे वरं नो यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः
॥ ३ ॥

---

+ "गय स्फानः—धनस्य स्फायिता" ( सायणः )

( वास्तोष्पते ) हे ऋतुओं के अनुसार प्राप्त घर के पालक वायु ! ( शग्मया ) सुखकारी–( रण्वया ) रमणीया–( गातुमत्या ) प्रशस्त भूमि वाली–‡ "गातुः पृथिवीनाम" [ निघ० १।१ ] ( संसदा ) सम्यक् स्थली के साथ वर्तमान हुए ( ते सक्षीमहि ) तेरे साथ या तुझे समवेत–सङ्गत होते हैं 'द्वितीयार्थे षष्ठी' "षच समवाये" [ भ्वादि० ] ( नः ) हमारे ( वरम् ) अभीष्ट को ( क्षेमे ) रक्षण में ( उत ) और ( योगे ) प्राप्ति में ( पाहि ) सुरक्षित कर ( यूयं सदा स्वस्तिभिः–नः पात ) तू सदा कल्याण-धाराओं से हमारी रक्षा कर ॥

आधिभौतिक दृष्टि से—

हे घर के वृद्ध पालक रक्षक जन ! सुखकर–रमणीय–प्रशस्त भूभाग वाली–सम्यक् बैठने रहने योग्य गद्दी के समर्पण द्वारा तेरे पास में सम्यक् रहें. तू हमारे अभीष्ट को योग क्षेम में प्राप्ति और रक्षण में रख और अपने कल्याण–वचनों से हमारी रक्षा कर ॥ ३ ॥

---

‡ "धनवत्या" ( सायणः ) इत्यन्यथार्थः ।

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ६०

इस सूक्त की व्याख्या देखो यजुर्वेद अध्याय ३१ में पृष्ठ सं० १२७

---

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ११७

ऋषिः—भिक्षुः [ परमात्मसत्सङ्ग का भिक्षु गौणरूप में अन्न का भी भिक्षु परमात्मसत्सङ्गार्थ ही भिक्षु ( अन्न का भिक्षु ) ]

देवता—धनान्नदानप्रशंसा, इन्द्रश्च ( धनान्नदान की प्रशंसा और भिक्षाचर्या में अभीष्ट परमात्मा )

**न वा उ॑ दे॒वाः क्षुध॒मिद्व॒धं द॑दुरु॒ताशि॑त॒मुप॑ गच्छन्ति मृ॒त्यवः॑।**
**उ॒तो र॒यिः पृ॑ण॒तो नोप॑ दस्यत्यु॒ताापृ॑ण॒न्मर्डि॒तारं॒ न वि॑न्दते ॥ १ ॥**

( देवाः क्षुधम्—इत्—वधं न वै-उ ददुः ) विद्वानों ने भूख को ही निश्चय से वध—नाश नहीं धारण किया—माना †। क्योंकि ( आशितम्—उत मृत्यवः—उपगच्छन्ति ) खा चुके हुए—भरे पेट वाले मनुष्य के पास भी मृत्युएं जाती हैं अपितु नाना रूप में प्राप्त होती हैं ( उत—उ ) तथा च ( पृणतः ) दूसरे को निज अन्न धन आदि से तृप्त करते हुए का ( रयिः—न उपदस्यति ) अन्न धन आदि क्षीण नहीं होता ( उत ) अपितु ( अपृणन् मर्डितारं न विन्दते ) दूसरे की तृप्ति

---

† दण्डो ददतेर्धारयतिकर्मणः—अक्रूरो ददते मणिम्" ( निरु० २।२ )

—बुभुक्षाशान्ति न करता हुआ जन सुख देने वाले परमात्मा को प्राप्त नहीं करता ॥ १ ॥

य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नवान्त्सन् रफितायोपजग्मुषे ।
स्थिरं मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते ॥ २ ॥

( यः—अन्नवान् सन् ) जो अन्न वाला होता हुआ ( आध्राय ) क्षीणवृत्ति जन—दरिद्र अङ्गभङ्ग के लिए ‡ ( रफिताय ) हिंसित—व्यथित, अन्य प्राणी के द्वारा या रोग के द्वारा पीडित † ( उपजग्मुषे ) शरणागत निर्बल कृश के लिए ( पित्वः—चकमानाय ) अन्न की कामना करते हुए विद्वान् भिक्षु के लिए ( मनः स्थिरं कृणुते ) मन को ढीट बनाता है मन को हिलाता नहीं ( उत—उ ) अपितु ( पुरा चित् सेवते ) स्वयं प्रथम ही अन्न का सेवन करता है—खा लेता है ( सः—मर्डितारं न विन्दते ) वह सुखदाता परमात्मा को प्राप्त नहीं करता ॥ २ ॥

स इद् भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय ।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम् ॥ ३ ॥

( सः इत्—भोजः ) वही भोजनदाता भोजन कराने वाला है ( यः ) जो ( गृहवे ) ग्रहणकर्त्ता—भोजनदान के लेने वाले के लिए ( अन्नकामाय ) अन्न चाहने वाले विद्वान् के लिए ( चरते ) भटकते हुए व्यक्ति के लिए ( कृशाय ) निर्बल के लिए ( ददाति ) देता है ( यामहूतौ अस्मै-अरं भवति ) याम

---

‡ धृङ् अवध्वंसने" ( स्वादि० )
"आध्र आढ्यालुर्दरिद्रः" ( निरु० १२.१४ )

† "रफ हिंसायाम्" ( कविकल्पद्रुमः )

अर्थात् समय-अवसर की पुकार पर देने लेने खाने के समय भोजन की आवश्यकता पर इस अन्नदाता के लिये अन्न पर्याप्त हो जाता है ( उत ) तथा ( अपरीषु सखायं कृणुते ) दूसरी प्रजाओं में अपने को मित्र बनाता है—प्यारा बनाता है ॥ ३ ॥

न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः ।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्
॥ ४ ॥

( सः—न सखा ) वह मित्र नहीं ( यः सचाभुवे सचमाना सख्ये पित्वः—न ददाति ) जो साथ रहने वाले काम आने वाले, अवसर पर साथ देने वाले, सखा के लिए अन्न नहीं देता है। पुनः ( अस्मात्—अपप्रेयात् ) वह उससे अलग हो जाता है—उसे छोड़ देता है ( तत्—ओकः—न—अस्ति ) वह रहने का स्थान नहीं ऐसा मानता है। अपितु ( अन्यं पृणन्तम्—अरणं चित्—इच्छेत् ) अन्य सद्भाव से तृप्त करने वाले पर जन तक को चाहता है उसके पास जाने को उद्यत हो जाता है ॥ ४ ॥

पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान् द्राघीयांसमनु पश्येत पन्थाम् ।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्ठन्त रायः ॥ ५ ॥

( तव्यान् ) प्रवृद्ध समृद्ध जन ‡ ( नाधमानाय पृणीयात्—इत् ) याचना करते हुए पात्र अतिथि आदि को तृप्त करे ही ( द्राधीयांसं पन्थाम्—अनुपश्येत् ) लम्बे—दूर तक—उदारता के मार्ग को देखे—समझे। क्योंकि ( रायः ) धन—सम्पत्तियां ( आ—वर्तन्ते—उ हि रथ्या चक्रा—इव ) रथ के पहियों की

‡ "तु वृद्धौ" ( अदादि )

भांति ही सदा आवर्तन किया करती हैं ( अन्यम्-अन्यम्-उपतिष्ठन्ते ) अन्य अन्य के पास आती जाती हैं ॥ ५ ॥

मोघमन्नं विन्दते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत् स तस्य ।
नार्यमणं पुष्यति नो सखायं केवलाघो भवति केवलादी ॥६॥

( अप्रचेताः-मोघम्-अन्नं विन्दते ) वह अप्रकृष्टबुद्धि-निर्बुद्धि बेसमझ मनुष्य व्यर्थ अन्न को प्राप्त करता है-कर रहा है ( सत्यं ब्रवीमि ) सत्य कहता हूं ( वधः-इत् सः-तस्य ) वध-वधक-घातक ही है वह उसका-उसके लिये ( अर्यमणं न पुष्यति न-उ सखायम् ) जो उस अपने अन्न से न ईश्वरोपासक पूजनीय विद्वान् † का पोषण करता है न ही समानवंशीय बन्धु तथा समानगुणी मित्र जन का पोषण करता है ऐसा वह ( केवलादी केवलाघः-भवति ) स्वयं खाने वाला मात्र पापी-नितान्त पापी निश्चित पापी होता है ॥ ६ ॥

कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः ।
वदन् ब्रह्मावदतो वनीयान् पृणन्नापिरपृणन्तमभि ष्यात् ॥७॥

( कृषन्-इत् फालः आशितं कृणोति ) खेत जोतता हुआ फाल-फालयुक्त हल किसान को अन्न भोक्ता करता है या फालवान् किसान कृषि करता हुआ अपने को अन्नभोक्ता-अन्न खाने में अधिकारी समर्थ बनाता है अपने अन्न को उपजाता है ( यन् चरित्रैः अध्वानम्-अपवृङ्क्ते ) चलता

---

† "अर्यमा सप्तहोतॄणां होता" ( तै० २।३।५।६ )
अर्यं स्वामिनमीश्वरं मिमते मन्यते जानातीति वा"
( उणादि० १।१५९ )

हुआ मनुष्य चलनकर्मों–कदमों तथा चलने के साधनों से मार्ग को लांघता है–यात्रा समाप्त करता है–रास्ता तय करता है (वदन् ब्रह्मा–अवदतः वनीयान् ) प्रवचन करता हुआ ब्राह्मण न बोलने वाले से सम्भजनीय है–प्रिय है–सत्करणीय है। एवं (पृणन्–आपिः अपृणन्तम्–अभिष्यात् ) अन्नादि से तृप्त करता हुआ प्राप्त जन–समीपी जन न तृप्त करते हुए–न देते हुए पर अभिभूत हो जाता है ॥ ७ ॥

एकपाद् भूयो द्विपदो विचक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे स पश्यन् पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ॥ ८ ॥

( एकपात्–द्विपदः–भूयः–विचक्रमे ) धनादि साधन का एक पाद एक भाग रखने वाला उसके सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग के द्वारा दो पाद वाले–दो भाग रखने वाले से अधिक विक्रम कर जाता है–आगे बढ जाता है—ऊपर उठ जाता है ( द्विपात् त्रिपादं पश्चात्–अभ्येति ) धनादि साधन के दो पाद वाला–दो भाग रखने वाला उसके सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग से तीन पाद रखने वाले तीन भाग रखने वाले को पीछे प्रेरित कर देता है–पीछे ढकेल देता है। ( चतुष्पात्–उपतिष्ठमानः ) अन्न आदि साधन के चार पाद वाला–चार भाग रखने वाला बैठा हुआ–उसका सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग न करता हुआ ( द्विपदां पङ्क्तीः सम्पश्यन्–अभिस्वरे–एति ) अन्य सदुपयोग सत्प्रयोग सदुद्योग कर्ता दो पाद वालों दो भाग वालों की पगडण्डियों को देखता हुआ उनके अभिघोष–आदेश † पर चलता है ॥ ८ ॥

---

† "स्वृ शब्दे" ( भ्वादि० )

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः सम्मातरा चिन्न समं दुहाते ।
यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः
॥ ६ ॥

( समौ चित्-हस्तौ समं न विविष्टः ) एक जैसे हाथ भी कार्य में समान प्रवेश नहीं करते ( सम्मातरा चित्-न समं दुहाते ) बच्चे का एक जैसा निर्माण करने वाली दो धायाए समान रूप में दूध नहीं पिलाती ( यमयोः-चित् समा वीर्याणि न ) दो युगलों-जुडवां बच्चों के भी कार्य करने में समान बल नहीं होते, एवं ( ज्ञाती चित् सन्तौ न समं पृणीतः ) परस्पर सम्बन्धी एकवंशीय दो बन्धु होते हुए भी समान अन्न-धनसम्पत्ति से अधिकारी याचक को समान रूप में तृप्त नहीं करते ॥ ६ ॥

---

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२१

ऋषिः—हिरण्यगर्भः प्राजापत्यः ( प्रजापति परमात्मा की उपासना से उसके विराट् स्वरूप एवं उसके तेज को अपने अन्दर धारण कर्ता प्रजापति परमात्मा का उपासक )

देवता—कः ( प्रश्नात्मक अनिर्वचनीय सुखस्वरूप प्रजापति परमात्मा )

**हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।**
**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥१॥**

(हिरण्यगर्भः) हिरण्यमय—चमचमाता हुआ गर्भ सूर्यादिमय मध्यवर्ती गर्भसदृश भुवन जिसका है* अथवा हिरण्य प्रकाशमान सूर्यादिपिण्डसमूह गर्भ में मध्य में जिसके हैं वह हिरण्यगर्भ परमात्मा ( भूतस्य ) उत्पन्न हुए समस्त जगत् का पूर्ण ( जातः ) प्रसिद्ध ( एकः पतिः-आसीत् ) अकेला स्वामी है। वह ( अग्रे समवर्तत ) उत्पन्न जगत् से पूर्व वर्तमान था ( सः ) वह ( इमां पृथिवीम् ) इस पृथिवी को ( उत द्याम् ) और द्युलोक को ( दाधार ) धारण कर रहा है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस सुखस्वरूप प्रजापति‡ परमात्मदेव के लिए नम्रभावनारूप भेंट से स्वात्मा को समर्पित करें ॥ १ ॥

---

* "हिरण्यगर्भः-हिरण्यमयो गर्भोऽस्य" ( निरु० १०।२३ )

‡ "को वै प्रजापतिः" ( गो० पू० ६।३ )
"प्रजापतिर्वै कः" ( ऐ० २।३७ )
"सुखं वै कम्" ( गो० उ० ६।३ )

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
यस्य च्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २॥

( यः-आत्मदाः-बलदाः ) जो आत्मज्ञान का देने वाला, बल का देने वाला† ( यस्य विश्वे देवाः ) जिसके अधीन हुए समस्त चेतनदेव विद्वान् बुद्धिमान् विवेचनशील जन और जड देव सूर्य आदि ( यस्य प्रशिषम्-उपासते ) जिसके प्रशासन को सेवन करते हैं-मानते हैं ( यस्य छाया-अमृतम् ) जिसकी शरण अमृत है ( यस्य मृत्युः ) जिसकी अशरण मृत्यु है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस ऐसे प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिए प्रेम नम्रता सद्भावरूप भेंट द्वारा आचरण करें ॥ २ ॥

यः प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३॥

( यः ) जो परमात्मा ( प्राणतः-निमिषतः ) प्राण लेते हुए और शान्त चेष्टा करते हुए जडरूप ( जगतः ) जगत् का ( महित्वा ) अपने महत्व से ( एकः-इत् ) अकेला ही ( राजा बभूव ) राजा है ( यः ) जो ( अस्य द्विपदः-चतुष्पदः-ईशे ) इस दो पैर वाले मनुष्य आदि चार पैर वाले प्राणी पर स्वामित्व करता है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिए अपने प्रेम नम्रता सद्भावरूप भेंट समर्पित करें ॥ ३ ॥

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः ।
यस्येमाः प्रदिशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४॥

---

† "आत्मानां दाता आत्मनो हि सर्वे परमात्मन उत्पद्यन्ते यद्वा आत्मनां शोधयिता 'दैप् शोधने' " ( सायणः )

( इमे हिमवन्तः ) ये हिम वाले पर्वत ( यस्य महित्वा–आहुः ) जिसके महत्त्व को कह रहे हैं ( रसया सह समुद्रं यस्य ) नदियों सहित समुद्र–नदियां समुद्र जिसके महत्त्व को कह रहे हैं ( इमाः प्रदिशः–यस्य बाहू ) ये समस्त दिशायें जिसकी बाहू अर्थात् धारण सामर्थ्य हैं ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिए प्रेम नम्रता श्रद्धा सद्भाव की भेंट प्रदान करें ॥ ४ ॥

येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा येन स्वः स्तभितं येन नाकः ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥५॥

( येन–उग्रा द्यौः पृथिवी च दृढा ) जिस परमात्मा ने तेजोमय द्युलोक को और पृथिवी लोक को दृढ किया ( येन स्वः स्तभितं येन नाकः ) जिसने सुख तथा नितान्त दुःख रहित मोक्ष को धारण किया है ( यः–अन्तरिक्षे रजसः विमानः ) जो अन्तरिक्ष में लोक मात्र को सम्भालने वाला है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस सुखस्वरूप प्रजापति परमात्मा के लिए प्रेम श्रद्धा भेंट समर्पित कर स्वागत करें ॥ ५ ॥

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेतां मनसा रेजमाने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥६॥

( क्रन्दसी ) रोदसी–द्यावा पृथिवी † ( तस्तभाने ) उस परमात्मा से रोके या ताने हुए ( अवसा ) रक्षण के हेतु ( रेजमाने ) कांपते हुए ‡ ( मनसा ) मन से मानो अन्दर ही

† "क्रन्दसी रोदसी" "क्रदि रोदने" ( भ्वादि० ) अर्थसामान्य से यहां रोदसी द्यावापृथिवी है ।

‡ "राजमाने प्रकाशमाने" ( सायणः )

अन्दर ( यम्-अभ्यैक्षेताम् ) जिसको देखते हैं 'यह वर्णन काव्य भाषा का है'। अथवा विभक्तिव्यत्यय से, ( यम् ) 'येन' जिसने ( अवसा ) स्वरक्षण शक्ति से ( क्रन्दसी ) द्यावा-पृथिवी को ( मनसा ) मनन शक्ति से ( अभ्यैक्षेताम् ) देखे हैं ( यत्र-अधि ) जिसके आधार पर ( सूरः-उदितः ) सूर्य उदय हुआ हुआ ( विभाति ) चमकता है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस प्रजापति सुख स्वरूप परमात्मा के लिए प्रेम श्रद्धा नम्रता भेंट प्रदान करें ॥ ६ ॥

आपो ह यद् बृहतीर्विश्वमायन् गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवानां समवर्ततासुरेकः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥७॥

( बृहतीः-आपः-ह यत्-अग्निं जनयन्तीः-गर्भं दधानाः ) सृष्टि के आरम्भ में महान् अप्तत्व * परमाणुप्रवाह जब अग्नि को-आग्नेय पदार्थ को उत्पन्न करने के हेतु गर्भ-धारण करते हुए ( विश्वम्-आयन् ) विश्व में प्रकट हुए तो ( ततः ) फिर ( देवानाम्-असुः-एकः समवर्तत ) समस्त-अग्नि आदि देवों का प्राणरूप एक देव देवों का देव परमात्मा वर्तमान था ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस प्रजापति सुख स्वरूप के लिए हम प्रेम श्रद्धा भेंट द्वारा अपने को समर्पित करें ॥ ७ ॥

यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद् दक्षं दधाना जनयन्तीर्यज्ञम् ।
यो देवेष्वधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥८॥

---

* आपो वा इदमग्रे यत्सलिलमासीत् ( जै० उ० १।५६।१ ) 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्" ( ऋ० १०। १२९।३ )

( यः-चित् ) और जिसने ( महिमा ) अपने महत्त्व से-महत्ता से ( यज्ञं जनयन्तीः ) सृष्टि यज्ञ-संसार यज्ञ समष्टि को उत्पन्न करने के हेतु † ( दक्षं दधानाः-आपः पर्यपश्यत् ) बल को-प्रवाहरूप वेग को ‡ धारण करते हुए जल समान वहने वाले परमाणुओं को "अपः-द्वितीयार्थे प्रथमा" देखा * किसने देखा सो कहते हैं ( यः-देवेषु-अधि-एकः-देवः-आसीत् ) जो देवों में एक देव था और है ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) उस द्रष्टा प्रजापति सुखस्वरूप परमात्मा के लिए प्रेम श्रद्धा नम्रता भेंट समपर्ण करें ॥ ८ ॥

मा नो॑ हिंसीज्जनि॒ता यः पृ॑थि॒व्या यो वा॒ दिवं॑ स॒त्यध॑र्मा ज॒जान॑ ।
यश्चा॒पश्च॒न्द्रा बृ॑ह॒तीर्ज॒जान॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥९॥

( यः ) जो पृथिव्यः-जनिता ) पृथिवी का उत्पन्न करने वाला है ( वा ) और + ( यः ) जो ( सत्यधर्मा ) सत्य धर्म वाला, अकाट्य नियम वाला ( दिवं जजान ) द्युलोक को उत्पन्न करता है ( च ) और ( यः ) जो ( बृहतीः-चन्द्राः-आपः-जजान ) महान् आह्लादकारी जलों को या नक्षत्रतारों से भरे अन्तरिक्ष लोक को × भी उत्पन्न करने वाला है। वह

---

† लक्षणहेत्वोः क्रियायाः ( अष्टा० ३ । २ । १२६ )

‡ "दक्षं बलम्" ( निघ० २।९ )

* "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" ( मनु० १।८ )
"आपः = अपः" विभक्तिव्यत्ययः । व्यत्ययेन प्रथमा अपः" (सायणः)

+ 'वा-अथापि समुच्चयार्थे वायुर्वा त्वा मनुर्वा त्वा वायुश्च त्वा मनुश्च त्वा" ( निरु० १।५ )

× "आपोऽन्तरिक्षनाम" ( निघं० १।३ )

( नः-मा हिंसीत् ) हमें हिंसित न करे-हिंसा से बचावे-बचाता है उस ( कस्मै देवाय हविषा विधेम ) सुखस्वरूप प्रजापति परमात्मा के लिए प्रेम श्रद्धा नम्रता रूप भेंट से अपना समर्पण करें ॥ ९ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव ।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ १० ॥

( प्रजापते ) हे प्रजायमान-उत्पन्न मात्र वस्तुओं के स्वामिन् ! ( त्वत्-अन्यः ) तुझ से भिन्न ( ता-एतानि विश्वा जातानि न परिबभूव ) उन इन सारे उत्पन्न हुए पदार्थों का अधिकर्त्ता नहीं है ( यत्कामाः-ते जुहुमः ) जो जो कामना रखते हुए हम तेरी आत्मभावनाओं से उपासना करें-अपने अन्दर तुझे धारण करें ( तत्-नः-अस्तु ) वह हमारी कामना सिद्ध हो ( वयं रयीणां पतयः स्याम ) हम उत्तमैश्वर्यों के स्वामी हों ॥ १० ॥

---

# ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२५

ऋषिः—वागाम्भृणी "अम्भृणः महन्नाम" [ निघ० ३।३ महान् परमात्मा की प्रचारिका व्यक्ति ]

देवता—वागम्भृणी ( परमात्मा की ज्ञानशक्ति पारमेश्वरी अनुभूति )

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥१॥

( अहम् ) मैं पारमेश्वरी ज्ञानशक्ति ( वसुभिः ) वसुओं आठ वसुओं के साथ ( रुद्रेभिः ) ग्यारह रुद्रों-प्राणों के साथ ( आदित्यैः ) बारह मासों के साथ ( उत ) तथा विश्वदेवैः ) ऋतुओं के साथ "ऋतवो वै विश्वदेवाः" ( शत० ७।१।१।४३ ) ( चरामि ) प्राप्त होती हूँ ( अहम् ) मैं ( उभा मित्रावरुणा ) दोनों दिन रात्रि को "अहोरात्रौ वै मित्रावरुणौ" ( तां० २५। १०।१० ) ( इन्द्राग्नी ) विद्युत् और अग्नि को ( उभा-अश्विना ) दोनों द्युलोक पृथिवीलोक को ( बिभर्मि ) धारण करती हूं ॥ १ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥२॥

(अहं-आहनसं सोमं बिभर्मि ) मैं पारमेश्वरी ज्ञानशक्ति दृष्टिदोष या अशान्ति के समन्त रूप से हनन कर्त्ता चन्द्रमा

को धारण करती हूँ † ( अहं त्वष्टारम्–उत पूषणं भगम् ) मैं सूर्य को और वायु को "अयं वै पूषा योऽयं पवते वातः" [ श० १४।२।१।६ ] एवं भग–भजनीय यज्ञ–श्रेष्ठतम कर्म को "यज्ञो भगः" [ श० ६।३।१५।१६ ] धारण करती हूँ ( अहं हविष्मते ) मैं हविः प्रदान करने वाले ( सुप्राव्ये ) पर्वों को सम्यक् प्रकृष्ट तृप्त करने वाले ( सुन्वते ) सोम का रस यज्ञार्थ निकालने वाले ( यजमानाय ) यजमान के लिए ( द्रविणं दधामि ) धन को धारण कराती हूं ॥ २ ॥

अहं राष्ट्री सङ्गमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥३॥

( अहं राष्ट्री ) मैं जगद्रूप राष्ट्र की स्वामिनी हूं "राष्ट्री ईश्वरनाम" [ निघ० २।२२ ] ( वसूनां सङ्गमनी ) समस्त धनों की सङ्गति–प्राप्ति कराने वाली हूं ( यज्ञियानां प्रथमा चिकितुषी ) यज्ञिय भावनाओं की प्रमुख चेताने वाली –ज्ञान-दात्री हूँ ( भूरि–स्थात्राम् ) बहुत रूप स्थिति वाली–( भूरि–आवेशयन्तीम् ) जड जङ्गमों में अपने को बहुत प्रकार से आविष्ट करती हुई ( तां मा ) उस मुझ को ( देवाः ) विद्वान् जन ( पुरुत्रा ) बहुरूप में ( व्यदधुः ) वर्णन करते हैं "एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति" [ ऋ० १।१६४।४६ ] ॥ ३ ॥

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम् ।
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥४॥

---

† 'आहन्तव्यमभिषोतव्य सोमं यद्वा शत्रूणामाहन्तारं दिवि वर्तमानं देवतात्मकं सोमम्" ( सायणः )

( यः-अन्नम्-अत्ति ) जो अन्न को खाता है ( विपश्यति ) विशेष देखता है ( यः-प्राणिति ) जो प्राण लेता है ( यः-ईम्-उक्तं शृणोति ) जो ही कहे को सुनता है ( सः-मया ) वह मेरे द्वारा खाता देखता प्राण लेता सुनता है ( माम्-अमन्तवः ) मुझे न मानने वाले हैं ( ते-उपक्षियन्ति ) वे क्षीण हो जाते हैं ( श्रुत. ) हे सुनने वाले श्रोता जन ! ( ते ) तेरे लिए ( श्रद्धिवं वदामि ) श्रद्धावाले श्रद्धायुक्त वचन को बोलती हूं ॥ ४॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः ।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ५ ॥

( अहम्-एव ) मैं ही ( स्वयम् ) स्वयं ( इदं वदामि ) यह कहती हूं ( देवेभिः-जुष्टम्-उत मानुषेभिः ) ऋषियों द्वारा मनुष्यों द्वारा सेवित किये हुये को ( यं कामये ) जिसको चाहती हूँ-पात्र समझती हूं ( तं तम्-उग्रम् ) उस उस को ऊंचा ( तं ब्रह्माणम् ) उसे ब्रह्मा ( तम्-ऋषिम् ) उसे ऋषि ( तं सुमेधाम् ) उसे अच्छी मेधा वाला ( कृणोमि ) मैं पारमेश्वरी शक्ति कर देती हूं ॥ ५ ॥

अहं रुद्राय धनुरातनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥६॥

( ब्रह्मद्विषे रुद्राय शरवे ) ब्राह्मण-वेदज्ञ के प्रति द्वेष करने वाले क्रूर हिंसक का ( हन्तवै-उ ) हनन करने के लिए ( अहं धनुः-आतनोमि ) मैं धनुष को तानती हूं ( अहं जनाय ) मैं जनमात्र के हितार्थ ( समदं कृणोमि ) अहितैषी के साथ संग्राम करती हूं ( अहं द्यावापृथिवी-आविवेश ) मैं द्युलोक से पृथिवीलोक तक में आविष्ट हो रही हूँ ॥ ६ ॥

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि॥७॥

(अस्य मूर्धन् पितरम्-अहं सुवे) इस जगत् के मूर्धास्थान-ऊंचे उत्कृष्ट भाग में पिता पालक सूर्य का "एष वै पिता य एष सूर्यः-तपति" [ श० १४। १। ४। १५ ] प्रकट करती हूं "द्यौर्मे पिता" [ ऋ० १। १६४। ३३ ] (मम योनिः-अप्सु समुद्रे-अन्तः) मेरी मात्री-निर्मात्री शक्ति जलों और समुद्र के अन्दर भी है ( ततः ) फिर ( विश्वा भुवना अनु वितिष्ठे ) सारे लोकों को अनुगत प्राप्त होकर व्याप्त होकर रहती हूं ( उत अमूं द्याम् ) और उस द्युलोक को (वर्ष्मणा-उपस्पृशामि) सुखवर्षक धर्म से स्पर्श करती हूं ॥ ७॥

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥८॥

( अहं विश्वा भुवनानि-आरभमाणा ) मैं सारे लोकलोकान्तरों का निर्माण करने के हेतु ( वातः इव प्रवामि ) वात वेगवान् वायु की भांति व्याप्त प्राप्त होती हूँ ( दिवा परः ) द्युलोक से परे ( एना पृथिव्या परः ) इस पृथिवी से परे ( महिना-एतावती सम्बभूव ) मैं अपनी महिमा से इतनी बडी स्वामिनी हुई हूं ॥ ८ ॥

---

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२९

ऋषि:—प्रजापति: परमेष्ठी ( सृष्टि से पूर्व स्वस्वरूप में वर्तमान विश्वराट् विश्वरचीयता परमात्मा, उपाधिरूप में भाववृत्त का ज्ञाता एवं प्रचारक भी प्रजापतिरूप में प्रसिद्धि-प्राप्त विद्वान् )

देवता—भाववृत्तम् ( वस्तुओं का उत्पत्तिवृत्त )

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत् ।
किमावरीवः कुह कस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥ १ ॥

( तदानीम् ) उस समय—सृष्टिकाल से पूर्व प्रलयावस्था में ( असत्-न-आसीत् ) शून्य नहीं था -नितान्त अभाव नहीं था । तथा ( सत् न-उ-आसीत् ) सत् अर्थात् प्रकटरूप में भी कुछ वर्तमान न था ( रजः-न-आसीत् ) रञ्जनात्मक प्रदेश-कणमय गगन अर्थात् अन्तरिक्ष लोक भी न था+ (परः-व्योम न-उ ) विश्व का सीमावर्ती आकाश-खगोल भी न था‡ पुनः ( किम्-आवरीवः ) कौन अत्यन्त घेरने योग्य-परिसीमित करने योग्य है-किसको परिसीमित किया जावे ऐसा भी कुछ न था ( कुह ) घेरने योग्य वस्तु के घेरने का प्रदेश भी कहां अर्थात् कहीं नहीं-कोई नहीं था । तथा ( कस्य शर्मन् ) किसके सुख

---

+ "भुजिरञ्जिभ्यां कित्" ( उणादि० ४।२१७ ) "सूक्ष्म धूलिः" ( दयानन्दः ) "रजसो अन्तरिक्षलोकस्य" ( निरु० १२ ७ )

‡ "विऽओम्"—वि-ओम्—विशेष रक्षक पारवर्ती सीवर्ती घेरा खगोलरूप आकाश ।

शान्ति के निमित्त* ( गहनं गभीरम्-अम्भः किम्-आसीत् ) गहन गम्भीर सूक्ष्म जल भी क्या हो अर्थात् कुछ नहीं था जिससे कि भोग्य सामग्री उत्पन्न होती है जिसमें कि आरम्भ सृष्टि में बीज ईश्वर डालता है† ॥ १ ॥

न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किं चनास ॥२॥

( मृत्युः-न-आसीत् ) सृष्टि से पूर्व मृत्यु-मारक शक्ति न थी ( तर्हि ) तब मृत्यु के अभाव में ( अमृतं न ) अमृत भी न था-न मारक शक्ति के विपरीत अमृत अर्थात् मुक्ति न थी-सब जीव मुक्तावस्था में थे ऐसा भी नहीं कह सकते, तथा ( रात्र्याः-अह्नः प्रकेतः-नः-आसीत् ) रात्रि का दिन का प्रज्ञान अर्थात् पहिचान पूर्वरूप भी न था । था तो केवल ( तत्-एकम्-अवातं स्वधया-आनीत् ) वह केवल वायु की अपेक्षा न रखता हुआ स्वधारणशक्ति से सदा जीता जागता चेतन ब्रह्म था । ( तस्मात्-अन्यत् किञ्चन परः-न-आस ) उससे भिन्न कोई दूसरा न था ॥ २ ॥

तम आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।
तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम् ॥३॥

( अग्रे तमसा गूढम् ) सृष्टि से पूर्व जो था अन्धकार से आवृत ( तमः-आसीत् ) अन्धकाररूप था ( इदं सर्वं सलिलम्-आः-अप्रकेतम् ) यह सब उस समय जो था वह जल की भांति जलसमान एकीभूत अविज्ञेय था ( तुच्छ्येन यत्-अपि-

---

* "शर्म सुखनाम" ( निघ० ३।६ )

† "अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" ( मनु० १।८ )

हितम्-आभु-आसीत् ) तुच्छरूप से छिपा हुआ 'आभु' सब ओर फैला हुआ जो अव्यक्त-प्रकृतिनामक उपादान कारण था (तपसः) परमात्मा के ज्ञानमय तपसे ( तत्-महिना-एकम्-अजायत ) वह महत्तत्त्व के रूप में एक अनन्त परमात्मा के सम्मुख प्रादुर्भूत हुआ ॥ ३ ॥

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत् ।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ॥४॥

( कामः-तत्-अग्रे समवर्तत ) सृष्टि से पूर्व काम अर्थात् जीवात्मा का वासनाभाव या सङ्कल्प वर्तमान था ( यत्-मनसः-अधिरेतः-आसीत् ) जो कि मन के अन्दर शरीरधारणार्थ एक बीजरूप था+ ( कवयः ) जिसे क्रान्तदर्शी विद्वानों ने ( असति सतः-बन्धुं मनीषा प्रतीष्य ) अशरीरी-आत्मा में आत्मा के निमित्त शरीर के बांधने वाले को अपनी विवेचनशील बुद्धि से प्रतीत करके-निश्चय करके ( हृदि निरविन्दन् ) हृदय में निर्विण्ण हो गये-वैराग्य को प्राप्त हो गये ॥ ४ ॥

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासी३दुपरि स्विदासी३त् ।
रेतोधा आसन् महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात् ॥५॥

( रेतोधाः- आसन् ) सृष्टि से पूर्व रेतोधाः थे अर्थात् रेतः-शरीर की बीज शक्ति जो पूर्व मन्त्र में काम भाव-वासना भाव कहा गया है उसे धारण करने वाले जीवात्मा थे ( महिमानः आसन् ) वे महान् थे-असंख्य थे† ( एषां रश्मिः )

+ "रेतः पुरुषस्य प्रथमं सम्भवतः सम्भवति" ( ऐ० ३ २ )

† महत्-इमनिच् । इमनिच् स्वार्थे । तथा च सायणः स्वार्थे इमनिच् ( सायणः )

इनका बन्धन या इनकी बन्धनरस्सी लगाम‡ अदृष्ट–पूर्वकृत कर्म संस्कार ( तिरश्चीनः–विततः ) विस्तृत फैला हुआ था* जो ( अधः स्वित्–आसीत् उपरिस्वित्–आसीत् ) नीचे भी था–नीचयोनि वाला भी था और ऊपर भी थी उत्कृष्ट योनि वाला भी था। उसके ( अवस्तात् स्वधा परास्तात् प्रयतिः ) इधर–शरीर के पूर्व भाग में स्वधा अर्थात् 'स्व–धा' अपने को शरीर में धरना–जन्म पाना है और उधर–शरीर के पर भाग में प्रयति–प्रयाण अर्थात् शरीर को छोड कर चल देना–मृत्यु है ॥ ५ ॥

को अद्धा वेद क इह प्र वोचत् कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग्देवा अस्य विसर्जनेनाथा को वेद यत आबभूव ॥६॥

( कः अद्धा वेद ) कौन तत्त्वतः जानता है ( कः–इह प्रवोचत् ) कौन तत्त्वत–खोलकर इस विषय में प्रवचन कर सके, कि ( कुतः–इयं विसृष्टिः कुतः–आजाता ) कैसे यह विविध सृष्टि किस निमित्त कारण द्वारा प्रादुर्भूत हुई ( अस्य विसर्जनेन** अर्वाक्–देवा ) इस जगत् के मूल कारण का विभागीकरण हो जाने के पीछे उत्पन्न हुए देव अर्थात् विद्वान् जन हैं, उनमें से ( अथ कः–वेद यतः–आबभूव ) पुनः कौन जान सकता है जिस उपादान कारण से यह सृष्टि प्रादुर्भूत हुई ॥ ६ ॥

इयं विसृष्टिर्यत आबभूव यदि वा दधे यदि वा न ।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ॥७॥

‡ "अभिशवो वै रश्मयः" ( शत० ५।४।३।१४ )

* "तिरस्तीर्णो भवति ( निरु० ३।२० )

** "विसर्जनात् । विभक्ति व्यत्ययेन तृतीया ।

( इयं विसृष्टिः यतः आबभूव ) यह विविध सृष्टि जिस उपादान कारण से प्रादुर्भूत हुई–समस्त रूप से व्यक्त हुई†† (अस्य यः–अध्यक्षः परमे व्योमन्) इस उपादान कारण अव्यक्त प्रकृति का जो अध्यक्ष महान् आकाश में वर्तमान है ( अङ्ग ) हे जिज्ञासु ! ( सः ) वह अध्यक्ष परमात्मा ( यदि वा दधे यदि वा न ) चाहे तो इस विविध सृष्टि को धारण करे सृष्टि के रूप में रखे चाहे तो न धारण करे संहार कर दे यह उसके अधिकार में है और वह अध्यक्ष परमात्मा ( वे यदि वा न वेद ) इसके उपादान कारण को चाहे तो जाने अपने ज्ञान में रखे चाहे तो न जाने न ज्ञान में रखे, ज्ञान में रखना सर्जन की ओर नम्र कर देना सृष्टि का प्रारम्भ कर देना, न ज्ञान में रखना इसका कुछ न बनाना मूलरूप में उपादानरूप में पड़े रहने देना प्रलय स्थिति को बनाए रखना, इस प्रकार उत्पत्ति और प्रलय पर भी उसका अधिकार है ॥ ७ ॥

---

†† मन्त्र में 'अस्य अध्यक्षः' में 'अस्य' यह शब्द 'यतः आबभूव' के कथन में आबभूव क्रिया से सम्बन्ध रखने वाले उपादान कारण अव्यक्त के लिए आया है जिसको कि उक्त क्रियानुसार मन्त्र ३ में 'आभु' नाम दिया है ।

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १५१

ऋषिः—श्रद्धा कामायनी ( काम अर्थात् अभिलाष—इच्छाभाव की पुत्री—इच्छाभाव के पूरे होने पर पालित सुरक्षित आत्म-भावना वाली व्यक्ति )

देवता—श्रद्धा ( इच्छाभाव की माता—जननी निश्चयात्मिका प्रवृत्ति या सत्यधारणा "श्रद्धां कामस्य मातरं हविषा वर्धयामसि" (तै० २।८।८।८) यथावद्धारणा—आत्मभावना होने पर काम—इच्छा भावना एक दिव्य सत्ता या दिव्य शक्ति)

**वक्तव्य**—श्रद्धा शब्द इच्छा के अर्थ में अष्टाध्यायी में प्रयुक्त हुआ है यथा "कणेमनसी श्रद्धाप्रतीघाते" ( अष्टा० १।४।६६ ) निष्ठा के अर्थ में जैसे "श्रद्धा जननीव कल्याणी योगिनं पाति" ( योग० १।२० व्यासः )। लोक में विश्वास मान्यता के अर्थ में भी ली जाती है जैसे उस में मेरी श्रद्धा नहीं। राजस्थान में शक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता है जैसे इतना बोझ उठाने में मेरी श्रद्धा नहीं है। परन्तु यहां वेद में 'यथावद्धारणा' के अर्थ में प्रयुक्त है, यथावद्धारणा—अनन्यथा धारणा भी एक दिव्य शक्ति है अतएव इसे देवतारूप में दिया गया। जैसे मनः आदि दिव्य पदार्थ देवता कहे गये ऐसे ही श्रद्धा—यथावद्धारणा या अनन्यथा धारणा भी हैं। यहां यथावद्धारणा या अनन्यथा धारणा को क्षेत्रभेद से सूक्त के पृथक् पृथक् मन्त्रों में पांच रूपों में दर्शाया गया है।

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः ।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि ॥१॥

( श्रद्धया-अग्निः समिध्यते ) यथावद्धारणा-यथावत् शास्त्रीय चयनविधि† से अग्नि साधुरूप में अच्छे रूप में समिद्ध होता है-प्रदीप्त होता है ( श्रद्धया हविः-हूयते ) यथावद्धारणा-शास्त्रीय होमपद्धति से हविः-होम्य द्रव्य यज्ञ में साधु होमा जाता है-होमा जा सकता है ( भगस्य मूर्धनि श्रद्धां वचसा-आवेदयामसि ) ऐश्वर्य-अभ्युदय के मूर्धा ऊंचे अङ्ग पर स्थिर हुई श्रद्धा-यथावद्धारणा को हम वचन भाषण से घोषित करते हैं ॥ १ ॥

प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः ।
प्रियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि ॥२॥

( श्रद्धे मे-इदम्-उदितं ददतः प्रियं कृधि ) हे श्रद्धा-यथावद्धारणा-उचितभावना सदास्था ! तेरे सम्बन्ध में मेरे कहे घोषित वचन को दान देते हुए-तुझ श्रद्धा-यथावद्धारणा-उचित भावना से दान देते हुए का प्रिय-कल्याणकर-करदे ( श्रद्धे दिदासतः प्रियम् ) ऐसे ही तू हे पूर्वोक्त श्रद्धे दान देने की इच्छा करते हुए का प्रिय कल्याणकर-करदे ( भोजेषु यज्वसु ) दान का भोजन खाने वालों के निमित्त तथा दक्षिणा लेने वाले यजन कर चुकने वाले ऋत्विजों के निमित्त हे श्रद्धे-यथावद्धारणा-उचित भावना ! मेरे घोषित वचन को प्रिय-उनका कल्याणकर-करदे ॥ २ ॥

यथा देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे ।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि ॥३॥

---

† "पुरुषगो ऽभिलाषविशेषः" ( सायणः )

(यथा उग्रेषु असुरेषु देवाः श्रद्धां चक्रिरे) जैसे क्रूर असुरों स्वस्थिति से अस्तव्यस्त नष्ट भ्रष्ट करने वाले दुर्भावों या दुष्ट जनों के ऊपर देव-मुमुक्षु जन विद्वान् श्रद्धा यथावद्धारणा-अपनी दैवी शक्ति को प्रेरित किया करते हैं अपने को सफल बनाने के लिये† (एवं भोजेषु यज्वसु) इसी प्रकार भोजन खिलाने वालों में और यजन करने वाले यजमानों में हमारे कहे उनके प्रति आशीर्वाद को हे श्रद्धे! तू प्रभावकारी कर हमारे भक्त बनाने के लिये ॥ ३ ॥

श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते ।
श्रद्धां हृदय्ययाकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु ॥४॥

(देवाः हृदय्यया-आकूत्या श्रद्धां यजमानाः वायुगोपाः श्रद्धाम् उपासते) देव-मुमुक्षु जन हृदय की आकूति से श्रद्धा-यथावद्धारणा-सदिच्छा का सेवन और यजनशील जन 'वायुगोपाः' प्राणायाम द्वारा वायु रक्षक जिनका है ऐसे प्राणायाम से सुरक्षित हुए श्रद्धा-यथावद्धारणा-सदिच्छा का सेवन करते हैं (श्रद्धया वसु विन्दते) श्रद्धा-यथावद्धारणा-सदिच्छा से वसु-बसाने वाले धन को मनुष्य प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धां सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः ॥५॥

(प्रातः श्रद्धां हवामहे) प्रातकाल श्रद्धा-यथावद्धारणा-जीवन की यथावत् आधारभूत आस्तिकता परमात्मप्रीति को आमन्त्रित करते हैं (मध्यन्दिनं परि श्रद्धाम्) मध्य दिन में-

† "अवश्यमिमे हन्तव्या इति-आदरातिशय कृतवन्तः" (सायणः)

दिन के मध्यकाल को लक्ष्य करके भी श्रद्धा-यथावद्धारणा-आस्तिकता प्रभुप्रीति को आमन्त्रित करते हैं ( सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धाम् ) सूर्य के अस्तसमय-सायंकाल में† भी श्रद्धा-यथावद्धारणा-आस्तिकता-परमात्मप्रीति को आमन्त्रित करते हैं ( श्रद्धे नः-इह श्रद्धापय ) हे श्रद्धे-यथावद्धारणा-आस्तिकभावना ! तू हमें इस जीवन में श्रद्धावान्-समस्त यथावद्धारणा वाला कर।
॥ ५ ॥

---

† 'म्रुचु गत्यर्थः' ( भ्वादि० ) ततो निपूर्वात् क्विप् निम्रुच्-सप्तम्यां निम्रुचि निगमने निचरणे निपतने ।

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १६८

ऋषि:—अनिलो वातायनः ( अन–प्राण को यथेष्ट प्रेरित करनेवाला प्राणायामाभ्यासी वात ज्ञान का अयन आश्रय है जिसका ऐसा वैज्ञानिक अभ्यासी )

देवता—वातः ( अन्धड )

**वात॑स्य॒ नु म॑हि॒मानं॒ रथ॑स्य रु॒जन्ने॑ति स्त॒नय॑न्नस्य॒ घोष॑: ।**
**दि॒वि॒स्पृग्या॑त्यरु॒णानि॑ कृ॒ण्वन्नु॒तो ए॑ति पृ॒थि॒व्या रे॒णुम॑स्यन् ॥१॥**

( रथस्य वातस्य महिमानं नु ) रंहण शील–गमनशील वात–अन्धयाव–अन्धड की महिमा को अवश्य हम देखते हैं वर्णित करते है† ( अस्य घोषः-रुजन् स्तनयन्-एति ) इसका घोष नाद वृक्ष आदियों का भञ्जन करता हुआ उन्हें तोडता उखाडता हुआ गुञ्जाता हुआ प्राप्त होता है ( दिविस्पृक् ) यह वात–अन्धयाव अन्धड ऊपर आकाश को छूने वाला होकर ( अरुणानि कृण्वन् याति ) समस्त दिशा–स्थानों को लाल रंग वाले करता हुआ चलता है ( उत ) तथा ( पृथिव्याः-रेणुम्-अस्यन्-एति ) पृथिवी के पांसु–धूल को फेंकता हुआ उडाता हुआ चलता है ॥ १ ॥

**सं॒प्रेर॑ते॒ अनु॒ वात॑स्य वि॒ष्ठा ऐनं॑ गच्छन्ति॒ सम॑नं॒ न योषा॑: ।**
**ताभि॑: स॒युक्स॒रथं॑ दे॒व ई॑यतेऽस्य॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ राजा॑ ॥२॥**

---

† "प्रब्रवीमि" ( सायणः )

( विष्ठाः-यातस्य-अनुमग्प्रेरते ) पृथिवी में घुस कर होने वाली वनस्पतियाँ ओषधियां 'विष्ट्वा तिष्ठन्तीति विष्ठाः' वृक्ष वात-अन्धड के साथ अनुकूल हो काम्पते हैं ( एनं योषां:-न समनम्-आगच्छन्ति ) इसे जैसे स्त्रियां पति के पीछे समान मनोभाव वाले स्थल को प्राप्त होती हैं‡ ( अस्य विश्वस्य भुवनस्य देवः-राजा ) इस सारे पृथिवी लोक का राजा बनकर ( ताभिः-सयुक्सरथम्-ईयते ) उन अपनी प्रजाओं के साथ समान घोड़े समान रथवाला होकर जाता आता है ॥ २ ॥

अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः ।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जात कुत आ बभूव ॥३॥

( अन्तरिक्षे ) आकाश में वर्तमान ( पथिभिः ) मार्गों से ( ईयमानः ) गति करता हुआ वात-अन्धड वायु ( कतमत्-चन-अहः ) किसी एक दिन भी ( न निविशते ) नहीं ठहरता है ( अपां सखा ) आकाश में व्यापने वाले जलों का सखा है मित्र है सहयोगी है-वृष्टिजलों को साथ लाने वाला है ( प्रथमजाः-ऋतवा ) आकाश में प्रथम प्रसिद्ध होने वाला जल-वाला है-जलगर्भित† "ऋतमुदकनाम" [ निघ० १ । १२ ] ( क्व स्वित्-जातः ) कहीं दूर स्थान में भी प्रसिद्ध हो जाता है

‡ "समनं संग्राममिव एनं वायुं योषाः-अश्वयोषितो वडवा आगच्छन्ति" ( सायणः ) इत्यन्यथार्थः काल्पनिकः ।

† "सत्यवान् यज्ञवान् वा" ( सायणः )

( कुतः-आबभूव ) कहां से-कहीं से भी समय पर फैल जाता है‡ ॥ ३॥

आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः ।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम ॥४॥

( देवानाम्-आत्मा ) अनेक देवों का स्वरूप है अर्थात् पृथिवी जल अग्नि वायु आदि देवों का मिश्रण रूप है* ( भुवनस्य गर्भः ) जल का गर्भ है-जल को जन्म देने वाला है "भुवनम्-उदकनाम" [ निघ० १ । १२ ] ( एषः-देवः-यथावशं चरति ) यह देव यथाश्रय जैसा जैसा चलने का प्रवाह हुआ वैसा वैसा अर्थात् बिना रोक टोक चलता है (अस्य-इत्-घोषः शृण्विरे ) इसके घोष ही सुने जाते हैं ( न रूपम् ) रूप इसका नहीं दीखता है ( तस्मै वाताय ) उस वात के लिये ( हविषा विधेम ) होम से सेवन करें-ऐसे समय होम करने से लाभ होता है ॥ ४॥

———

‡ "क देशे जातः उत्पन्नः कुतः कस्मात् देशाद्विनिक्रम्य आबभूव न केनापि ज्ञातुं शक्यते" ( सायणः ) इत्ययौक्तिकोऽर्थः ।

* "देवानामिन्द्रादीनामपि आत्मा जीवरूपेण तेष्ववस्थानात्" ( सायणः ) इति मन्त्रस्य समग्रार्थोऽनुपयुक्तः ।

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १७२

ऋषिः—आङ्गिरसः संवर्तः (सूर्यरश्मियों से पूर्ण आकाश के ज्ञान से पूर्ण विद्वान्)

देवता—उषाः।

**आ याहि वनसा सह गावः सचन्त वर्तनिं यदूधभिः ॥१॥**

(वनसा सह—आयाहि) हे उषा ! चतुर्थ मन्त्र में 'उषा देवता' तू कमनीय तेजः स्वरूप से आ—प्राप्त हो "वनोति कान्ति-कर्मा" [निघ० २।६] (यत्—गावः—ऊधभिः—वर्तनिं सचन्ते) जबकि घर की गौवें दुग्धपूर्ण—दूध से भरे दुग्धाङ्गों—लेवों दुग्धवर्तन—व्यवहार सेवन करती हैं या लोक प्रसिद्ध दुग्धाधान वर्तन—पात्र को सींचती हैं†। उषाकाल में गौओं को दुहना चाहिये ॥ १ ॥

**आ याहि वस्व्या धिया मंहिष्ठो जारयन्मखः सुदानुभिः ॥२॥**

(वस्व्या धिया—आ याहि) हे उषा ! तू धनैश्वर्यप्राप्ति निमित्त "धीः कर्मनाम" [निघ० २।१] कर्मप्रवृत्ति से आ—प्राप्त हो, यतः (मंहिष्ठः) अत्यन्त दानदाता यजमान "मंहते दान कर्मणः" [निरु० १।१] (जारयन्मखः) समाप्ति—पूर्ण यज्ञ करने वाला (सुदानुभिः) अपने अच्छे दानों से "दानुनस्पती दानपती" [निरु० २।१३] यज्ञकरणार्थ उद्यत हो सकें ॥ २ ॥

**पितुभृतो न तन्तुमित्सुदानवः प्रति दध्मो यजामसि ॥३॥**

---

† "वर्तनिं रथं सचन्ते सेवन्ते" (सायणः)

(पितुभृतः सुदानवः-न) अन्न को धारण करने वाले अच्छे दानियों की भांति (तन्तुम्-इत् प्रतिदध्मः) अपने जीवनतन्तु को-जीवन जागरण को पुनः धारण करें (यजामसि) अतः उषोवेला में अपने समस्त कार्यों को सङ्गत करें ॥ ३ ॥

उषा अप स्वसुस्तमः सं वर्तयति वर्तनिं सुजातता ॥४॥

(उषाः स्वसुः-तमः) उषा स्वसा-भगिनीरूप रात्रि के अन्धकार को (अपवर्तयति) अपवर्तित कर देती-हटा देती है (सुजातता) 'सुजाततया' सुप्रसिद्धता से-सुरोचकता से-सुज्योति से (वर्तनिं संवर्तयति) अपने वर्तन-व्यवहार को या वर्तन-अवकाशस्थान को भर देती है ॥ ४ ॥

## ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १९१

ऋषिः—संवननः ( सहमति कराने वाला—मिलाने वाला )
देवता—अग्निः, संज्ञानम् ( सहमति )

संसमिद्युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इळस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ १ ॥

( वृषन्-अग्ने ) हे सुखों की वृष्टि करने वाले अग्रणायक परमात्मन् ! ( अर्यः-विश्वानि-इत् संसम्-आ युवसे ) तू स्वामी हुआ सब भूतों जड जङ्गमों प्राणियों को अवश्य सम्यक् समागत होता है-सम्यक् प्राप्त है विशेषतः हम मनुष्यों उपासकों में "समो द्विरुक्तिः-'समुपोदः पादपूरणे" [ अष्टा० ८।१।६ ] अतः ( इडः-पदे समिध्यसे ) पृथिवी-पार्थिव देह-के पद-हृदय या स्तुति के पद-स्थान अध्यात्म यज्ञ में सम्यक् दीप्त होता है ( सः-नः-वसूनि-आभर ) वह तू हमारे लिए सुख शान्ति में वसाने वाले धनों को प्राप्त करा ॥ १ ॥

सङ्गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम् ।
देवा भागं यथा पूर्वे सञ्जानाना उपासते ॥ २ ॥

( सङ्गच्छध्वम् ) हे मनुष्यो ! तुम सङ्गत होओ -मिलो-समाज के रूप में आओ । जिससे ( संवदध्वम् ) तुम संवाद करो-करते रहो-कर सको । इस लिए, ( वः-मनांसि सञ्जानताम् ) तुम्हारे मन सहमत हो जावें-एक हो जावें । यतः ( यथा पूर्वे देवाः सञ्जानानाः-भा॰ म्-उपासते ) जैसे तुम से पूर्व वे-परम्परा से पूर्व विद्वा एक मन हुए भाग-उस

अग्निरूप परमात्मा से प्राप्त सेवनीय फल या अधिकार को सेवन करते थे तुम भी वैसे ही सेवन कर सको-करते रहो ॥ २ ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम् ।
समानं मन्त्रमभि मन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि ॥ ३ ॥

( मन्त्रः समानः ) मन्त्र-विचार समान हो ( समितिः समानी ) सम्प्राप्ति या कार्यक्षेत्र में कार्यप्रवृत्ति समान हो ( एषां समानं मनः सह चित्तम् ) उन तुम लोगों को समान मन साथ चित्त भी समान हो, मानना और और सोचना एक हो ( वः समानं मन्त्रम्-अभिमन्त्रये ) तुम्हारे लिये समान मन्त्र को अभिमन्त्रित करता हूँ जिससे तुम सब का कल्याण हो ( वः समानेन हविषा जुहोमि ) तुम्हें समान हविः से सहाहुति समान हावभावना से मैं ईश्वर स्वीकार करता हूं ॥ ३ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ४ ॥

( वः-आकूतिः समानी ) तुम्हारा अहम्भाव एक हो ( वः-हृदयानि समाना ) तुम्हारे हृदय-हृदयगत विचार-चिन्त के कार्य एक हों ( वः-मनः समानम्-अस्तु ) तुम्हारा मन एक हो ( वः-यथा सुसह-असति ) तुम्हारे जिस प्रकार अच्छे साथ-सहयोग निश्चय बुद्धि के कार्य हो सकें ॥ ४ ॥

———

# उत्तरपार्श्व

( एम० ए० में पढ़ाये जाने वाले अतिरिक्त सूक्त )

## ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १

ऋषिः—मधुच्छन्दाः ( मीठी इच्छा वाला एवं मधुतन्त्र मन वाणी कर्म में मधुमय बना हुआ जन )

देवता—अग्निः ( ज्ञानप्रकाशस्वरूप परमात्मा तथा भौतिक अग्नि )

अ॒ग्निमी॑ळे पु॒रोहि॑तं य॒ज्ञस्य॑ दे॒वमृ॒त्विज॑म् ।
होता॑रं रत्न॒धात॑मम् ॥ १ ॥

( यज्ञस्य ) जगदीश महिमा—समष्टि सृष्टि ब्रह्माण्ड के "यज्ञो वै महिमा" ( शत० ६ । ३ । १ । १८ ) "एतावानस्य महिमा" ( ऋ० १० । ९० । ३ ) "यज्ञो वै भुवनज्येष्ठम्" ( कौ० २५।१२ ) या यजनकर्म के ( पुरोहितम् ) पूर्व से ही उसके सूक्ष्मरूप कारण को धारण करने वाले ( देवम् ) प्रकाशक तथा सुखद— ( ऋत्विजम् ) ऋतु-ऋतु में—समय समय पर यजन—निर्माण या होम के विधायक ( होतारम् ) होमने वाले बनाने वाले यजमान ( रत्नधातमम् ) रमणीय पदार्थों के धारक—( अग्निम् ) ज्ञान-प्रकाश स्वरूप परमात्मा या भौतिक अग्नि को ( ईळे ) स्तुति में लाऊं-यजन-कर्म में सेवन करूं ॥ १ ॥

अ॒ग्निः पूर्वे॑भि॒र्ऋषि॑भि॒रीड्यो॒ नूत॑नैरु॒त ।
स दे॒वाँ एह व॑क्षति ॥ २ ॥

( अग्निः ) परमात्मा तथा भौतिक अग्नि ( पूर्वेभिः ) पुरातन–( उत ) और ( नूतनैः ) नूतन–नए ( ऋषिभिः ) ऋषियों–साक्षात्कृतधर्मा तत्त्ववेताओं द्वारा भी ( ईड्यः ) स्तुति करने योग्य या सेवन करने योग्य है ( सः ) वह ( इह ) इस जगत् में या होम-यज्ञ में ( देवान् ) वायु आदि देवों दिव्यगुणों को ( आवक्षति ) समस्तरूप से वहन करता है। अतः मैं उसका स्तवन या सेवन करता हूँ ॥ २ ॥

अग्निना रयिमश्नवत् पोषमेव दिवे दिवे ।
यशसं वीरवत्तमम् ॥ ३ ॥

( अग्निना ) स्तुत किये हुए† परमात्मा या सेवित किये हुए भौतिक अग्नि से ( दिवे दिवे ) प्रतिदिन–उत्तरोत्तर ( पोषम्–एव ) पुष्ट करने वाले ( यशसम् ) यशस्कर ( वीरवत्तमम् ) अत्यन्त प्राणप्रद "प्राणा वै वीराः" ( शत० १२ । ८ । १ । २२ ) ( रयिम् ) ऐश्वर्य को ( अश्नवत् ) स्तुतिकर्त्ता या सेवनकर्त्ता प्राप्त करता है ॥ ३ ॥

अग्ने यं यज्ञमध्वरं विश्वतः परिभूरसि ।
स इद् देवेषु गच्छति ॥ ४ ॥

( अग्ने ) हे परमात्मन् या भौतिक अग्नि ! ( यम् ) जिस ( अध्वरम् ) किसी से भी अबाधित या अविचालित ( यज्ञम् ) समष्टियज्ञ या होमयज्ञ को ( विश्वतः ) सब ओर से ( परिभूः–असि ) परिगृहीत करके विराजमान है ( सः–इत् ) सचमुच

† "अग्निना स्तुतेन" ( वेङ्कटमाधवः )

वह (देवेषु) वायु सूर्य आदि दिव्य गुणवाले पदार्थों में (गच्छति) चल रहा है या प्राप्त होता है ॥ ४ ॥

अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्रश्रवस्तमः ।
देवो देवेभिरागमत् ॥ ५ ॥

( कविक्रतुः ) व्यापक कर्म वाला सर्वज्ञगति वाला या सर्वत्र अप्रतिहत कर्म वाला "कविः क्रान्तदर्शनो भवति" ( निरु० १२ । १३ ) "कवते गतिकर्मा" ( निघ० २ । १४ ) "क्रतुः कर्म-नाम" ( निघ० २ । ४ )† ( सत्यः ) सत्-वर्तमान पदार्थों में साधु आधार ( चित्रश्रवस्तमः ) अद्भुत प्रशंसावाला "श्रव इच्छमानः प्रशंसामिच्छमानः" ( निरु० ६।१० ) ( होता ) सृष्टि-यज्ञ का कर्त्ता धर्ता संहर्ता या होमयज्ञ का कर्ता (देवः) प्रकाश-मान ( अग्नि ) परमात्मा या भौतिक अग्नि ( देवेभिः ) स्वमहिमा या दिव्यपदार्थों के सहित या अन्य भौतिक देवों के साथ ( आगमत् ) आता है ॥ ५ ॥

यदङ्ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं करिष्यसि ।
तवेत्तत् सत्यमङ्गिरः ॥ ६ ॥

( अङ्ग-अङ्गिरः ) हे प्रिय प्राणस्वरूप अङ्गी आत्मा को रसीला बनाने वाले हे परमेश्वर ! या हे प्रिय अङ्गवाले भौतिक अग्नि ! ( यत् त्वम् ) जिससे तू ( दाशुषे ) देनेवाले के-स्वात्म-समर्पण करने वाले के लिये-तेरे अन्दर होम करने वाले के लिये ( भद्रम् ) भजनीय स्वप्रकाशरूप कल्याण को या सुख को

† "क्रान्तं गतं सर्वत्राप्रतिहतं प्रशातं कर्म वा यस्य सः" ( स्कन्दस्वामी )

(करिष्यसि) करता है–देता है।‡ (तव इत्) तेरा ही (सत्यम्) यथावत् स्वभाव है ॥ ६ ॥

उप॑ त्वाग्ने दि॒वे दि॑वे॒ दोषा॑वस्तर्धि॒या व॒यम् ।
नमो॒ भर॑न्त॒ एम॑सि ॥ ७ ॥

( अग्ने ) हे परमात्मन् ! या भौतिक अग्ने ! ( वयम् ) हम ( दिवे दिवे ) प्रतिदिन निरन्तर 'दिवे दिवे–अहर्नाम" ( निघ० १।८ ) ( दोषावस्तः ) सायं प्रातः† ( धिया ) धारणा–ध्यानसमाधि से या कर्म विधान से ( नमः–भरन्तः ) आत्मा को तेरे प्रति नम्रीभूत समर्पण करते हुए या हविष्य अन्न देते हुए "नमः–अन्ननाम" ( निघ० २।७ ) ( त्वा ) तुझे ( उप–आ–इमसि ) प्राप्त होते हैं ॥ ७ ॥

राज॑न्तमध्व॒राणां॑ गो॒पामृ॒तस्य॒ दीदि॑वम् ।
वर्ध॑मानं॒ स्वे दमे॑ ॥ ८ ॥

( अध्वराणां राजन्तम् ) प्राणों के "प्राणोऽध्वरः" ( शत० ७।३।१।५ ) ईशान स्वामी "राजतिः–ऐश्वर्यकर्मा" ( निघ० २।२६ ) ( ऋतस्य गोपाम् ) मन के "मनो वा ऋतम्" ( जै० उ० ३।३६।५ ) रक्षक "गुपू रक्षणे" ( भ्वादि० ) ( दीदिवम् ) शुभ्रप्रकाशमान–"दिवो द्वे दीर्घश्चाभ्यासस्य" ( उणा० ४।५५ ) ( वर्धमानम् ) प्रवृद्ध–परिपूर्ण–अनन्त तुझ परमात्मा को (स्वे दमे) अपने मनोदमन करने के स्थान आत्मा के सदन हृदय में "उप–आ–इमसि" प्राप्त हों ॥ ८ ॥

---

‡ "करोतिः क्रियासामान्यवचनो दाने वर्तते" ( स्कन्दस्वामी )

† "सायं प्रातः" ( वेङ्कटमाधवः, दयानन्दश्च )

स नः पितेव सूनवेऽग्ने सूपायनो भव ।
सचस्वा नः स्वस्तये ॥ ९ ॥

( अग्ने ) हे ज्ञान-प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! ( सः ) वह तू ( सूनवे पिता-इव ) सन्तान के लिये पिता की भांति (सूपायनः-भव ) सुख से प्राप्त होने योग्य-सुगमता से प्राप्त होने योग्य हो‡ ( स्वस्तये ) कल्याण के लिये ( नः सचस्व ) हमें अपना बना-अङ्गीकार कर* ॥ ९ ॥

---

‡ "सूपायनः सूपगमनः सुखोपसर्गः ( स्कन्दस्वामी ) "सूपचर" ( वेङ्कटमाधव )

* "सचस्व सेवस्व ( स्कन्दस्वामीः )

## ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १४३

ऋषिः—दीर्घतमाः (आयु-जीवन का "आयुर्वैदीर्घम्" [तां० ११। ११।१२] चाहने वाला "तमु कांक्षायाम्" [ दिवा० ] )

देवता—अग्निः ( सर्वत्र लोकों में प्रकाशमान अग्नि )

**प्र तव्यसीं नव्यसीं धीतिमग्नये वाचो मतिं सहसः सूनवे भरे ।**
**अपां नपाद् यो वसुभिः सह प्रियो होता पृथिव्यां**
**न्यसीददृत्वियः ॥ १ ॥**

(सहसः सूनवे-अग्नये) बल के-घर्षणबल के "सहो बलनाम" ( निघ० २ । ६ ) पुत्र-अग्नि के लिये-उसकी प्राप्ति के लिये (तव्यसीं नव्यसीं धीतिम् ) अतिबलवती अतिनवीन क्रिया को "धीतिभिः कर्मभिः" ( निरु० २।२४ ) ( वाचः-मतिम् ) विद्युत् की मननक्रिया को भी ( प्रभरे ) मैं प्रभरित करता हूँ-सम्पन्न करता हूँ ( यः-अपां न पात् ) जो जलों का न त्यागने वाला है-होता हुआ-जलों में रहता हुआ ( वसुभिः सह प्रियः-होता ) अपने वसाने वाले प्राणों-ज्वलन बलों के साथ "प्राणा वै वसवः" ( तै० ३ । २ । ३ । ३ ) "अग्निर्वसुभिरुदक्रामत्" ( ऐ० १ । २४ ) प्रिय-अभीष्ट लेने-देनेवाला नियन्ता ( ऋत्वियः पृथिव्यां न्यसीदत् ) ऋतु-ऋतु में-उपयुक्त क्रियाकाल में पृथिवी पर नितरां प्राप्त-होता है ॥ १ ॥

घर्षण करने पर विद्युत् से, सूर्य से ... ग्न पृथिवी पर विद्युत् जैसा सूर्य जैसा कार्य करता है ।

स जायमानः परमे व्योमन्याविरग्निरभवत् मातरिश्वा।
अस्य क्रत्वा समिधानस्य मज्मना प्र द्यावा शोचिः
पृथिवी अरोचयत् ॥ २ ॥

( परमे व्योमनि ) लोकक्रम में "इमे वै लोकाः परमं व्योम" ( शत० ७। ५। २। १८ )† ( सः-जायमानः ) वह उत्पन्न ( मातरिश्वने-अग्निः-आविः-अभवत् ) वायु के लिये-वायु के साथ सहभाव के लिये-विना वायु के अग्नि नहीं प्रज्वलित होती है। अतः अग्नि प्रकट होता है। "क्रतु कर्म" ( नि० २। १ ) ( क्रत्वा मज्मना ) कर्म "मज्म बलम्" ( निघ० २। ६ ) तथा बल से ( अस्य समिधानस्य ) इस दीप्त अग्नि को ( शोचिः ) प्रकाश ( द्यावापृथिवी ) द्युलोक पृथिवीलोक को (अरोचयत् ) प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

अस्य त्वेषा अजरा अस्य भानवः सुसन्दृशः सुप्रतीकस्य सुद्युतः।
भात्वक्षसो अत्यक्तु र्न सिन्धवोऽग्ने रेजन्ते असंसन्तो अजराः
॥ ३ ॥

( अस्य त्वेषाः-अजराः ) इस अग्नि की दीप्तियाँ-प्रकाशतरङ्गें जरा धर्म रहित हैं-अन्धकार उन्हें दबा नहीं सकता स्वयं ही उनसे अन्धकार दब जाता है ( अस्य सुप्रतीकस्य भानवः सुसन्दृशः ) इस सुन्दर प्रत्यक्ष सम्यक्-सम्मुख-दृष्ट अग्नि के "प्रतीकं प्रत्यक्तं प्रतिदर्शनम्" ( निरु० ७। ३१ ) आर्चियां-ज्वालाएं "अजस्रेण भानुना दीद्यतमित्यजस्रेणार्चिषा दीप्यताम्" ( शत० ६। ४। १। २ ) भली-भांति चमकने वाली हैं ( सुद्युतः-

† "परमे व्योमनि" परमे उत्कृष्टे विविधरक्षणवति वेदिदेशे ( सायणः ) इत्यप्रामाणिकोऽर्थः

अग्नेः-भास्वसः ) भली-भांति दीप्त अग्नि की प्रकाशबलतरङ्गें ( अक्तुः-अति ) रात्रि को-रात्रि के अन्धकार को अतिक्रान्त कर नष्ट करके अक्तुः-अक्तुम् विभक्तिव्यत्ययः "अक्तुः-रात्रि-नाम" ( निघ० १ । ७ ) ( असस्नन्तः-अजराः सिन्धवः-न रेजन्ते) न सोती हुई-निरन्तर जागती हुई अक्षीण नदियों की भांति गति करती हैं जैसे नदियाँ भूस्थल का अतिक्रमण कर समुद्र को जाती हैं-ऐसे अग्निज्वालाएं भी रात्रि के अन्धकार को अतिक्रमण कर अन्तरिक्ष को चली जाती हैं। अग्नि जला कर अन्धकार को दूर करना चाहिये ॥ ३ ॥

यमेरिरे भृगवो विश्ववेदसं नाभा पृथिव्या भुवनस्य मज्मना ।
अग्निं तं गीर्भिर्हिनुहि स्व आ दमे य एको वस्वो वरुणो न राजति ॥ ४ ॥

( भृगवः ) ज्ञान में भर्जनशील-ज्ञानप्रकाश वाले विद्वान् जन "भृगुर्भृज्यमानो न देहे" ( निरु० ३ । १७ ) ( भुवनस्य नाभा पृथिव्याः ) भुवन-विश्व की नाभिरूप पृथिवी पर "पृथिव्याः सप्तमीस्थाने षष्ठी छान्दसी" ( मज्मना ) बल से "मज्मना बल-नाम" ( निघ० २ । ९ ) ( यम्-विश्ववेदसम्-अग्निम्-एरिरे ) जिससे सब धन देने वाले अग्नि को प्रेरित करते हैं-प्रकट और प्रयुक्त करते हैं-प्रज्वलित करते हैं ( तं गीर्भिः-हिनुहि ) उसे वाणियों-वेदविधानों से जानो-प्राप्त करो ( यः-एकः-स्वे दमे ) जो अकेला केवल अपने घर में यज्ञकुण्ड में-यन्त्रस्थान में-हृदय में (वरुणः-न वस्वः-आराजति) सबको वरने वाले सूर्य की भांति बसने योग्य पर समग्ररूप राजमान होता है-विराजता है ॥४॥

न यो वराय मरुतामिव स्वनः सेनेव सृष्टा दिव्या यथाशनिः ।
अग्निर्जम्भैस्तिगितैरत्ति भर्वति योधो न शत्रून्त्स वनान्यृञ्जते ॥५॥

( यः-वराय न ) जो अग्नि वरने-झेलने के योग्य नहीं है ( महतां स्वनः-इव ) वायु-प्रवाहों के स्वन-झोंके सहित शब्द की भांति ( सृष्टा सेना-इव ) या शत्रुओं पर छोडी हुई सेना की भांति ( यथा दिव्या-अशनिः ) या जैसे आकाशीय विद्युत् ( अग्निः-तिगितैः-जम्भैः-अत्ति ) अग्नि तीक्ष्ण† ज्वालाओं से तृणादिक को खाता है ( योधः-न शत्रून् भर्वति ) योद्धा जैसे शत्रुओं की हिंसा करता है "भर्व हिंसायाम्" ( भ्वादि० ) ऐसे ( सः-वना न्यृञ्जते ) वह अग्नि वनो को पूर्णरूप से स्वायत्त करता है-दग्ध करता है ॥ ५ ॥

कुविन्नो अग्निरुचथस्य वीरसद् वसुष्कुविद् वसुभिः काममावरत् । चोदः कुवित्तुतुज्यात्सातये धियः शुचिप्रतीकं तमया धिया गृणे ॥ ६ ॥

( अग्निः-नः-उचथस्य कुवित्-वीः-असत् ) अग्नि हमारे कथन योग्य विज्ञान का अतीव ग्रहणकर्त्ता-ग्रहण योग्य हो ( वसुः-वसुभिः कुवित्-कामम्-आवरत् ) वसानेवाला अग्नि अपने न नसानेवाले प्रकाश धर्मों से बहुत कमनीय को ले आवे ( चोदः सातये कुवित्-धियःऽतुतुज्यात् ) प्रेरक अग्नि हमारी सम्भजन-सुखप्राप्ति के लिये बुद्धियों को बहुत बल देने "तुज हिंसाबलादान-निकेतनेषु" ( चुरादि० ) ( तं शुचिप्रतीकम्-अया धिया गृणे ) उस दीप्त ज्वाला वाले अग्नि को इस कर्म-प्रदीपन करने के लिये बुद्धि से प्रशंसित करता हूँ ॥ ६ ॥

घृतप्रतीकं व ऋतस्य धूर्षदमग्निं मित्रं न समिधान ऋञ्जते । इन्धानो अक्रो विदथेषु दीद्यच्छुक्रवर्णामुदु नो यंसते धियम् ॥ ७ ॥

---

† "तिज निशाने" ( चुरादि० ) तिगितैः-तिजितैः-छान्दसं गत्वम् ।

( वः ) हे जनो ! तुम्हारे लिये–तुम्हारे यज्ञ, यज्ञ आदि के लिये ( ऋतस्य धूर्षदं घृतप्रतीकम्–अग्निम् ) यज्ञ की धुरा–वेदि में प्राप्त होने वाले–दीप्ति का साधन–घृत जिसका प्रत्यक्ष–प्रसिद्धि का निमित्त है–ऐसे उस अग्नि को ( समिधानः–ऋञ्जते ) ज्वलित करने वाला अग्निविद्यावेत्ता प्रसिद्ध करता है ( मित्रं न ) सूर्य की भांति जैसे परमात्मा सूर्य को आकाश में उदित कर प्रकाशित करता है ( विदथेषु–इन्धानः–अक्रः–दीद्यत् ) यज्ञ आदि वेदनीय स्थलों में दीप्त हुआ अन्यों से अक्रान्त किसी से न दबने वाला‡ चमकता है ( शुक्रवर्णां धियं नः–उत्–उ–यंसते ) शुभ्रवर्णवाली तेजोमयी बुद्धि एवं कार्यसिद्धि को हमारे लिये अवश्य ही देता है ॥ ७ ॥

अप्रयुच्छन्नप्रयुच्छद्भिरग्ने शिवेभिर्नः पायुभिः पाहि शग्मैः ।

अदब्धेभिरदृपितेभिरिष्टेऽनिमिषद्भिः परिपाहि नो जाः ॥८॥

(इष्टे–अग्ने) हे एषणीय–वाञ्छनीय अग्नि ! तू (अप्रयुच्छन्) प्रमादरहित–सावधानता से प्रयुक्त निरन्तर स्वकर्म करता हुआ ( अप्रयुच्छद्भिः ) प्रमादरहित विद्वानों से उपयुक्त हुआ (शिवेभिः शग्मैः पायुभिः–नः पाहि ) शान्तिप्रद तथा सुखकर रक्षण-साधनों से हमारी रक्षा कर ( अदब्धेभिः–अदृपितेभिः–अनिमिषद्भिः ) अहिंसितों अशिथिलों, निरन्तर कर्म साधकों, गुणों से ( नः–जाः परिपाहि ) हमारी पुत्रादि प्रजाओं की सब ओर से रक्षा कर ॥ ८ ॥

‡ 'अक्रः अन्यैः अनाक्रान्तः'' (सायणः) 'अक्र. अन्यैरक्रान्तः (दयानन्दः)

# ऋग्वेद मण्डल ३, सूक्त ६१

ऋषिः—विश्वामित्रः ( सर्वमित्र-"विश्वामित्रः-सर्वमित्रः" ( निरु० २। २५ विद्यासूर्यविद्वान्—नवस्नातक )

देवता—उषाः ( प्रातस्तनी प्रत्यग्रप्रकाशप्रभा एवं नवस्नातक की प्रत्यग्रज्ञान ज्योतिष्मती नववधू )

उषो वाजेन वाजिनि प्रचेताः स्तोमं जुषस्व गृणतो मघोनि ।
पुराणी देवि युवतिः पुरन्धिरनु व्रतं चरसि विश्ववारे ॥ १ ॥

( वाजेन वाजिनी ) उत्पादन बल से बलवती या ज्ञान बल से ज्ञानबलवती ( मघोनि उषः ) ऐश्वर्य वाली हे ऊषा ! प्रभातप्रभा या नवज्ञानज्योतिष्मती नवस्नातिका वधू ! तू ( प्रचेताः ) सब को चेताने वाले ( गृणतः स्तोमं जुषस्व ) स्वप्रशंसक विद्वान् के स्तवन प्रशंसन को तदनुसार लाभ को-नवप्रकाश को या नव भोग सेवन कर। ( विश्ववारे देवि ) हे सब के वरने योग्य-मान योग्य दिव्य गुणवाली ! या वधू देवी तू (पुराणी युवतिः पुरन्धिः) सनातनी-शाश्वती युवावस्था-युक्त बहुत कर्मप्रेरिका कर्मधारिका या सन्तानोत्पत्ति कर पुर कुल नगर को धारण करने वाली होती हुई ( व्रतम्-अनुचरसि ) कर्म के पीछे चलती है कर्म को प्रेरित करती हुई या गृहस्थकर्म का अनुसरण करती हुई विचर रही है 'व्रतं कर्मनाम" ( निघं० २। १ ) ॥ १ ॥

उषो देव्यमर्त्या विभाहि चन्द्ररथा सूनृता ईरयन्ती ।
आ त्वा वहन्तु सुयमासो अश्वा हिरण्यवर्णां पृथुपाजसो ये
॥ २ ॥

( उषः ! देवि ! ) हे प्रातःकालीन प्रभात ज्योति देवी या नवज्ञान ज्योतिष्मती वधूदेवी ! तू ( अमर्त्या ) मर्त्यलोक-पृथिवी की नहीं किन्तु अन्तरिक्ष की ज्योति या अनश्वर गुणों से युक्त स्थिर गुणवाली ( चन्द्ररथा ) सुनहरे-चमकदार रथवालीसी "चन्द्रं हिरण्यनाम" ( निघ० २ । २ ) या सुनहरे रथ में बैठी हुई (सूनृताः- ईरयन्ती) अच्छी वाणियों को प्रेरित करती हुई सी ( विभाहि ) भासित हो । ( त्वा ) तुझे ( ये ) जो ( सुयमासः ) संयम में रहने वाले ( हिरण्यवर्णाः ) सुनहरे रंगवाले या सुवर्ण भूषित ( पृथुपाजसः ) प्रथित-विस्तृत बल तरङ्गों या प्रथित बल-बलवान् अङ्गवाले "पाजो बलनाम" ( निघं० २ । ६ ) ( अश्वाः-आवहन्तु ) घोडे-प्रकाशतरङ्गरूप घोडे या साक्षात् घोडे भली भाँति वहन करें ॥ २ ॥

उषः प्रतीची भुवनानि विश्वोर्ध्वा तिष्ठस्यमृतस्य केतुः ।
समानमर्थं चरणीयमाना चक्रमिव नव्यस्यावृत्स्व ॥ ३ ॥

( उषः ) हे प्रातः कालीन ज्योति ! या प्रथम यौवन से प्रकाशमान वधू ! ( विश्वा भुवनानि प्रतीची ) समस्त भूतों-प्राणियों को स्वप्रकाश से या स्वदर्शन से पहुँचती हुई "भुवनं भूतानि" ( निरु० १० । २२ ) ( अमृतस्य केतुः )-आकाशीय अग्नि-सूर्य का द्योतक हो या गृह्य अग्नि का द्योतक हो ( ऊर्ध्वा तिष्ठासि ) क्षितिज के ऊपर स्थित है या परिवार के

ऊपर स्थित है ( समानम्-अर्थं चरणीयमाना ) समान लक्ष्य सूर्य समान प्रकाशरूप का आचरण की इच्छा करती हुई सी † ( नव्यसि ) हे अत्यन्त नवीन रूप में दृष्टि गोचर होने वाली (चक्रम्-इव-आववृत्स्व) चक्र की भाँति प्रतिदिन आवर्तित होती रह-आती रहे या गार्हस्थ्य रथ के दो पति-पत्नी चक्रों में एक चक्ररूप में आवर्त्तन करती रह ॥ ३ ॥

अव॒ स्यूमे॑व चि॒न्वती॑ म॒घोन्यु॒षा या॑ति॒ स्वस॑रस्य॒ पत्नी॑ ।
स्व॑र्जन॑न्ती सु॒भगा॑ सु॒दंसा॒ आन्ता॑द्दि॒वः प॑प्रथ॒ आ पृ॑थि॒व्याः

॥ ४ ॥

( मघोनी ) ऐश्वर्यवती ( स्वसरस्य पत्नी ) आदित्य की पत्नी या विद्यासूर्य स्नातक की पत्नी ( स्यूम-इव-अव-चिन्वती ) वस्त्र की भाँति अन्धकार को समेटती हुई या अज्ञान को हटाती हुई ( उषाः-याति ) उषा गमन करती है या प्राप्त होती है ( दिवः-आ-अन्तात् पृथिव्याः-आ-अन्तात् ) द्युलोकपर्यन्त ऊपर तक पृथिवीलोकपर्यन्त-नीचे तक ( स्वः-जनन्ती ) प्रकाश को उत्पन्न करती हुई या प्रसिद्ध सुख को उत्पन्न करती हुई ( सुभगा ) शोभनैश्वर्य रूपा ( सुदंसाः ) शोभन-कर्म प्रेरिका या शोभन गृहकर्म वाली "दंसः कर्मनाम" ( निघं० २ । १ ) ( पप्रथे ) प्रसिद्धि को प्राप्त होती है ॥ ४ ॥

---

† "चरण गतौ" ( कण्ड्वादि० ) ततः यक् ईट्-आत्मनेपदं च छान्दसम्, अथवा 'चरणम्' ततः 'उपमानादाचारे' क्यच् आत्मनेपदं छान्दसम् ।

अच्छा॑ वो दे॒वीमु॒षसं॑ वि॒भा॒तीं प्र वो॑ भरध्वं॒ नम॑सा सुवृ॒क्तिम् ।
ऊ॒र्ध्वं म॑धु॒धा दि॒वि पाजो॑ अश्रे॒त् प्र रो॑च॒ना रु॑रुचे र॒ण्वसं॑दृक् ॥ ५ ॥

( वः-अच्छा ) हे जनो ! तुम्हें अभिप्राप्त-सम्मुख प्राप्त ( देवीम्-उषसम् ) दिव्य उषा को या नव वधू को तथा ( वः-विभातीम् ) तुम्हें विशेष प्रकाश देती हुई या तुम्हें वेश वृद्धि में प्रसिद्ध करती हुई ( सुवृक्तिम् ) सुप्रवृत्ति-सुन्दर प्रवृति जिसकी देखने सेवन करनेरूप प्रवर्त्तन में अच्छी है-उस प्रातः ज्योति को या सुन्दर व्यवहार वाली "सुवृक्तिभिः-सुप्रवृत्तिभिः" ( निरु० २ । २४ ) नव वधू को ( नमसा प्रभरध्वम् ) स्वागत भाव से धारण करो । ( मधुधा ) वह प्राणधारिका "प्राणो वै मधु"* ( शत० १४ । १ । ३ । ३० ) ( दिवि-ऊर्ध्वं पाजः-अश्रेत् ) आकाश में उत्कृष्ट तेजोरूप बल को प्राप्त है या पारिवारिक यश में उत्कृष्ट यशोबल को प्राप्त करती है ( रण्वसन्दृक्-रोचना प्ररुरुचे ) प्रकटितदर्शिका† रोचमाना या रुचिकरा भली भाँति अच्छी लगती है ॥ ५ ॥

ऋ॒ताव॑री दि॒वो अ॒र्कैर॑बो॒ध्या रे॒वती॒ रोद॑सी चि॒त्रम॑स्थात् ।
आ॒य॒तीम॑ग्न उ॒षसं॑ वि॒भा॒तीं वा॒मम॑षि द्रवि॑णं॒ भिक्ष॑माणः ॥६॥

( दिवः-अर्कैः-अबोधि ) द्युलोक से-द्युलोक में वर्तमान सूर्य से "व्यत्ययेन बहुवचनम्" जानी जाती है-प्रकाश में आती

---

* 'मधुधा'—मधुराणि वाक्यानि सोमं वा दधाति यद्वाऽऽदित्यधात्री यद्वा अवग्रहाभावादखण्डं पदम्—उषो नाम ( सायणः )

† 'रण्वसन्दृक्' रवि गत्यर्थः, श्लः सर्वधातुभ्योऽच् पुनस्तत्तुल्यः

; वह उषा या मन में वर्तमान अर्चनभाव से बोधित होती है ( ऋतावरी ) सत्य ज्ञानवाली है उसे देख ज्ञान मानव में उद्भव होता है या सदाचरणवाली वह ऐसी ( रेवती ) ऐश्वर्यवती ( रोदसी चित्रम्-अस्थात् ) आकाशभूमि में आश्चर्य बनकर रहती है ( अग्ने ) अग्रणायक वैज्ञानिक या गृहस्थाश्रम के नायक जन ! ( आयतीं विभातीम्-उषसम् ) इस आती हुई भासमाना प्रातःकालीन ज्योति को या नवागत वधू को (वामं द्रविणं भिक्षमाणः-एषि ) वननीय श्रेष्ठ धन-ज्ञान या पुत्र की याचना करता हुआ प्राप्त हो ॥ ६ ॥

ऋतस्य॑ बु॒ध्न उ॒षसा॑मिष॒ण्यन् वृषा॑ म॒ही रोद॑सी॒ आ वि॑वेश ।
म॒ही मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य मा॒या च॒न्द्रेव॑ भा॒नुं वि द॑धे पुरु॒त्रा ॥७॥

( ऋतस्य बुध्ने ) उदक "ऋतमुदकनाम" ( निघ० १ । १२ ) ऊपर उठे जल के मूलस्थान अन्तरिक्ष में 'बुध्नमन्तरिक्षम्" ( निरु० १० । ४४ ) ( उषसाम्-इषण्यन् वृषा ) उषाओं का प्रेरण चाहता हुआ-करता हुआ वृष्टिकर्त्ता सूर्य ( मही रोदसी आविवेश ) जब महान् आकाश भूमि-मय जगत् में प्रविष्ट होता है ( मित्रस्य वरुणस्य मही माया ) तो सूर्य के प्रेरक धर्म और आकर्षण बल की महती प्रज्ञानात्मिका उषा ( चन्द्रा-इव भानुं पुरुत्रा विदधे ) सुवर्ण की भाँति प्रकाश को बहुत स्थानों में करती है ॥ ७ ॥

## ऋग्वेद मण्डल ४, सूक्त ५४

ऋषिः—वामदेवः ( वननीय-श्रेष्ठ विद्वान् )

देवता—सविता ( उत्पादक प्रेरक परमात्मा तथा सूर्य )

अभूद्देवः सविता वन्द्यो नु न इदानीमह्न उपवाच्यो नृभिः ।
वि यो रत्ना भजाति मानवेभ्यः श्रेष्ठं नो अत्र द्रविणं
यथा दधत् ॥ १ ॥

( सविता देवः ) उत्पादन प्रेरक परमात्मदेव ( इदानीम् ) अब जगत् को उत्पन्न कर ( नः-नु वन्द्यः-अभूत ) हमारा अवश्य तुरन्त वन्दनीय होगया वह ( नृभिः-अह्नः उपवाच्यः ) मनुष्यों द्वारा जीवन के प्रत्येक दिन में सुभीता से प्रार्थनीय है "अह्नः-अहनि" सप्तम्यर्थं षष्ठी 'सुपां सुपो भवन्तीति' यः-मानवेभ्यः) जो मनुष्यों के लिये (रत्ना-विभजति) रमणीय वस्तुओं को जीवन की समस्त सुखद वस्तुओं को यथाकर्म विभाग से प्रदान करता है ( अत्र नः श्रेष्ठं द्रविणं यथा दधत् ) इस उपासक जीवन में हमारे लिए श्रेष्ठ धन मोक्षैश्वर्य जिस कारण वह धारण कर्त्ता है ॥ १ ॥

देवेभ्यो हि प्रथमं यज्ञियेभ्योऽमृतत्वं सुवसि भागमुत्तमम् ।
आदिद् दामानं सवितर्व्यूर्णुषेऽनूचीना जीविता मानुषेभ्यः
॥ २ ॥

( सवितः ) हे परमात्मन् ! ( प्रथमं यज्ञियेभ्यः-देवेभ्यः हि ) प्रथम आत्मबल के सम्पादक विद्वानों जीवन्मुक्तो के लिए ही

( उत्तमं भागम् अमृतत्वं सुवसि ) सर्वोत्कृष्ट भाग-भजनीय अमृतत्व-मोक्षरूप अमरत्व को प्रकाशित करता है ( आत्-इत्-दामानं व्यूर्णुषे ) अनन्तर ही दक्षिणादान देने वाले कर्म-काण्डी यजमान के प्रति ( व्यर्णुषे ) कृपाप्रसाद फैलाता है कि ( जीविता-अनूचीनाः-मानुषेभ्यः ) जीवित पुत्र पशु आदि अनुकूलता से मनुष्यों के लिए देता है ॥ २ ॥

अचि॑त्ती यच्च॑कृ॒मा दैव्ये॒ जने॑ दी॒नैर्दक्षैः॒ प्रभू॑ती पूरुष॒त्वता॑ ।
दे॒वेषु॑ च सवित॒र्मानु॑षेषु च॒ त्वं नो॒ अत्र॑ सुवता॒दना॑गसः ॥३॥

( सवितः ) हे परमात्मन् ! ( अचित्ती ) अज्ञता से ( दीनैः ) दीनभावों से ( दक्षैः ) बलों से ( प्रभूती ) ऐश्वर्यवत्ता से ( पूरुषत्वता ) पुरुषों की अधिकता से ( दैव्ये जने ) तुझ देव तक पहुंचे जीवन्मुक्त जन के निमित्त ‡ ( च ) और ( देवेषु ) विद्वानों के निमित्त ( च ) और ( मानुषेषु ) साधारणजनों के निमित्त ( यत्-चकृम ) जो पाप-अपराध करें-कर सके ( अत्रत्वं नः-अनागसः सुवितात् ) इस उस प्रसङ्ग में तू हमें पाप से रहित हुए-निष्पाप-पुण्यात्मा बना ॥ ३ ॥

न प्र॒मिये॑ सवि॒तुर्दैव्य॑स्य॒ तद्यथा॒ विश्वं॒ भुव॑नं धारयि॒ष्यति॑ ।
यत् पृ॑थि॒व्या वरि॑म॒न्ना स्व॑ङ्गुरि॒र्वर्ष्म॑न् दि॒वः सु॒वति॑
स॒त्यम॑स्य॒ तत् ॥ ४ ॥

( सवितुः-दैव्यस्य तत् ) सविता परमात्मदेव का वह कर्म-सृष्टिनियम ( न प्रमिये ) नष्ट नहीं होता है (यथाविश्वं भुवनं धारयिष्यति ) जिससे कि समस्त जगत् को वह धारण करता

‡ दैव्ये जने देवे त्वयि ( सायणः )

है-आगे भी धारण करेगा ( यत् स्वङ्गुरिः ) जिससे कि वह सुबलिष्ठ अङ्गुलिवाला विश्व को पकड़ने की पूर्णशक्ति वाला ( पृथिव्याः-वरिमन् ) पृथिवी का विस्तार को (आ) और (दिवः-वर्ष्मन्) द्युलोक के महत्त्व को 'अत्र सुपां सुलुक्' इतिलुक्-अम् विभक्तेः' ( सुवति ) उत्पन्न करता है सम्पादित करता है ( अस्य तत् सत्यम् ) उसका वह यह कर्म सत्य है-यथार्थ है-अबाध्य है ॥ ४ ॥

इन्द्रं ज्येष्ठान् बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः क्षयाँ एभ्यः सुवसि पस्त्यावतः ।
यथा यथा पतयन्तो वियेमिर एवैव तस्थुः सवितः सवाय ते ॥ ५ ॥

( सवितः ) हे उत्पादक प्रेरक परमात्मन् ! तू ( एभ्यः-बृहद्भ्यः पर्वतेभ्यः ) इन महान्-मेघों से मेघों को बरसा कर "पर्वतो मेघनाम" ( निघं० १ । १० ) ( इन्द्रज्येष्ठान् ) ऐश्वर्य प्रधान † तथा ( पस्त्यावतः ) सन्तान वाले "विशो वै पस्त्याः" ( शत० ५ । ३ । ५ । १६ ) ( क्षयान् ) निवास करने वाले गृहस्थजनों को * ( सुवसि ) बनादेता है ( यथा यथा ) जैसे जैसे ज्यौं ज्यौं ( पतयन्तः ) ऐश्वर्य के स्वामी अपने को कहते हुए कि हम ऐश्वर्य के पति होगए 'तत्करोति तदाचष्टे-इति णिच्' ( नियेमिरे ) अपने गृहाश्रम विशेष नियमन करते हैं ( एव-एव ऐसे ऐसे ही ( ते सवाय तस्थुः ) तेरे शासन में अपने को स्थित करते हैं ॥ ५ ॥

---

† इन्द्र 'ऐश्वर्यं प्रधानं येषु तान्

* क्षियन्ति निवसन्ति येते 'अच् कर्त्तरि "उञ्छादीनां च" ( अष्टा० ६ । १ । १६० ) आद्युदात्तः ।

ये ते त्रिरहन्त्सवितः सवासो दिवे दिवे सौभगमासुवन्ति ।
इन्द्रो द्यावापृथिवी सिन्धुरद्भिरादित्यैर्नो अदितिः शर्म यंसत्
॥ ६ ॥

( सवितः ) हे उत्पादक प्रेरक परमात्मन् ! ( ते ) तेरे शासन में रहकर तेरी प्रेरणा से ( ये ) जो ( सवासः ) उत्पत्ति कर्त्ता देव 'उत्तर पंक्ति में कहे हुए इन्द्र आदि' ( दिवे दिवे ) प्रतिदिन ( अहन् त्रिः ) दिन में-दिनरात में तीन बार प्रातः मध्याह्न सायं अथवा प्रातः सायं समान भाव काल में प्रकाश प्रधान दिन भर में अन्धकारमय रात्रि में ( सौभगम् ) सुखसम्पत्ति को (आसुन्वन्ति) प्रादुर्भूत करते हैं वे देव ( इन्द्रः-द्यावापृथिवी ) विद्युत्, द्युलोक पृथिवी लोक ( सिन्धुः-अद्भिः ) नदियों सहित समुद्र ( अदितिः-आदित्यैः ) उषा आदित्यों-किरणों के सहित ( नः शर्म यंसत् ) हमारे लिए सुख शरण दे ॥ ६ ॥

---

## ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८३

ऋषिः—वसिष्ठः ( राजपरिवार, राजसभा और प्रजाजनों में अपने विद्यागुणों से अत्यन्त बसने वाला सर्वमान्य विद्वान् )

देवता—इन्द्रवरुणौ देवते (मेघताडक इन्द्र-विद्युत् "यदशनिरिन्द्रः" (कौ० ६।९) उसका प्रयोक्ता उस जैसी शक्तिवाला संहारक सेनानायक और वरुण आकाश में फैलकर रहने वाले सूक्ष्म जल "आपः-यद्व वृत्वाऽतिष्ठंस्तद्वरुणोऽभवत्तं वा एतं वरणं सन्तम् वरुण इत्याचक्षते परोक्षेण" (गो० पू० १।७) उसका प्रयोक्ता शत्रुप्रहारवारक स्वसेना का रक्षणकर्म-निधायक नीतिज्ञ सेनाध्यक्ष ।

युवां न॑रा॒ पश्य॑मानास॒ आप्यं॑ प्रा॒चा ग॒व्यन्तः॑ पृथु॒पर्श॑वो ययुः ।
दासा॑ च वृ॒त्रा ह॒तमार्या॑णि च सु॒दास॑मिन्द्रा वरु॒णाव॑सावतम्

॥ १ ॥

( इन्द्रावरुणा नरा युवाम् ) हे विद्युदस्त्रप्रयोक्ता विद्युद्वत् प्रहारक सेनानायक और वारणशक्तिसम्पन्न सेनाध्यक्ष जनो तुम्हारे में 'युवां युवयोः' विभक्तिव्यत्ययश्छान्दसः' (प्राचा-आप्यं पश्यमानासः ) प्राक् सामने से अर्थात् साक्षात् आप्तव्य सम्बन्ध पद एवं अपनापन देखते हुए सैनिक जन ( गव्यन्तः-ययुः ) तुम्हारे आदेशानुसार अपनी राष्ट्रभूमि को चाहते हुए युद्ध में चल पडे-चल पडते हैं-"गौः पृथिवीनाम" ( निघं० १ । १ ) 'क्यजन्तः प्रयोगः' ( दासा वृत्रा च-आर्याणि च हतम् ) जबकि हमारे सत्कर्मनाशक दल तथा आक्रमण से घेरनेवाले पापीजन

नागरिक को हे पूषा ! सूर्य या पशुखाद्ययातायातमन्त्री प्राप्त करा ॥ २ ॥

अदित्सन्तं चिदाघृणे पूषन् दानाय चोदय ।
पणेश्चिद्वि म्रदा मनः ॥ ३ ॥

( आघृणे पूषन् ) हे आगतघृणे ! प्राप्त प्रदीप्ति वाले "अघृणिरागतघृणिः" ( निरु० ५ । ६ ) या प्राप्त तेज वाले "घृणिर्ज्वलतो नाम" ( निघ० १ । १७ ) सूर्य ! या पशुखाद्य-यातायातमन्त्री ! ( अदित्सन्तं चित् ) न देने की इच्छावाले को भी ( दानाय चोदय ) दान के लिए-देने के लिये प्रेरित कर ( पणेः-चित्-हि मनः-म्रदा ) व्यापारी-बदले में देने वाले के मन को भी विना बदले दान देने के लिये मन को मृदु कर दे-पिघला दे ॥ ३ ॥

वि पथो वाजसातये चिनुहि वि मृधो जहि ।
साधन्तामुग्र नो धियः ॥ ४ ॥

( उग्र ) हे तेजस्वी पूषा-सूर्य या पशुखाद्ययातायातमन्त्री ! तू ( वाजसातये ) अन्नसम्भक्ति इतस्ततः से अन्नप्राप्ति के लिए "वाजोऽन्नम्" ( निघ० २ । ७ ) तथा 'श्लेष से' संग्राम में भाग लेने के लिये-संग्राम में लडने जाने के लिये "वाजे संग्रामनाम" ( निघ० २ । १७ ) ( पथः विचिनुहि ) मार्गों अनेक मार्गों को पृथक् पृथक् कर-पृथक् पृथक् बना स्वप्रकाश से या स्वज्ञान से ( मृधः-विजहि ) संग्रामों-संग्रामों में शत्रुओं को स्थानच्युत करदे-तितर-वितर करदे-अस्त व्यस्त करदे अस्त्र प्रयुक्त होकर या अस्त्र का प्रयोग करके ( नः-धियसाधन्ताम् ) हमारे कर्म

"धीः कर्मनाम" ( निघ० २।१ ) सिद्ध हों "कर्मणि कर्तृप्रत्ययः" ॥ ४ ॥

परि॑ तृन्धि प॒णीना॒मार॑या॒ हृद॑या कवे ।

अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धया ॥ ५ ॥

( कवे ) हे क्रान्तदर्शी दूर तक दिखाने वाले पूषन्-सूर्य या दूर तक देखने वाले पशुखाद्ययातायातमन्त्री ! तू (पणीनां हृदया-आरया परितृन्धि ) द्यूतव्यवहारियों जुहारियों के हृदयों-हृदय-स्थभावों को-कठोरताओं को आरा समान वाक् प्रहार फटकार से 'लुप्तोपमावाचकालङ्कारः' छिन्नभिन्न कर ( अथ ) अनन्तर ( इम् ) उन्हें ( अस्मभ्यं रन्धय ) हमारे लिये संसिद्ध कर-अनुकूल बना ॥ ५ ॥

वि पू॑षन्नार॑या तुद प॒णेरि॑च्छ हृ॒दि प्रि॒यम् ।

अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥ ६ ॥

( पूषन्-आरया वितुद ) हे पूषा पूर्वोक्तपुष्टिकर्त्ता तू ! समस्त रमण करने वाले फटकार से द्यूतव्यवहारियों के हृदय-स्थभावों को विशेषरूप से हिलादे ( पणेः-हृदि प्रियम्-इच्छ ) द्यूतव्यापारी के हृदय में अनुकूल दानभाव की चाहना कर। ( अथेम० ) पूर्ववत् ॥ ६ ॥

आ रि॑ख किकि॒रा कृ॑णु प॒णीनां॒ हृद॑या कवे ।

अथे॑म॒स्मभ्यं॑ रन्धय ॥ ७ ॥

( कवे ) हे क्रान्तदर्शी पूषा ! तू ( पणीनां हृदया-आरिख ) उन अन्यथा व्यवहारियों के हृदयो-हृदयस्थदुर्भावों को समस्त-

रूप से उखाड दे‡ ( किकिरा कृणु ) विकीर्ण करदे-विखेर दे-चूरचूर कर दे× ( अथेम० ) पूर्ववत् ॥ ७ ॥

यां पूषन् ब्रह्मचोदनीमारां बिभर्ष्याघृणे ।
तया समस्य हृदयमारिख किकिरा कृणु ॥ ८ ॥

( आघृणे पूषन् ) हे आगतघृणे-प्राप्तदीप्ति वाले पूषन्-सूर्य या पशुखाद्ययातायातमन्त्री ! ( यां ब्रह्मचोदनीम्-आरां बिभर्षि ) जिस अन्नप्रेरिका "ब्रह्म अन्ननाम" ( निघ० २ । ७ ) आरा-हल जोतने की शलाका फाली को धारण कर रहा भूमि या खेत को चीर देने के लिये (तया समस्य हृदयम्-आ रिख किकिरा कृणु) उससे सब दुर्व्यवहारकर्त्ता के हृदयों-हृदयस्थदुर्भावों को उखेड और विखेर दे-चूरचूर कर दे ॥ ८ ॥

या ते अष्ट्रा गो ओपशाघृणे पशुसाधनी ।
तस्यास्ते सुम्नमीमहे ॥ ९ ॥

( आघृणे ) हे आगतघृणे-प्राप्तदीप्ति वाले पूषा ! सूर्य या पशुखाद्ययातायातमन्त्री ! ( ते या अष्ट्रा गो ओपशा ) तेरी जो व्यापनेवाली किरणों में भली भांति उपशयन करने वाली तेज शक्ति* या गौ-बैलों में समस्त रूप से आरा-अणि (पशुसाधनी) पशुओं देखने वालों को सावधान रखनेवाली या गौ आदि

---

‡ लिख विलेखने लकारस्य रेफश्छान्दसः

× "कृ विक्षेपे" ( तुदादि० ) ततः 'इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः' ( अष्टा० ३।१।१३७) श्लुवच्छान्दसम् ।

* गोषु-आ समन्तात् उपशेते सा गो ओपशा 'सप्तम्यां जनेर्डः—अन्येष्वपि दृश्यन्ते

को नियन्त्रण में रखने वाली है ( ते तस्याः-सुम्नम्-ईमहे ) तेरी उस आरा शासनी से हम सुख मांगते हैं-चाहते हैं ॥९॥

उत नो गोषणिं धियमश्वसां वाजसामुत ।
नृवत् कृणुहि वीतये ॥ १० ॥

( उत ) और पूषा तू ( गोषणिम् ) गौओं की सम्भक्ति-प्राप्ति को उन से प्राप्त होने वाले दूध भार वहन को (अश्वसाम्) घोड़ों की सम्भक्ति-प्राप्ति को उनसे आरोहण या चालन को ( वाजसाम् ) अन्नसम्भक्ति प्राप्ति को ( नृवत् ) पुत्र आदि सम्बन्धी जनों की सम्भक्ति-प्राप्ति को† ( नः-वीतये कृणुहि ) हमारी तृप्ति के लिये कर ॥ १० ॥

---

† न॒न् वनति नृवत् 'क्विप्' ततः 'सुपां सुलुक्'

## ऋग्वेद मण्डल ६ सूक्त ५३

ऋषि:—भरद्वाजः ( अन्नादि का धारणकर्त्ता व्यापारी कृषक )

देवता—पूषा ( आधिदैविकक्षेत्र में सूर्य-'अथ यद् रश्मिपोषं पुष्यति तत् पूषा भवति' ( निरु० १२।१६ ) आधिभौतिक क्षेत्र में पशुखाद्ययातायातमन्त्री "पूषा वै पशूनामीष्टे" ( शत० १३।३।८।२ ), 'पूषा वै पथीनामधिपतिः" ( शत० १३। ४। १। ४४ )

वयमु त्वा पथस्पते रथं न वाजसातये ।
धिये पूषन्नयुज्महि ॥ १ ॥

( पथः-पते पूषन् ) हे मार्ग के स्वामी ! पूषा-सूर्य या पशु-खाद्ययातायातमन्त्री ! ( वाजसातये धिये ) अन्न की सम्भक्ति-प्राप्ति के लिये तथा वैसी क्रिया के लिये "धीः कर्मनाम" (निघ० २। १ ) ( वयं त्वा-उ ) हम तुझे अवश्य ( रथं न-अयुज्महि ) रथ के समान जीवन यात्रा में युक्त या उपयुक्त करते हैं ॥१॥

अभि नो नर्यं वसु वीरं प्रयतदक्षिणम् ।
वामं गृहपतिं नय ॥ २ ॥

( नर्यं वसु ) नरों-मनुष्यों के हितकर धन को, तथा (वीरम्) पुत्र को "पुत्रो वै वीरः" ( शत० ३। ३। १। १२ ) ( प्रयत-दक्षिणम् ) प्रकृष्टरूप यत-शुद्ध या उदारभाववाली दक्षिणा जिसमें हो उस यज्ञ को ( वामम् ) जो कि वननीय श्रेष्ठ हो उसे (नः-गृहपतिम्-अभिनय ) हमारे में से गृहस्वामी-प्रत्येक

"पाप्मा वै वृत्रः" ( शत० ११ । १ । ५ । ७ ) 'आर्यः-अरेः' शत्रुपक्षीय दलों का तुमने हनन कर दिया ( सुदासम्-अवसा-आवतम् ) उत्तमदानकर्त्ता राजा की "सुदाः कल्याणदानः" ( निरु० २ । २५ ) अपने रक्षणसाधनों से रक्षा करो-करते रहो ॥ १ ॥

यत्रा नरः समयन्ते कृतध्वजो यस्मिन्नाजा भवति किं चन प्रियम् ।
यत्रा भयन्ते भुवना स्वर्दृशस्तत्रा न इन्द्रावरुणाधि वोचतम् ॥ २ ॥

( यत्र-आजा ) जिस संग्राम में 'आजा-आजौ-सप्तम्यामाकारादेशश्छान्दसः' "आजौ संग्रामनाम" (निघं० २।१७) (कृतध्वजः-नरः-समयन्ते ) 'कृतध्वजः-अधिकृतध्वजः' ध्वज पताकाएँ अपने हाथों में दृढ पकडे हुए भिन्न भिन्न दलनायक जन सम्यक् चलते हैं 'मार्च करते हैं' ( यस्मिन् किंचन प्रियं भवति ) जिस संग्राम में कुछ भी प्रिय-अनुकूल लक्ष्य होता है-संग्राम अन्यथा नहीं किया जाता है अन्यथा नहीं लडना चाहिए अपितु अपना विरोधी होने अपने को हानि पहुँचाने या उसकी प्रजा दुःखी होने उसके घोर पापी अत्याचार होने पर संग्राम करना होता है ( यत्र भुवना स्वर्दृशः-भयन्ते ) जहाँ प्राणी साधारणजन एवं मोक्षदर्शी ऋषि भी डरते हैं ऐसे पर राष्ट्र में अपने राष्ट्र में भी (तत्र इन्द्रावरुणा नः-अधिवोचतम् ) उस संग्राम के निमित्त सेनानायक और सभाध्यक्ष हम से संग्राम करने का आदेश दें ॥ २ ॥

सं भूम्या अन्ता ध्वसिरा अदृक्षतेन्द्रावरुणा दिवि घोष आरुहत् ।
अस्थुर्जनानामुप मामरातयोऽर्वागवसा हवनश्रुतागतम् ॥ ३ ॥

(भूम्याः-अन्ताः) जब राष्ट्रभूमि के समीपी भाग (ध्वसिराः-समदृक्षत ) पर सैनिकों या शत्रुओं से ध्वस्त-नष्टभ्रष्ट किए हुए दिखलाई पडते हों ( घोषः-दिवि-आरुहत् ) पर सैनिकों का पदघोष या शत्रुघोष आकाश में उठ रहा-हो रहा हो (अरातयः) शत्रुसैनिकजन ( जनानां माम्-उपास्थुः ) प्रजाजनों के और मेरे पास आपहुंचे हों, तब (हवनश्रुता-इन्द्रावरुणा-अवसा-अर्वाक्-आगतम् ) हे हमारे वचन को सुनने वाले सेनानायक और सेनाध्यक्ष तुम रक्षा के हेतु हमारी ओर आओ ॥ ३ ॥

इन्द्रा॑वरुणा व॒धना॑भिरप्र॒ति भे॒दं व॒न्वन्ता॒ प्रसु॒दास॑मावतम् ।
ब्रह्मा॑ण्येषां शृणु॒तं हवी॑मनि स॒त्या तृत्सू॑नामभवत् पु॒रोहि॑तिः॥४॥

( इन्द्रावरुणा ) हे सेनानायक और सेनाध्यक्ष ! तुम ( वधनाभिः ) वधक क्रियाओं से ( अप्रति भेदं वन्वन्ता ) शत्रुओं में अप्रतिगत-अप्रत्यक्ष-अप्रकट भेद को प्रकाशित करते हुए या अप्रति-अप्राप्त भेद को चाहते हुए "वनोति कान्तिकर्मा" (निघं० २ । ६ ) ( सुदासं प्रावतम् ) अच्छे सुखदाता राजा की रक्षा करो ( हवीमनि तृत्सूनां सत्या ब्रह्माणि शृणुतम् ) स्पर्धास्थल संग्राम में इन हमारे पक्षवाले शत्रुहिंसक सैनिकों के "तृदिर् हिंसायाम्" (भ्वादि०) भावनारूप वचनों को सुनो "वाग् वै ब्रह्म" ( ऐ० २।१५ ) ( पुरोहितिः सत्या-अभवत् ) तुम्हारी पुरोगामिता सत्य सफल हो ॥ ४ ॥

इन्द्रा॑वरुणाव॒भ्याऽत॑पन्ति मा॒घान्य॒र्यो व॒नुषा॒मरा॑तयः ।
यु॒वं हि वस्व॑ उ॒भय॑स्य॒ राज॒थोऽध॑ स्म नोऽवतं॒ पार्ये॑ दि॒वि॥५॥

( अर्यः ) 'अरेः' शत्रु के ( अघानि ) पाप, तथा ( वनुषाम्-अरातयः ) हिंसकों के "वनुष्यति हिंसाकर्मा" ( निरु० ५ । २ )

न देने–शोषणभाव ( मा–अभि–आतपन्ति ) मुझे अभितापित करते उकसाते हैं ( इन्द्रावरुणा युवं हि ) हे सेनानायक और सेनाध्यक्ष ! तुम दोनों ही ( उभयस्य वस्वः–राजथः ) दोनों वसु–ऐश्वर्य के प्रजाधन और राज्यधन के राजा हो ( अद्य स्म ) अब तो (पार्ये दिवि) पर ऊँचे में होनेवाले ज्ञानप्रकाश में (नः–अवतम् ) हमारी रक्षा करो ॥ ५ ॥

युवां हवन्त उभयास आजिष्विन्द्रं च वस्वो वरुणं च सातये ।
यत्र राजभिर्दशभिर्निबाधितं प्र सुदासमावतं तृत्सुभिः सह ॥६॥

( उभयासः ) प्रजाजन और राजपुरुष दोनों जन ( युवाम्–इन्द्रं च वरुणं च ) तुम दोनों इन्द्र–सेनानायक और वरुण–सेनाध्यक्ष को ( आजिषु हवन्ते ) संग्रामों में पुकारते हैं ( वस्वः सातये ) राष्ट्र ऐश्वर्य–सम्पत्ति के लिए ( यत्र ) जिन संग्रामों में ( तृत्सुभिः–दशभिः–राजभिः सह ) जिसको दश राजाओं के साथ या दशों दिशाओं में राजमान या हिंसकों की भाँति देवों के साथ ( निर्बाधितं सुदासम् ) पीडित किए सुन्दर दाता राजा ( प्रावतम् ) रक्षा करते हो ॥ ६ ॥

दश राजानः समिता अयज्यवः सुदासमिन्द्रावरुणा न युयुधुः ।
सत्या नृणामद्मसदामुपस्तुतिर्देवा एषामभवन्देव हूतिषु ॥७॥

( इन्द्रावरुणा ) हे सेनानायक और सेनाध्यक्ष । अयज्यवः–दश राजानः समिताः ) यजन न करने वाले पापी दश राजा मिल का भी या अन्यत्र–प्रयुक्त दशों दिशाओं के भौतिक देव मिलकर भी ( सुदासं न युयुधुः ) सुदास–उत्तम सुखदाता राजा को–के साथ युद्ध नहीं कर सकते तुम्हारे रक्षण में ( अद्मसदां नृणाम्–उपस्तुतिः सत्या ) अन्न सम्भाग करने

वालों-सबको समानभाव से खिलाने वालों "अन्नसद् अन्नसानी ( निरु० ४ । १९ ) मनुष्यों की प्रसिद्धि सफल होती है ( एषां देवहूतिषु देवाः-अभवन् ) देव-चेतन अचेतन देव इन की देवों को वे पुकार स्थलियों में सहायक होते हैं ॥ ७ ॥

दाशराज्ञे परिंयत्ताय विश्वतः सुदासं इन्द्रा वरुणावशिक्षतम् । श्वित्यञ्चो यत्र नमसा कपर्दिनो धिया धीवन्तो असंपन्त तृत्सवः ॥ ८ ॥

( दाशराज्ञे विश्वतः परियत्ताय ) शत्रुभूत दश राजाओं के इस † प्रतिरोधी प्रतिरोध करने वाले सब ओर से घिरे हुए ( सुदासे ) सुदास्-कल्याणदान-सुन्दर सुख प्रदाता राजा के लिए ( इन्द्रावरुणौ-अशिक्षतम् ) सेनानायक और सेनाध्यक्ष ने बल दिया "शिक्षति दानकर्मा" ( निघं० ३ । २० ) ( यत्र ) जहां ( श्वित्यञ्चः ) पवित्र भावना को प्राप्त ( कपर्दिनः ) ब्रह्मचारी जन ( धीवन्तः ) कृतबुद्धि विद्वान् ( तृत्सवः ) पाप-विनाशक ( नमसा धिया ) अपने वज्र "नमो वज्रनाम" ( निघं० २ । ६ ) और कर्म से ( असपन्त ) संग्राम में सहारा का आचरण करते हैं "सपति परिचरणकर्मा" ( निघं० ३ । ५ । ॥ ८ ॥

वृत्राण्यन्यः समिथेषु जिघ्नते व्रतान्यन्यो अभि रक्षते सदा । हवामहे वां वृषणा सुवृक्तिभिरस्मे इन्द्रावरुणा शर्म यच्छतम् ॥ ९ ॥

( इन्द्रावरुणा ) हे सेनानायक और सेनाध्यक्ष ! ( अन्यः समिथेषु मित्राणि जिघ्नते ) तुम्हारे में एक-इन्द्र-सेनाध्यक्ष या सेनानायक संग्रामों में "समिथं संग्रामनाम" ( निघं० २ । १७ )

† दशराशमयम्-इति 'तस्येदम्' इत्यर्थे ताद्धितोऽण् ।

आवरक-आक्रमण करने वाले शत्रुओं का हनन करता है † अन्यः-सदा व्रतानि-अभिरक्षति ) दूसरा वरुण सेनाध्यक्ष कर्मों-सैनिक नियमों या कार्यों का अभिरक्षण करता है "व्रतं कर्मनाम" ( निघं० २ । १ ) ( वृषणा वाम् ) हे सुखों के वर्षको तुम्हें ( सुवृक्तिभिः-हवामहे ) सुप्रवृत्त प्रशंसाओं से पुकारते हैं ( अस्मे शर्म यच्छतम् ( हमारे लिए सुख-शरण दो ॥ ९ ॥

अस्मे इन्द्रो वरुणो मित्रो अर्यमा द्युम्नं यच्छन्तु महि शर्म सप्रथः।
अवध्रं ज्योतिरदितेर्ऋतावृधो देवस्य श्लोकं सवितुर्मनामहे
॥ १० ॥

( अस्मे ) हमारे लिए ( इन्द्रः ) विद्युदस्त्र प्रयोक्ता (वरुणः) जल-वारणसाधन वरुणास्त्र प्रयोक्ता ( मित्रः ) अग्नि-आग्नेय अस्त्र-प्रयोक्ता ( अर्यमा ) सूर्य-सौरास्त्र प्रयोक्ता ( महि द्युम्न सप्रथ शर्म यच्छन्तु ) महत् धन विस्तृत सुख-शरण देकर ( अदितेः-अवध्रं ज्योतिः ) उषा की अखण्डनीया विद्या की अवध्य ज्योति को या ज्ञान ज्योति को ( ऋतावृधः-देवस्य सवितुः श्लोकं मनामहे ) सत्यज्ञान के वर्धक सविता-परमात्मदेव के वेदवचन को मानते हैं-मानें-जानें ॥ १० ॥

---

† 'हन् धातोरात्मनेपदं छान्दसं श्लु श्चापि छान्दसः "बहुलं छन्दसि" ( अष्टा० २ । ४ । ७६ ) ङित्वादुपधालोपः "गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि" ( अष्टा० ६ । ४ । ९८ )

# ऋग्वेद मण्डल ७ सूक्त ८६

ऋषिः—वसिष्ठः ( परमात्मा में अतिशय से वसनेवाला उपासक† )
देवता—वरुणः ( वरने योग्य तथा वरनेवाला उभयगुणसम्पन्न परमात्मा‡ )

**धीरा त्वस्य महिना जनूंषि वि यस्तम्भ रोदसी चिदुर्वी ।**
**प्र नाकमृष्वं नुनुदे बृहन्तं द्विता नक्षत्रं पप्रथच्च भूम ॥ १ ॥**

**( यः-उर्वी रोदसी चित् ) जो वरुण-वरने योग्य वरने वाला परमात्मा विश्व या खगोल के दो महान् "रोदसी-रोधसी विरोधनात्-रोधः कूलं निरुणद्धि स्रोतः" ( निरु० ६।१ ) रोधन करनेवाले दोनों ओर से कटाह सम्पुट-दो कटाहों के मुखमेल के समान वर्त्तमान उत्तरगोलार्द्ध दक्षिणगोलार्द्ध सीमाओं को भी**

---

† वसिता-परमात्मा में शरीर बसने वाला, वसीयान्-परमात्मा में पूर्वापेक्षया अधिक वसनेवाला जिसका मन भी वस गया वह आस्तिक-जन । वसिष्ठ पुनः उससे अत्यधिक परमात्मा में वसनेवाला जिसका आत्मा भी वस गया वह उपासक जैसे "तेजोऽसि तेजो मयि धेहि" ( यजु० १६ । ६ )

‡ संसार में कोई वरने योग्य वस्तु है वह हमें नहीं वरती जड होने से या उसका हमसे स्वार्थ सिद्ध नहीं होता या हमें वह वरना चाहता है पर हमारे वरने योग्य नहीं होने से, वरने योग्य और वरने वाला होने पर भी देश-काल-परिस्थितियाँ बाधक हो जाती हैं । परन्तु परमात्मा और हमारे मध्य कोई बाधक न होने से वह सदैव वरने योग्य और वरने वाला है तथा सारे संसार को आवृत कर अपने अन्दर घेर कर रखने वाला होने से भी वरुण है ।

( विष्तस्तम्भ ) थामे हुए-नियन्त्रित किये हुए-सम्भाले हुए-बाँधे हुए हैं और जिसने ( ऋष्वं नाकं प्र नुनुदे ) उन सीमारूप दोनों गोलार्द्धसम्पुटों के अन्दर महान् "ऋष्वं महन्नाम" ( निघ० ३ । ३ ) द्युमण्डल-नक्षत्रगणक्षेत्र-जिसमें नक्षत्रगण रहते हैं "नाकं द्युमण्डलम्" ( निरु० २।१३ ) उसे प्रेरित किया सूजा प्रगतिशील बनाया ( च ) और जिसके अन्दर ( बृहन्तं नक्षत्रं भूम द्विता पप्रथत् ) महान् "बृहत्-महन्नाम" (निघ० ३।३) नक्षत्रगण को बहुत दूर दूर दो विभागों में उत्तरगोलार्द्ध और दक्षिणगोलार्द्ध, दृष्टगतिवाले, अदृष्टगतिवाले, प्रकाशक और प्रकाश्य के भेदों से विस्तारित किया फैलाया ( नु ) तो पुनः प्रत्येक नक्षत्र लोकपिण्ड पर (अस्य महिना जनूंषि धीरा) इस वरुणरूप परमात्मा की महिमा से-महती शक्ति द्वारा 'जनूंषि जायन्ते प्राणिनो येषु तानि जन्मानि योनयः' जीव जिनमें जन्मते हैं वे योनियां भिन्न भिन्न शरीर 'धीरा-धीराणि दृढानि' दृढ बन्धन रूप हैं-आत्माओं के बांधने वाले हैं ॥ १ ॥

उत स्वया तन्वा३ सं वदे तत्कदा न्वन्तर्वरुणे भुवानि ।
किं मे हव्यमहृणानो जुषेत कदा मृळीकं सुमना अभिख्यम्
॥ २ ॥

( उत स्वया तन्वा संवदे ) हाँ ! मैं अपनी देह से संवाद करता हूँ-पूछता हूँ ( तत् कदा नु वरुणे-अन्तः-भुवानि ) तो फिर कब मैं वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मा के अन्दर विराजमान होऊं-ऐसा दिन कब आयेगा जबकि मैं वरने योग्य और वरने वाले परमात्मा में अपने को विराजमान देखूं ( मे ) मेरी ( किं हव्यम् ) किस भेंट को ( अहृणानः-जुषेत ) वह स्वागत करता हुआ स्वीकार करे ( कदा मृडीकं सुमनाः-

अभिख्यम् ) कब मैं सुख-पूर्वक आनन्दरूप परमात्मा को पवित्र मनवाला और निरुद्धमन वाला होकर देख सकूं ॥ २ ॥

पृच्छे तदेनो॑ वरुण दि॒दृक्षूपो॑ एमि चि॒कि॒तुषो॑ वि॒पृच्छ॑म् ।
स॒मा॒नमिन्मे॑ क॒वय॑श्चिदाहुर॒यं ह॒ तुभ्य॒ं वरु॑णो हृणीते ॥ ३ ॥

( वरुण ) हे वरने योग्य और वरने वाले परमात्मन् ! ( दिदृक्षु† ) मैं तेरे दर्शन का इच्छुक ( तत्-एनः पृच्छे ) उस दोष को पूछता हूं जो तेरे दर्शन में बाधक है तथा ( चिकितुषः-उप-एमि-उ विपृच्छम् ) विद्वानों के पास जाता हूं और उनसे पूछता हूं कि मेरे में क्या दोष है ( कवयः-चित् ) वे विद्वान् भी ( मे समानम्-इत् आहुः ) मुझे समान ही उत्तर देते हैं कि ( अयं ह वरुणः-तुभ्यं हृणीते ) अरे यह वरुण परमात्मा तेरे लिये अनादर करता है-अस्वागत भाव तेरे प्रति रखता है अयोग्य स्तुति-प्रार्थना-उपासना करने रूप अपराध से ॥३॥

किमाग॑ आस वरुण॒ ज्येष्ठ॒ं यत् स्तो॒तार॒ं जिघांस॑सि॒ सखा॑यम् ।
प्र तन्मे॑ वोचो दूळभ स्वधा॒वोऽव॑ त्वाऽने॒ना नम॑सा तु॒र ईयाम्
॥ ४ ॥

( वरुण किं ज्येष्ठम्-आगः-आस ) हे वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मन् ! मेरा क्या बडा अपराध है ? ( यत् स्तोतारं सखायं जिघांससि ) कि जो स्तुति करने वाले सखा को अपने अदर्शन से पीडित करना चाहता है ( दूळभ स्वभावः-तत्-मे प्रवोचः ) हे दुर्लभदर्शनीय या दुर्दमनीय आनन्दरस वाले परमात्मन् ! उस अपराध को मुझे बतला । जिससे ( अनेनाः-तुरः-नमसा-अव इयाम् ) मैं पापरहित होकर शीघ्र नम्रीभाव से तुझे प्राप्त होऊं ॥ ४ ॥

† "सुपा सुलुक्..." ( अष्टा० ७ । १ । ३९ ) इति सुलुक्

अव॑ द्रुग्धानि॒ पित्र्या॑ सृजा॒ नोऽव॒ या व॒यं च॑कृ॒मा त॒नूभिः॑ ।
अव॑ राजन् पशु॒तृपं॒ न ता॒युं सृ॒जा व॒त्सं न दाम्नो॒ वसि॑ष्ठम् ॥५॥

( राजन् नः पित्र्या द्रुग्धानि–अवसृज ) हे वरने योग्य वरने वाले राजमान परमात्मन् ! हमारे पैतृक–पितरों–पितापितामह आदि द्वारा किये तेरे प्रति द्रोहों–नास्तिकभावों को छोड–उन्हें मेरे सम्बन्ध में न गिन ( वयं तनूभिः–या चकृम–अवसृजः ) तथा हमने अपने अङ्गों से जो तेरे प्रति द्रोह–नास्तिकभाव–अपराध किये हैं उन्हें भी 'छोड दे–न गिन' ऐसे कि ( पशुतृपं न तायुम्–अवसृज ) जैसे पश्चात्तापशील चोर चोरी करके पर-धन से पुष्ट हो किसी दैवी ठोकर से या उपदेश से पश्चात्ताप कर अपने देह को किसी जङ्गली पशु को खिला देने तक उद्यत हुआ हो वह छोडने योग्य होता है एवं मुझे छोड दे तथा ( वत्सं न दाम्नः–वसिष्ठम् ) बच्चा जैसे अज्ञानवश पाप सम्पर्क में आये अपने उपासक को सुरक्षित रख ॥ ५ ॥

न स स्वो दक्षो॑ वरुण॒ ध्रुतिः॒ सा सुरा॑ म॒न्युर्वि॒भीद॑को॒ अचि॑त्तिः ।
अस्ति॒ ज्याया॒न् कनी॑यस उपा॒रे स्वप्न॑श्च॒नेदनृ॑तस्य प्र॒योता॑ ॥६॥

( वरुण सः–स्वः–दक्षः–न ) हे वरने योग्य एवं वरने वाले परमात्मन् ! वह मेरा अपना स्वरूप† 'अनृतस्य प्रयोता' अनर्थ का प्रेरक नहीं है किन्तु ( सा ध्रुतिः ) वह प्रथम से चली आई वासना–कामवासना ( सुरा ) चेततत्त्व से अपसारित करनेवाली

† "दक्ष गतौ" ( भ्वादि० ) गतेर्ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्चत्रयोऽर्थास्ततः प्राप्तिरत्र गृह्यते स्वरूपमिति यावत् ।

वाली मादक वस्तु ( मन्युः ) क्रोध (विभीदकः) विभेदक–असम व्यवहार द्यूत आदि अतिक्रान्त लोभ (अचित्ती) मोह (कनीयसः– उपारेज्यायान् ) छोटे के गति चक्र की परिधि पर रोधक बड़ा व्यक्ति–भयप्रदाता–भयकारक–भय का होना ( स्वप्नः–चन इत् ) चिन्तन–चिन्ता–शोक भी इन सात से प्रत्येक (अनृतस्य प्रयोता– अस्ति ) अनर्थ का प्रेरक है ॥ ६ ॥

अरं दासो न मीळ्हुषे कराण्यहं देवाय भूर्णयेऽनागाः ।
अचेतयदचितो देवो अर्यो गृत्सं राये कवितरो जुनाति ॥७॥

( अहम्–अनागाः ) मैं निष्पाप हुआ ( भूर्णये देवाय ) उस भरण–पोषण करने वाले परमात्मदेव के लिए (अरं कराणि दासः– न मीढुषे ) मैं अपने को दोषों से पृथक् कर सद्गुणों से अलंकृत करता हूं–योग्य बनाता हूँ जैसे दानप्रार्थी "दासृ दाने" अपने योग्य बनाता है सुख का सिञ्चन करने वाले दाता के लिये ( अर्यः कवितरः–देवः ) वह जगत्स्वामी क्रान्तदर्शी सर्वज्ञ परमात्मदेव ( अचितः–अचेतयत् ) अज्ञों को चेताता है ( राये गृत्सं जुनाति ) ऐश्वर्य–मोक्षैश्वर्य के लिये अपने स्तोता–स्तुतिकर्त्ता उपासक को आगे बढ़ाता है ॥ ७ ॥

अयं सु तुभ्यं वरुण स्वधावो हृदि स्तोम उपश्रितश्चिदस्तु ।
शं नः क्षेमे शमु योगे नो अस्तु यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः
॥ ८ ॥

( स्वधावः–वरुण ) हे रसीले† परमात्मन् ! ( तुभ्यम् ) तेरे

† 'जीव स्वभाव से पवित्र है' ( सत्यार्थप्रकाश सप्तमसमुल्लास–दयानन्द )

लिए (अयं सु स्तोमः) यह अनुराग भरा स्तन-स्तुतिवचन (हृदि उपश्रितः-चित्-अस्तु ) मेरे हृदय में उपस्थित रहे ( नः क्षेमे शम् ) वह हमारे रक्षाकार्य में कल्याणप्रद हो (नः-योगे शम्-उ-अस्तु ) हमारे प्राप्तिकार्य में भी अवश्य कल्याणकारी हो ( यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात ) तुम अपने कृपाकारों से सदा हमारी रक्षा करो ॥ ८ ॥

---

## ऋग्वेद मण्डल ७, सूक्त ८८

ऋषिः—वसिष्ठः ( उपासक पूर्ववत् )

देवता—वरुणः ( परमात्मा पूर्ववत् )

प्र शुन्ध्युवं वरुणाय प्रेष्ठां मतिं वसिष्ठ मीळ्हुषे भरस्व ।
य ईमर्वाञ्चं करते यजत्रं सहस्रामघं वृषणं बृहन्तम् ॥ १ ॥

( वसिष्ठ ) उपासक अपने को सम्बोधित करता है ओ परमात्मा में अत्यन्त वसने वाले ! तू ( मीढुषे वरुणाय ) सुख का सिञ्चन करने वाले वरुण परमात्मा के लिए ( शुन्ध्युं प्रेष्ठां मतिं प्रभरस्व ) पवित्र अतिप्रिय-हार्दिकी स्तुति को भेंट कर ( यः ) जो वरुण परमात्मा ( यजत्रम् ) यज्ञियम्-यजनीय-सङ्गमनीय-प्रापणीय "यजत्रं यज्ञियम्" ( शत० ६ । ६ । ३ । ६ ) ( सहस्रमघम् ) बहुधन समान-बहुमूल्य "सहस्रं बहुनाम" ( निघं० ३ । १ ) "मघं धननाम" ( नि०घं २ । १० ) ( बृहन्तम् ) महान् ( वृषणम् ) शान्तिवर्षक को ( ईम् ) मेघ जल के समान "ईम् उदक नाम" ( निघं० १ । १२ ) ( अर्वाञ्चं करते ) इधर मुझ उपासक की ओर कर देता है ॥ १ ॥

अधा न्वस्य सन्दृशं जगन्वानग्नेरनीकं वरुणस्य मंसि ।
स्व१र्यदश्मन्नधिपा उ अन्धोभि मा वपुर्दृशये निनीयात् ॥२॥

( अधा नु ) अब तो ( अस्य ) इस वरुण परमात्मा की ( सन्दृशं जगन्वान् ) झांकी को मैंने पालिया जब ( अग्नेः-

अनीकं वरुणस्य मंसि) मैं अग्नि–अग्निमात्र विद्युत्–सूर्य की अग्नि के भी बल–तेज प्रकाश को वरुण परमात्मा का मान लिया–जान-लिया "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" ( कठोप० ५ । १५ ) ( यत् ) जब ( अश्मन्–अन्धः–अधियाः–उ ) शिला पर दिसा सोमरूप है । उसके खूब पान कर्त्ता की भाँति 'यहाँ उपमाल-ङ्कार' है या "उ" उपमार्थ छान्दस है । "अन्धसस्पते सोमस्य पते" ( शत० ६ । १ । १ । २४ ) मेरे अभ्यासरूप शिला पर उपासना-रूप तथा जप और अर्थभावनारूप पिसे–घुटे सोम का खूब पान कर चुके वरुण परमात्मा ( स्वः–वपुः ) स्वर्–अपने में रमण करने वाले रूप–स्वाधीन सुखस्वरूप को "वपुः–रूपम्" ( निघं० ३ । ७ ) ( दृशये–मा–अभि निनीयात् ) दिखाने के लिए मुझे अपनी ओर लेता है–आलिङ्गित करता है ॥ २ ॥

आ यद् रुहाव वरुणश्च नावं प्र यत् समुद्रमीरयाव मध्यम् ।
अधि यदपां स्नुभिश्चराव प्र प्रेङ्ख ईङ्खयावहै शुभे कम् ॥३॥

( यत् ) यदा–जब ( वरुणः–च ) मैं और वरुण पर-मात्मा ( नावम्–आरुहाव ) हम दोनों नौका पर चढे ( यत् समुद्र मध्यं प्रेरयाव ) जब कि समुद्र के अन्दर उसे चलाते हैं ( यत् ) और जब ( अपां स्नुभिः–अधिचराव ) जलों के प्रस्र-वणों–तरङ्गों के साथ अधिकारपूर्वक विचरण करते हैं तो ऐसा लग रहा है जैसे ( शुभे कं प्रेङ्खेयावहै ) शुभ झूले में सुख का झूलना झूलते हैं ॥ ३ ॥

वसिष्ठं ह वरुणो नाव्याधादृषिं चकार स्वपा महोभिः ।
स्तोतारं विप्रः सुदिनत्वे अह्नां यान्नु द्यावस्ततनन् यादुषा सः ॥ ४ ॥

( वरुणः ) वरने योग्य, वरने वाला परमात्मा ( ह ) आश्चर्य ( वसिष्ठम् ) अपने अन्दर अत्यन्त वसने वाले उपासक को ( नावि-आधात् ) मुक्तिरूप नौका में अपने साथ बिठा लिया-लेता है ( स्वपाः-विप्रः ) सुकर्मा † जगदुत्पत्ति और जीवों के कर्मफल प्रदानकर्म का यथार्थ कर्त्ता सर्वज्ञ परमात्मा ( स्तोतारं महोभिः-ऋषिं चकार ) अपने स्तोता को महत्वपूर्ण गुणों से संसार में ऋषि बना देता है तथा ( अह्नां सुदिनत्वे ) उपासक की आयु के दिनों का सुदिनत्व लाने के निमित्त ( द्यावः-ततनन्-नु-यात् ) दिनों को तानता हुआ "द्युः-अहर्नाम" ( निघं० १ । ८ ) ( उषासः-यात् ) रात्रियों को तानता हुआ "रात्रिर्वा 'उषाः'" ( तै० ३ । ८ । १६ । ४ ) वस्त्र में ताने-बाने के समान विस्तृत करता हुआ लम्बी आयु करता है 'यात्-अन्तर्गतणिजर्थः' ॥ ४ ॥

क्व१त्यानि नौ सख्या बभूवुः सचावहे यदवृकं पुरा चित् ।
बृहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते ॥ ५ ॥

( स्वधावः-वरुण ) हे आनन्दरसपूर्ण ‡ परमात्मन् ! ( नौ त्यानि सख्या क्व बभूवुः ) हम दोनो के वे सखिभाव कहाँ चले गए ? ( पुरा चित् यत्-अवृकं सचावहे ) पहले जैसे अभिन्नरूप से सेवन करते थे । वे अब हम दोनों सेवन करें ( बृहन्तं मानं सहस्रद्वारं गृहं ते ) महान् मानकारी-मापने वाले-संसार जिसके सम्मुख तुच्छ है ऐसे बहुत द्वारों वाले खुले विचरण सदन को प्राप्त होऊँ ॥ ५ ॥

---

† "स इत्स्वपा भुवनेष्वास य इमे द्यावापृथिवी जजान' (ऋ० ४।५६।३)

‡ स्वधायै त्वेति रसाय त्वेत्येतदाह" ( शत० ५।४।३।७ )

य आपिर्नित्यो वरुण प्रियः सन् त्वामागांसि कृणवत् सखा ते ।
मा त एनस्वन्तोयक्षिन् भुजेम यन्धि ष्मा विप्रः स्तुवते वरूथम्
॥ ६ ॥

(वरुण) हे वरने योग्य वरने वाले परमात्मन् ! (यः) जो यह मैं उपासक (ते) तेरा (नित्यः) शाश्वतिक (आपिः) तुझे प्राप्त करने का स्वभाव रखने वाला "आप्लृ लम्भने" (चुरादि०) सम्बन्धकर्त्ता (प्रियः सखा सन्) प्रिय समानधर्मी मित्र होता हुआ (त्वाम्-आगांसि कृणवत्) तेरे प्रति अपराधों को कर बैठा तेरे आदेशों का उल्लङ्घन कर जन्ममरण में पड गया (यक्षिन्) हे पूजा-स्तुति के पात्र "यक्ष पूजायाम्" (चुरादि०) 'कर्मणि णिनिश्छान्दसः' (मा-एनस्वन्तः) हम पापी न होकर-निष्पाप होकर तेरे समागमरूप आनन्द को भोगें। अतः (विप्रः) तू विशेष प्रीति करने वाला दयालु होता हुआ (स्तुवते वरूथं यन्धि स्म) स्तुति करते हुए मुझ उपासक के लिए दुःखनिवारक वरणीय मोक्षरूप घर को "वरूथं गृहनाम" (निघं० ३ । ४) प्रदान कर रहा-करता रहो ॥ ६ ॥

ध्रुवासु त्वासु क्षितिषु क्षियन्तो व्यस्मत्पाशं वरुणो मुमोचत् ।
अवो वन्वाना अदितेरुपस्थाद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः
॥ ७ ॥

(आसु ध्रुवासु क्षितिषु क्षियन्तः) इन निचली भूमियों-स्थितियों में "क्षितिः पृथिवीनाम" (निघं० १ । १) रहते हुए हम (त्वा) तुझ स्तुति योग्य की स्तुति करते हैं † (वरुणः-

---

† 'स्तुम इति सायणः' ।

अस्मत् पाशं विमुमोचत् ) आप वरुण परमात्मा हम से इस पाश को हटा दो जिसके कारण भिन्न भिन्न नीच स्थितियों में हम पड़े हैं ( अदितेः-उपस्थात् ) आप अखण्ड सुखसम्पत्ति मुक्ति के उपस्थ-पीठ-आश्रम-आधार हैं "उपस्थे-उपस्थाने ( निघं० ७ । २६ ) ( अवस्-वन्वानाः ) आपसे रक्षा की याचना करते हुए "वनु याचने" ( तनादि० ) मुक्ति को प्राप्त करें । अतः ( यूयं स्वस्तिभिः सदा नः पात ) तुम अपनी कृपाओं से हमारी पालना करो ॥ ७ ॥

---

## ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त ३०

ऋषिः—वैवस्वतो मनुः ( विवस्वान् समस्त संसार में राजनीति प्रचारक विद्वान् का शिष्य मननशील राजा )

"मनुर्वैवस्वतो राजेत्याह" ( शत० १३ । ४ । ३ । ३ ) तथा समस्त संसार में विशेष वास करने वाले परमात्मा का उपासक मननकर्त्ता

देवता—विश्वेदेवाः ( सब प्रकार के विद्वान् तथा दिव्यप्राण–देव-वृत्तियाँ "प्राणा वै विश्वदेवाः" ( शत० १४।२।२।३७ )

न हि वो अस्त्यर्भको देवासो न कुमारकः ।
विश्वे सतो महान्त इत् ।। १ ।।

आधिभौतिक दृष्टि से—

( विश्वेदेवासः ) हे सब प्रकार के विद्वानों ! ( वः ) तुम्हारे में कोई भी ( अर्भकः ) ज्ञानगुणों से अवृद्ध या अन्य विरोधी से दबाये जाने योग्य "अर्भके अवृद्धे" ( निरु० ४।१५ ) "अर्भक-मवहृतम्" ( निरु० ३।२० ) (न हि–अस्ति) नहीं है (न कुमारकः) और न अल्प शक्ति वाला बालक "अल्पे" ( अष्टा० ५।३।८५ ) ( सतः–महान्तः–इत् ) किन्तु किसी सद्गुणी और सत्ताधरी से भी तुम महान् हो ।

आध्यात्मिक दृष्टि से—

हे सब प्रकार के दिव्य प्राणो ! देववृत्तियो ! तुम्हारे में कोई

भी निर्बल नहीं है। न हीन है किन्तु तुम सब सद्गुणी और शक्तिशाली से ऊँचे हो ॥ १ ॥

इति॑ स्तु॒तासो॑ असथा रिशादसो॒ ये स्थ त्रयश्च त्रि॒शच्च॑
मनो॑र्दे॒वा य॒ज्ञियासः ॥ २ ॥

आधिभौतिक दृष्टि से—

( इति ) इसी हेतु-इसी कारण तुम ( स्तुतासः ) प्रशंसित-प्रशंसनीय ( रिशादसः ) हिंसकों-अज्ञान एवं शत्रुओं के हटाने-भगाने और नष्ट करने वाले ( असथ ) हो ( ये त्रयः-त्रिंशत्-च ) जो तीन और तीस अर्थात् तेंतीस-तीन सभाओं विद्यासभा, धर्मसभा और राजसभा में समानरूप से ग्यारह-ग्यारह अपने अपने अध्यक्ष सहित वर्त्तमान हो ( मनोः-यज्ञियासः-देवासः स्थ ) मनुः-मननशील राजा के सङ्गमनीय विद्वान् हो।

आध्यात्मिक दृष्टि से—

इसी कारण तुम प्रशंसनीय हो विरोधी, अज्ञान और आसुर-भावों के खाने वाले हो, तेंतीस-तीनों कौमार, यौवन और वार्द्धक्य सम्बन्धी मन सहित ग्यारह-ग्यारह दैवी इन्द्रिय वृत्तियाँ मननशील उपासक की सङ्गमनीय हो ॥ २ ॥

ते न॒स्त्राध्वं॒ तेऽवत॒ त उ॑ नो॒ अधि॑ वोचत ।
मा नः॑ प॒थः पित्र्या॑न्मान॒वादधि॑ दू॒रं नैष्ट परा॒वतः॑ ॥३॥

आधिभौतिक दृष्टि से—

(तेन नः-त्राध्वम्) वे तुम सब विद्वानों! विरोधियों से हमारा त्राण करो ( ते-अवतु ) वे तुम अपने रक्षणगुणों से

रक्षा करो ( ते-उ नः-अधिवोचत ) वे तुम अवश्य हमें अधिकाधिक शासनाधिकार को बतलाओ (नः पित्र्यात्-मानवात् पथः-अधिमा दूरं नैष्ट ) हमें पित्र्य-परम्परागत पितृचरित मनु-मननशील सम्पादित मार्ग का मत अतिक्रमण कराओ† मत दूर ले चलो-न दूर ले चलना अपितु ( परावतः-नैष्ट) परवर्ती देवों की ओर ले चलो-ले चलना‡ ।

आध्यात्मिक दृष्टि से—

वे तुम दिव्य प्राणो ! देववृत्तियों ! विरोधी भावनाओं से हमारा त्राण करो-हमारी अपनी स्थिति में रक्षा करो वे तुम अधिकाधिक सुझाव देते रहो । हमें परम्परागत पालक मननशील उपासक के मार्ग का अतिक्रमण कर दूर मत ले चलो अपितु परवर्त्ती ऊंचे परमात्मदर्शी जीवन्मुक्तों की श्रेणी में ले चलो ॥ ३ ॥

ये दे॑वास इ॒ह स्थन॒ विश्वे॑ वैश्वान॒रा उ॒त ।

अ॒स्मभ्यं॒ शर्म॑ स॒प्रथो गवेऽश्वा॑य यच्छत ॥ ४ ॥

आधिभौतिक दृष्टि से—

( ये विश्वेदेवासः ) जो समस्त प्रकार के विद्वान् ( उत ) तथा ( वैश्वानराः ) विश्वराष्ट्र के संचालक मुझ राजा के साथ सम्बन्ध रखने वाले ( इह स्थन ) इस राष्ट्र या इन सभाओं में वर्त्तमान हो ( अस्मभ्यं-गवे-अश्वाय ) हमारे लिये गोवंश के लिये अश्ववंश के लिये ( सप्रथः शर्म यच्छत ) सविस्तार सुख प्रदान करो ।

---

† 'पित्र्यं मानवं पन्थानमतिक्रम्य' ल्यब्लोपे पञ्चम्युपसंख्यानम्

‡ 'अपनयत' ( सायणः ) चिन्त्यम् ।

आध्यात्मिक दृष्टि से—

जो सब प्रकार के दिव्य प्राण—देववृत्तियाँ तथा समस्त शरीर के संचालक उपासक आत्मा से सम्बन्ध तुम इस देह में हो तुम हमारे लिये गौ के लिये—इन्द्रियगण के लिए—घोड़े के लिए—मुख्य प्राण के लिये सविस्तार सुख प्रदान करो ॥ ४ ॥

———

# ऋग्वेद मण्डल ८ सूक्त ४८

ऋषिः—प्रगाथः काण्वः (कण्व-मेधावी का शिष्य "कण्वो मेधावी" [ निघ० ३ । १५ ] प्रकृष्ट गाथा-वाक्-स्तुति, जिसमें है "गाथा वाक्" [ निघ० १ । ११ ] ऐसा भद्र जन )

देवता—सोमः ( आनन्द धारा में प्राप्त परमात्मा "सोमः पवते जनिता मतीनां जनिता दिवो जनिता पृथिव्याः। जनिताग्ने-र्जनिता सूर्यस्य जनितेन्द्रस्य जनितोत विष्णोः" ( ऋ० ६ । ६६ । ५ ) तथा पीने योग्य ओषधि "सोमं मन्यते पपिवान् यत् सम्पिषन्त्योषधिम् ।" ( ऋ० १०।८५।३ )

स्वादोरभक्षि वयसः सुमेधा स्वाध्यो वरिवोवित्तरस्य ।
विश्वे यं देवा उत मर्त्यासो मधुब्रुवन्तो अभि सञ्चरन्ति ॥१॥

( सुमेधा ) मैं शोभनबुद्धि वाला अधिकारी जन ( स्वादोः ) समन्तरूप से स्वाद देने योग्य-आनन्दमय स्वाद देने वाले ( स्वाध्यः ) सु-आधी-भली-भाँति अन्दर आधान करने योग्य (वरिवोवित्तरस्य) अतिशय से परिचर्या-पूजा सत्कार प्राप्त करने योग्य या सेवित करने योग्य ( वयसः ) सोम-परमात्मरूप और ओषधिरूप अन्न का "वयः-अन्ननाम" ( निघ० २।७ ) (अभक्षि) अदन करूं-खाऊं-पान करूं ( विश्वे देवाः ) सब विद्वान् ऋषि मुनि ( उत ) और ( मर्त्यासः ) मनुष्य ( यं मधु ब्रवन्तः-अभि-सञ्चरन्ति ) जिसको मधुर कहते हुए उसके प्रति प्रवृत्त होते हैं ॥ १ ॥

अन्तश्च प्रागा अदितिर्भवास्यवयाता हरसो दैव्यस्य ।
इन्दविन्द्रस्य सख्यं जुषाणः श्रौष्टीव धुरमनु राय ऋध्याः ॥२॥

( इन्दो ) हे सोम ! तू ( अन्तः–च प्र– अगाः ) उपासित किया हुआ या पान किया हुआ अन्तरात्मा में अन्दर हृदय तक पहुंच जाता है ( अदितिः–भवासि ) फिर अन्तरात्मा में या हृदय में जाकर अखण्ड सुखसम्पति हो जाता है–बन जाता है (दैव्यस्य हरः–अवयाता ) देव–मन और इन्द्रियों के क्रोध अर्थात् वासना और भोगप्रवृत्ति तथा अग्नि आदि देवों के क्रोध अर्थात् ताप सन्ताप का "हरः– क्रोधनाम" ( निघ० २ । १३ ) ( अवयाता ) निम्न करने वाला है ( इन्द्रस्य सख्यं जुषाणः ) आत्मा के मित्रत्व को चाहता हुआ "जुषते कान्तिकर्मा" ( निघ० २ । ६ ) ( राये ) ऐश्वर्य के लिये ( श्रौष्टी–इव धुरम्–अनु–ऋध्याः ) श्रुष्टी–शीघ्रगति सम्पन्न घोडा जैसे धुरा को "श्रुष्टीति क्षिप्रनाम" ( निरु० ६ । १३ ) अनुवर्द्धित करता–आगे बढाता है ऐसे यानकर्त्ता को आगे बाढाता है ॥ २ ॥

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान् ।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य ॥३॥

( सोमम्–अपाम ) सोम–आनन्दधारामय परमात्मा का उपासना द्वारा पान करें या सोम ओषधि का पीसकर पान करें तो हम अमृत–अमर हो जावें । पुनः ( ज्योतिः–आगन्म ) ज्योति को प्राप्त हों और ( देवान्–अविदाम ) दिव्य धर्मों गुणों को उपलब्ध कर सकें जीवन्मुक्त गुणों–ज्ञानप्रकाशों को प्राप्त कर सकें "विदॢ लाभे" ( रुधादि० ) "ततो विकरणव्यत्ययेन शप्" को तब ( अरातिः–अस्मान् किं नूनं कृणवत् ) राति–दानक्रिया,

न दानक्रिया अपितु उसके विरुद्ध अपहरणक्रिया—अराति—शुष्कता तृष्णा हमें—हमारे प्रति क्या फिर कर सकती है—कुछ नहीं, सोम परमात्मानन्द का पान करने से तृष्णा—वासना की समाप्ति हो जाने से और सोम ओषधि-रस—पान से तृष्णा—प्यास की समाप्ति हो जाने से ( अमर्त्य धूर्त्तिः—मर्त्यस्य किम्—उ ) हे अमर परमात्मन् ! धूर्ति हिंष्टि का—वज्रभूता—जडता क्या कर सके जबकि ज्योति परमात्मज्योति की शरण से अज्ञता की समाप्ति हो जाती है जैसे अग्निज्जोति की शरण से जडता—शारीरिक जडता की समाप्ति हो जाती है ॥ ३ ॥

शं नो॑ भव हृ॒द आ पी॒त इ॑न्दो पि॒तेव॑ सोम सू॒नवे॑ सु॒शेवः॑ ।
सखे॑व॒ सख्य॑ उरुशंस॒ धीरः॒ प्र ण॒ आयु॑र्जी॒वसे॑ सोम तारीः ॥४॥

( इन्दो ) हे सोम—परमात्मन् या ओषधि ! तू ( आपीतः ) भली भाँति पीया हुआ ( नः—हृदे शं भव ) हमारे हृदय के लिये कल्याण रूप हो जा ( सोम सूनवे पिता—इव सुशेवः ) हे सोम ! तू पुत्र के लिए जैसे पिता अच्छा सुखकर होता है ऐसा हो जा "शेवं सुखम्" ( निघ० ३ । ६ ) ( उरुशंस सोम ) हे बहुत प्रशंसनीय सोम—परमात्मन् या ओषधि ! तू ( सखा—इव सख्ये ) सखा मित्र के लिये अच्छा सुखकर होता है ऐसे अच्छा सुख कर हो ( धीरः—जीवसे नः—आयुः—प्रतारीः ) तू धीर बुद्धि देने वाला जीने को हमारे आयु को प्रवृद्ध कर चढा ॥ ४ ॥

इ॒मे मा॑ पी॒ता य॒शस॑ उरु॒ष्यवो॒ रथं॒ न गावः॒ सम॑नाह॒ पर्व॑सु ।
ते मा॑ रक्षन्तु वि॒स्रस॑श्च॒रित्रा॑दु॒त मा॒ स्रामा॑द्यवय॒न्त्विन्द॑वः ॥५॥

( इमे यशसः पीताः ) ये यशस्कर पीए हुए सोम—परमात्मा

के अध्यात्मरस या सोम-ओषधिरस ( उरुष्यवः ) रक्षा करने वाले हैं "उरुष्यती रक्षाकर्मा" (निरु० ५।२३) तथा (रथं न गावः पर्वसु समनाह) जैसे गोचर्मतन्तु आदि रथ को जोडों में सम्यक् बान्ध देते हैं ऐसे मुझे संसक्त हो जाते हो-जाते हैं ( ते-इन्दवः -विस्रसः-चरित्रात्-मा रक्षन्तु ) वे सोमधाराएं शिथिल चरित्र से मेरी रक्षा करें ( उत ) और ( स्रामात्-यवयन्तु ) सद्भाव स्रावक मानस दोष से या रक्तस्राव रोग से पृथक् करें ॥ ५ ॥

अग्निं न मा मथितं सं दिदीपः प्र चक्षय कृणुहि वस्यसो नः ।
अथा हि ते मद आ सोम मन्ये रेवाँ इव प्र चरा पुष्टिमच्छ ॥६॥

( सोम ) हे सोम ! तू ( मथितम्-अग्निं न ) मथित अग्नि की भाँति ( मा-संदिदीप ) सम्यक् सन्दीप्त कर अतः ( प्र चक्षय ) मुझे सुख का दर्शन करा ( नः-वस्यसः कृणुहि ) हमें अतिशय से उत्तम धन वाले बना ( अथ हि ) अनन्तर ही ( ते मद-आ मन्ये) तेरे हर्ष में मैं तेरी स्तुति करता हूँ "मन्यते अर्चतिकर्मा" ( निघ० २ । ६ ) ( रेवान्-इव पुष्टिम्-अच्छ प्रचर ) तू धनवान् साक्षात् हो पुष्टियों के-पोषण के अर्थ मुझे प्राप्त रहे ॥ ६ ॥

इषिरेण ते मनसा सुतस्य भक्षीमहि पित्र्यस्येव रायः ।
सोम राजन् प्र ण आयूंषि तारीरहानीव सूर्यो वासराणि ॥७॥

( राजन् सोम ) हे सर्वत्र राजमान परमात्मन् ! या गुणों से सम्पन्न ओषधि सोम ! ( इषिरेण मनसा ) तेरे अन्दर गमनशील तुझे चाहते हुए-तुझे देखने के साधन मनसे† ( सुतस्य ) उपासित या निष्पादित (पित्र्यस्य रायः-इव) पैतृक धन जैसे (ते)

† 'इषिरेण ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा" ( निरु० ४।७ )

जाती हैं ( निरत्रसन्-अभैषुः ) तथा त्रास को प्राप्त हो जाती हैं और भय कर जाती हैं ( सोमः-अस्मान्-विहायाः-आरुहत् ) सोम हमें रोगों से ऊपर नीरोगता के आकाश में चढा देता है ( अगन्म ) हम पहुँच जाते हैं ( यत्र-आयुः प्रतिरन्ते ) जहां आयु को प्रवृद्ध करते हैं ॥ ११ ॥

यो न इन्दुः पितरो हृत्सु पीतोऽमर्त्यो मर्त्यां आ विवेश ।
तस्मै सोमाय हविषा विधेम मृळीके अस्य सुमतौ स्याम ॥१२॥

(पितरः) हे पालक प्राणो ! "प्राणो वै पिता" (निरु० २।३८) (यः-इन्द्रः-अमर्त्यः-हृत्सु पीतः) जो अमृत सोम हृदयों में पीया हुआ धारा हुआ ( नः-अमर्त्यान्-आविवेश ) हम मनुष्यों में आविष्ट हो गया है-हो जाता है ( तस्मै सोमाय ) उस सोम के लिये ( हविषा विधेम ) हावभाव उत्साह प्रदर्शित करें ( अस्य मृळीके सुमतौ स्याम ) इसके इससे प्राप्त सुख में और इससे प्राप्त अच्छी मति में हम रहें ॥ १२ ॥

त्वं सोम पितृभिः संविदानोऽनु द्यावापृथिवी आ ततन्थ ।
तस्मै त इन्दो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥१३।

( सोम ) हे सोम ! ( त्वं पितृभिः संविदानः ) तू प्राणों के साथ संयुक्त हुआ सात्म्य को प्राप्त हुआ ( द्यावापृथिवी-आततन्थ ) मेरे ऊपर नीचे के प्रतिष्ठानों को "प्रतिष्ठे वै द्यावा-पृथिवी" ( कौ० ३।८ ) विकसित करता है ( इन्दो तस्मै ते हविषा विधेम ) हे सोम उस तेरे लिए-तेरे सेवनार्थ हाव-भाव उत्साह प्रदर्शित करते हैं ( वयं रयीणां पतयः स्याम) तेरे पान से हम विविध ऐश्वर्यगुणों के स्वामी होवें ॥ १३ ॥

त्रातारो देवा अधिवोचता नो मा नो निद्रा ईशत मोत जल्पिः ।
वयं सोमस्य विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथ मावदेम ॥१४॥

( त्रातारः-देवाः-नः-अधिवोचत ) हे रक्षक विद्वानों ! हमें सोमपान का आदेश उपदेश करो जिससे ( नः-निद्रा मा-ईशत-उत-मा जल्पिः ) हम पर निद्रा अधिकार न करे-सावधान रहें और न जल्पना-अन्यथा उक्ति उन्माद की भाँति अधिकार करे अतः (वयं विश्वह सोमस्य प्रियासः) हम सोम के प्रिय सोम को अनुकूल सेवन करने वाले ( सुवीरासः ) अच्छे प्राणवाले "प्राणा वै दश वीरा" ( शत० १२।८।१।२२ ) होकर ( विदथम्-आ वदेम ) ज्ञान का भलि भाँति प्रतिपादन करें ॥ १४ ॥

त्वं नः सोम विश्वतो वयोधास्त्वं स्वर्विदा विशा नृचक्षाः ।
त्वं न इन्दो ऊतिभिः सजोषाः पाहि पश्चातादुत वा पुरस्तात्
॥ १५ ॥

( सोम ) हे सोम ( त्वं नः-विश्वतः-वयोधाः ) तू सब ओर से-सब प्रकार से-सब अङ्गों में आस्था-स्थिति शक्ति आयु का धारण कराने वाला है ( त्वं स्वर्वित् ) तू सुख का अनुभव या प्राप्त कराने वाला ( नृचक्षाः ) मनुष्यों को ज्ञानशक्ति देनेवाला है ( आविश ) मेरे अन्दर आविष्ट हो ( इन्दो ) हे सोम ! ( त्वं सजोषः ) तू सेवन के साथ ही ( ऊतिभिः ) रक्षणधाराओं के द्वारा ( पश्चातात्-पुरस्तात् वा ) पश्चिम से और पूर्व से सूर्य के उदय से लेकर-अस्त होने तक अस्त होने से उदय होने तक अर्थात् दिनरात ( नः पाहि ) हमारी रक्षा कर ॥ १५ ॥

इति

# विशिष्ट अशुद्धि शोधक पत्र

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ. | पं. |
|---|---|---|---|
| श्रति | श्रुति | [प्रस्तावना] (क) | २१ |
| सामाजिक, | समाजिक जीवन | (घ) | २० |
| घडा | मनसे घडा | (च) | ३ |
| नामन्ये | नां तान्ये | (ञ) | २० |
| मुं मुनिः | मुंनिः | (ड) | २६ |
| की | को | (ड) | ४ |
| मुं मुनिः | मुंनिः | (ड) | २६ |
| करा | कर पड़े थे | (त) | १ |
| उत् | उत | ६ | १ |
| ह्म | ब्रह्म | १२ | ७ |
| ब्रह्मणा | ब्रह्मणा | १२ | १४ |
| करना | करता | १२ | १६ |
| क | के | १४ | १४ |
| देवनाः | देवता | १६ | ३ |
| प्रगट | प्रकट | २५ | ५ |
| अवर | अवरे | २५ | १८ |
| परिणित | परिणत | २७ | १२ |
| रश्मियां हैं, | रश्मियां दिशाएं हैं | २० | १२ |
| पितृणां | पितृणा | ३६ | २४ |
| वचन | मन्त्र | ४१ | २४ |
| ज्योति वि. | ज्योति त्रि. | ४७ | ३ |
| मरुत् | मरुत | ४६ | ७ |
| पिपति | पिपर्ति | ५१ | २१ |
| सकम् | साकम् | ५३ | ६ |
| तापवान | तापवान् | ५५ | ८ |
| मांगना | मांगता | ५७ | १२ |
| अतिष्ठति | आतिष्ठति | ५६ | १५ |
| सुख अरण, | सु अरण | ६३ | ७ |
| धह्यन्नं | धेह्यन्नं | ६६ | ५ |
| चिन्ता कुतं | चित्ताकूतं | ७२ | १५ |
| पोक्ता | प्रयोक्ता | ७४ | २० |
| प्रयुक्ता | प्रयोक्ता | ७५ | १८ |
| अग्रहीतं | आगृहीतं | ७७ | २३ |
| उदुवैपम् | उदुवेपय | ८० | ११ |
| प्रोक्ता | प्रयोक्ता | ८१ | १ |
| जिह्वाः | जिह्वाः | ८१ | ८ |
| तडित | ताडित | ८१ | १५ |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ० | पं० | अशुद्ध | शुद्ध | पृ. | पं. |
|---|---|---|---|---|---|---|---|
| जन्यमान | जायमान | ८६ | १२ | बीजरुप | बीजरूप | १२६ | १ |
| झिरता | झिराता | ९१ | १२ | मतिकर्मा | गतिकर्मा | १२६ | १ |
| त चढा | न चढा | ९३ | ५ | बढाता | बढता | १२८ | १ |
| छुवानो | छुवानो | ९५ | १८ | ऋृषियों | ऋषियों | १३२ | १ |
| शेताम | शेताम् | ९६ | १७ | एव-न | न | १४१ | २ |
| ओर | ओर | ९७ | ११ | यशोभाकः | यशोभाक् | १४१ | २ |
| के | की | ९७ | १६ | प्रजानों | प्रज्ञानों | १५० | २ |
| रग्नी | रग्नि | १०१ | ७ | अमीष्ठ | अभीष्ट | १५२ | |
| वैश्वारनम् | वैश्वानरम् | १०१ | ११ | कचा | कया | १५२ | |
| जिस भूमि | भूमि | १०१ | २३ | कनिकद | कनिक्रद | १५३ | |
| त | तं | १०५ | १२ | मन्त्र | यन्त्र | १५४ | |
| पथुः | एजथुः | १०७ | १ | कष्टका | कराटका | १५४ | १ |
| हव्य | हव्य | १०७ | २० | समुचति | समुचित | १५६ | १ |
| षरुषों | पुरुषों | ११७ | २ | र्चिव | र्चिषे | १५७ | १ |
| मचन | वचन | ११० | २५ | सूत्र | सूक्त | १७३ | |
| त्योनाः | स्योनाः | ११२ | २२ | प्रातह्वो | हे अग्नि प्रातह्वो | १७६ | १ |
| पृथिवी | पृथिवि | ११९ | १ | | | | |
| तिन | तिनके | ११९ | १० | विभ्रद् | बिभ्रद् | १८७ | |
| उपवान् | उपयाम् | १२१ | २० | विभ्रत् | बिभ्रन् | १८७ | |
| देरुक्ता | दैवैरुक्ता | १२३ | १ | अग्य | अन्य | १८८ | १ |
| अमाय | अभाव | १२४ | १ | सेवक | सेवन | १८९ | १ |
| मधुमत् | मधुमत् | १२४ | १५ | मं | इमं | १८९ | १ |
| हन्मि | अवहन्मि | १२४ | १९ | न्यकार | न्धकार | १८९ | २ |
| अभन्मा | अभवन्मा | १२५ | ६ | सुभ्रा | शुभ्रा | १९२ | |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ. | पं. |
|---|---|---|---|
| उपा | उषा | १९२ | २० |
| ढेवत्वं | देवत्वं | १९३ | १५ |
| सूर्ये | सूर्यः | १९५ | १२ |
| धर्मी | धर्मी अग्नि | १९५ | १८ |
| विष्णुः | विष्णोः | १९९ | १ |
| कस्मान्न | यस्मान्न | २०८ | १६ |
| किया | किये | २१० | २ |
| की | के | २१० | ४ |
| तरङ्ग | रङ्ग | २१० | २० |
| घावा | द्यावा | २११ | ८ |
| ओषधीषु | ओषधीषु | २१४ | १५ |
| करके | कर | २१७ | २० |
| ह ुए | हुए | २२४ | १० |
| भिक्षु | भिक्षु | २२४ | १० |
| सचमाना | सचमानाय | २२५ | ८ |
| रानिग्म् | रग्निम् | २३२ | ९ |
| जगद्रूप | जगद्रूप | २३६ | ११ |
| राट्री | राष्ट्री | २३६ | ११ |
| पुरो | परो | २३८ | १३ |
| रचीयता | रचयिता | २३९ | ३ |
| वे | वेद | २४३ | ८ |
| सक्ता | सत्ता | २४४ | ७ |
| प्रात काल | प्रातः काल | २४६ | २० |
| वंहते | मंहते | २५१ | १६ |
| धारणा | धारण | २५१ | १ |
| विद्वा | विद्वान् | २५३ | २२ |
| महतां | मरुतां | २६३ | २ |
| -मनि | -मग्निं | २६३ | २१ |
| उत्पादन | उत्पादक | २७० | ७ |
| अहः | अह्नः | २७० | १३ |
| निधायक | विधायक | २७४ | १० |
| पापी | पापी शत्रु | २७४ | २२ |
| धियसाध | धियः साध | २७५ | २३ |
| हुदया | हृदया | २७६ | १८ |
| वृताण्य | वृत्राण्य | २८३ | १८ |
| मित्राणि | वृत्राणि | २८३ | २२ |
| शरीन् | शरीर से | २८५ | १२ |
| ( वित्तस्तम्भ ) | ( वि-तस्तम्भ ) | २८६ | १ |
| क्कि | क्कि | २८६ | १७ |
| सुखपूर्वक | सुखस्वरूप | २८७ | १ |
| दिदृक्षुवो | दिदृक्षुपो | २८७ | ३ |
| करुण | वरुण | २८७ | १४ |
| स्वभावः | स्वधावः | २८७ | १९ |
| मन्यु त्रि- | मन्यु वि- | २८८ | १५ |
| सात | सात में | २८८ | ५ |
| अपने | अपने को | २८९ | १२ |
| २८९ पर | फुटनोट अन्यथा छपा | २८८ | का |

| अशुद्ध | शुद्ध | पृ. | पं. | अशुद्ध | शुद्ध | पृ. |
|---|---|---|---|---|---|---|
| स्तन | स्तवन | २६० | १ | अवतु | अवत | २६७ |
| शुन्धुं | शुन्धुवं | २६१ | ८ | थिक | धिक | १६८ |
| सहस्त्रं | सहस्रं | २६१ | १२ | सञ्चरसि | सञ्चरन्ति | ३०० |
| अधियाः | अधिपाः | २६२ | ४ | आगन्म | अगन्म | ३०१ |
| अह्लां | अह्नां | २६२ | २३ | हिंष्टिका | हिंसिका | ३०२ |
| सुवेम | भुजेम | २६४ | २ | भज | भजे | ३०४ |
| आश्रम | आश्रय | २६५ | ४ | तस्य | | ३०४ |

———

( ३१२ सम ३३२ )

# धन्यवाद प्रदर्शन

यद्यपि इस "वेदाध्ययन प्रवेशिका" पुस्तक पर मेरे निजी व्यय तथा यात्रा खर्च के अतिरिक्त छपाई कागज पक्की सवस्त्र जिल्द और प्रेस कापी बनवाने में अढाई सहस्र रुपए से ऊपर लगे हैं, शीघ्र छपवाने के कारण अन्यों से आर्थिक सहायता बहुत प्राप्त नहीं हुई है तथापि जिन महानुभावों से कुछ सहायता प्राप्त हुई है उनका हम हार्दिक धन्यवाद प्रदर्शित करते हैं—

श्री० चौधरी प्रतापसिंहजी करनाल ने अपने सुपुत्र कश्मीरीलाल की स्मृति में ५००) सहायता दी कुछ प्रतियां स्वयं वितरण करने को लेने तथा कुछ परिमित संख्या में पुस्तकें मेरे द्वारा अर्ध मूल्य में महाविद्यालय ज्वालापुर और गुरुकुल कांगडी के विद्यार्थियों को देने के लिये।

श्री० लाला मेलारामजी, न्यू देहली (प्रेस कापी के लिये) १००)
श्रीमती प्रकाशवतीजी दीवानचन्दजी, न्यू देहली ,, १००)
श्री० भगवानदासजी ग्लास फैक्टरी, जवाहरनगर, दिल्ली १०१)
श्री० सेठ मिट्ठनलालजी अ ये २४/५ शक्तिनगर, दिल्ली १००)
श्री० सालिगरामजी, फिलिपगंज आगरा १००)
श्रीमती रमेश पुत्री विद्यावती चोपडा, नई देहली १०१)